CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन

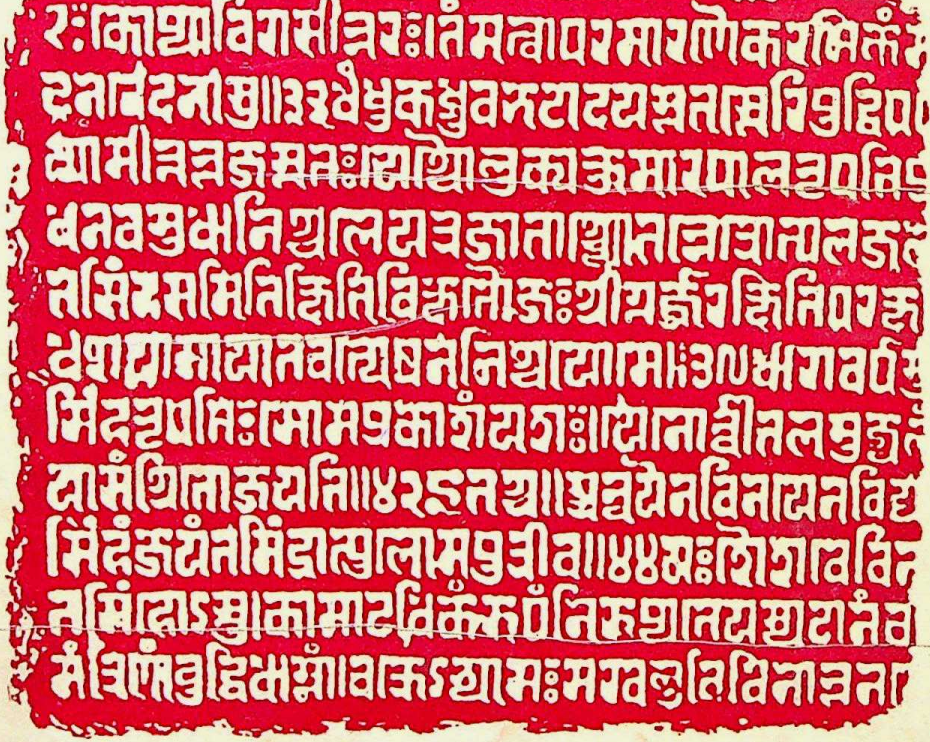

डा० श्यामप्रसाद व्यास

6442

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन

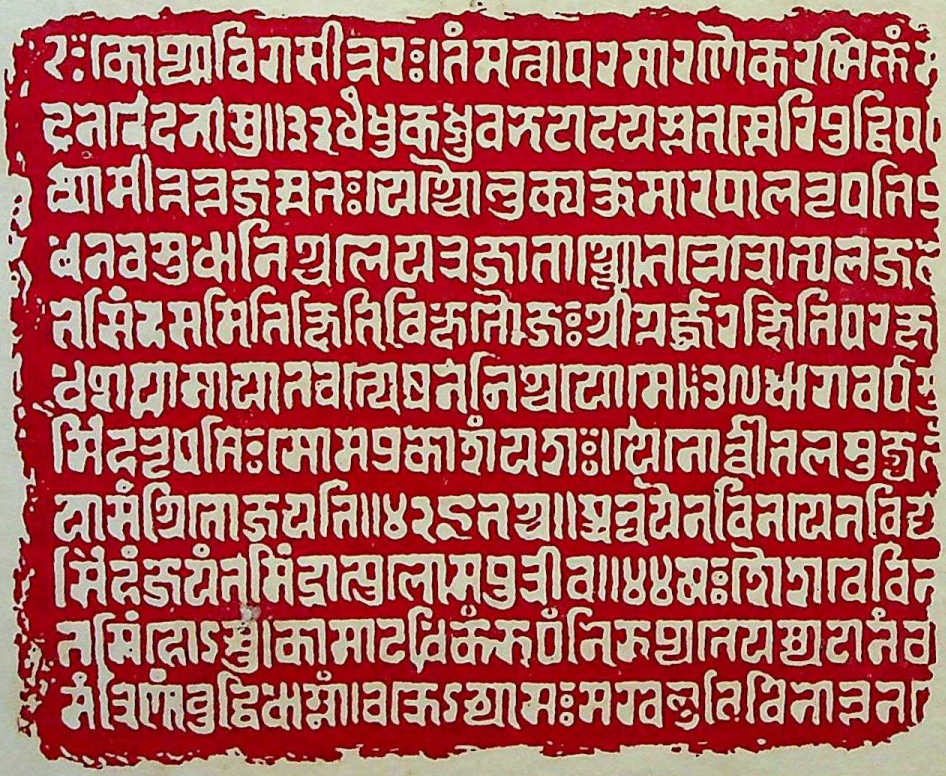

डा० श्यामप्रसाद व्यास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन

(700 ई.—1200 ई.)

डॉ. श्याम प्रसाद व्यास

राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक :
राजस्थानी ग्रन्थागार
सोजती गेट के बाहर, जोधपुर

प्रथम संस्करण : 27 अगस्त, 1986.

मूल्य 95.00 (पिचानवे रु. मात्र)

© डॉ. श्याम प्रसाद व्यास

मुद्रक :
एम. एल. प्रिन्टर्स, जोधपुर

RAJASTHAN KE ABHILEKHON KA SANSKRITIK ADHYAYAN (700 AD to 1200 AD)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आमुख

राजस्थान भारत के उन प्रदेशों में से एक है जिनके इतिहास का अध्ययन करने के लिए मूल स्रोत प्रचुरता से मिलते हैं। परन्तु राजस्थान पर यह बात केवल इसके मध्यकालीन एवं अर्वाचीन युगों पर लागू होती है। जहां तक इस प्रदेश के प्राचीन इतिहास का सम्बन्ध है इसके विषय में केन्द्रीय और स्थानीय अभिलेखागारों में उपलब्ध सामग्री हमारी सहायता नहीं कर पाती। इसके लिए प्राचीन साहित्य और अभिलेखों पर निर्भरता इतिहास शोधकों के लिए अनिवार्यता और विवशता है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इन स्रोतों का अध्ययन और विवेचन अभी तक प्रायः राजनीतिक और वंशीय इतिहास की शोध के लिए ही करते आए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ प्राचीन राजस्थानी अभिलेखों की सहायता से इस प्रदेश के सांस्कृतिक जीवन को स्पष्ट करने का सम्भवतः प्रथम प्रयास है। यह ग्रन्थ इस दृष्टि से तो श्लाध्य और स्वागतार्थ है ही, अपनी उत्कृष्टता की दृष्टि से भी यह स्तुत्य है। इसके लेखक ने इसको मूलतः अपने शोध-प्रबन्ध के रूप में रचा था। उनके परिवीक्षक के नाते मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ कि इसको उन्होंने कितने श्रम के साथ तैयार किया है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन मेरे लिए व्यक्तिगत रूप से बड़े सन्तोष का विषय है। बहुत वर्षों से यह मेरी हार्दिक इच्छा थी कि कोई अच्छा शोधक इस विषय पर कार्य करे। डॉ. श्याम प्रसाद व्यास ने न केवल मेरी इस इच्छा को पूरा किया वरन् अब वह इस ग्रन्थ को प्रकाशित करवा कर हिन्दी भाषा के इतिहास-लेखन को भी समृद्ध कर रहे हैं तथा इस क्षेत्र में शोधकों की भावी पीढ़ियों को भी सहायता दे रहे हैं। इसके लिए वह प्रशंसा के पात्र हैं।

श्रीराम गोयल
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
इतिहास विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूमिका

मध्यकाल में राजस्थान ने भारतीय इतिहास में गौरव का एक नया अध्याय जोड़ा। अदम्य साहस, अद्भुत शौर्य और स्तुत्य त्याग के जो कीर्तिमान इस क्षेत्र के लोगों ने बनाये, उनसे तुलनीय उदाहरण अन्यत्र भी विरल हैं। स्वतंत्रता के लिये प्राणपण से प्रयत्नशील भारतीयों के लिए वे आदर्श और प्रेरणा के स्रोत बने।

मध्यकालीन राजस्थान की गौरव-परंपरा को अतिशय महत्व देना इतिहास की संरचना के लिये उपयुक्त नहीं था और सही अर्थों में सहायक सिद्ध नहीं हुआ। विविध कालों का अपना सापेक्षिक महत्व है और इस प्रकार का असंतुलित पक्षपात अन्य कालों के इतिहास-लेखन के मार्ग में बाधक बना। आधुनिक काल में राजस्थान के इतिहास-लेखन के प्रारंभिक चरणों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट है। मध्यकालीन राजवंशों की कीर्ति-गाथा को ही आगे की शताब्दियों में भी प्रसारित किया गया। टॉड, श्यामलदास और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा से लेकर रामकरण आसोपा, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, जगदीशसिंह गहलोत आदि इतिहासकारों ने राजस्थान के राजवंशों के माध्यम से ही इतिहास की प्रस्तुति का प्रयास किया। इन श्लाघनीय ग्रंथों में इतिहास राजनीतिक इतिहास तक ही सीमित था, वह राजवंशों के अन्तःकलह, दरबार के षडयंत्रों और विभिन्न राज्यों के बीच युद्ध की घटनाओं और राजाओं और राजकुमारों के द्वारा अपनी महत्वाकांक्षों की पूर्ति के लिये किये गये उचित और अनुचित कार्यों के विवरण के पर्याय के रूप में सिमटा हुआ था। इनमें शताब्दियों के प्रवाह में आये अगणित मानव और उनके विशाल समाज की उपस्थिति का कोई भी आभास नहीं होता। समाज में स्थित मानव ही इतिहास का केन्द्र बिन्दु है। संस्कृति और सभ्यता अपने विविध आयामों में उसी की कृतियां हैं।

पिछले चार दशकों में पुरातात्विक गतिविधियों के विस्तार के फलस्वरूप राजस्थान के इतिहास के प्राचीन काल को महत्व मिला है। राजस्थान में सैंधव सभ्यता के अवशेषों ने उसके प्रसार और स्वरूप के विषय में नये तथ्य प्रदान किये। सैंधव सभ्यता के अतिरिक्त भी समैतिहासिक काल में राजस्थान की सांस्कृतिक समृद्धि के पर्याप्त प्रमाण मिले हैं। राजस्थान से होकर बहने वाली सरस्वती नदी के किनारों पर ही ऋग्वैदिक काल में सभ्यता विशेष रूप से पल्लवित हुई। इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि प्राचीन काल में राजस्थान की भौगोलिक विशेषतायें उसकी वर्तमान स्थितियों से कुछ भिन्न थीं।

प्राचीन काल में राजस्थान में अनेक वीर जनजातियों का निवास बना। कदाचित कई गणराज्यों ने साम्राज्यवादी लिप्सा से अपनी रक्षा के लिये राजस्थान को उपयुक्त आश्रय स्थान के रूप में स्वीकार किया। किन्तु

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

राजस्थान के मंच पर मुगल-प्रतिहारों के अवतरित होने से पूर्व अनेक शताब्दियों तक राजस्थान के इतिहास के कुछ बिखरे तथ्य ही उपलब्ध होते हैं, जिन्हें क्रमबद्ध रूप देना सरल नहीं है।

राजस्थान के इतिहास में पूर्व मध्यकाल का अपना स्थान विशिष्ट है। यह मध्यकाल की गौरवपूर्ण उपलब्धियों की पूर्वपीठिका है; मध्यकाल के समाज के स्वरूप में और साधारण जन की मानसिकता को समझने के लिये आवश्यक आधार है। व्यक्ति और समाज को उनके गुण और दोषों की समग्रता के साथ पहचानने के लिये पूर्व मध्यकाल में उनके स्वरूप के स्फुरण की प्रक्रिया को देखना सहायक होगा। मध्यकाल में प्रतिबद्धता, समर्पण की भावना, शूरता, वीरता आदि अनेक गुणों के होते हुये भी अनेक अवसरों पर असफल होने के उदाहरण राजनीतिक तंत्र, समाज और व्यक्ति के कुछ मूल-भूत दोषों की ओर संकेत करते हैं। राजस्थान की भौगोलिक परिस्थितियों, समाज में अनेक जातियों की उपस्थिति, विशिष्ट धार्मिक विश्वास और कृत्य और सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तंत्र के स्वरूप ने इनके निर्माण में प्रमुख भूमिका अदा की। राजस्थान के मध्यकाल के लिये ही नहीं संपूर्ण भारत, विशेष रूप से उत्तरी भारत और दक्षिणापथ में सामन्तवादी व्यवस्था को समझने के लिये पूर्वमध्यकालीन राजस्थान का साक्षात्कार आवश्यक है। राजस्थान में सामन्तवादी व्यवस्था की गहराई और विस्तार दोनों ही उल्लेख-नीय हैं। अन्य क्षेत्रों की तुलना में यहां सामन्तवादी व्यवस्था का जीवन अधिक दीर्घकालीन रहा है।

राजस्थान के साहित्य में इस व्यवस्था और उससे सम्बन्धित मानसिकता के दर्शन होते हैं। यद्यपि यह अनुमान किया जा सकता है कि ये ग्रंथ पूर्व मध्यकाल के लिये भी ग्राह्य विवरण प्रस्तुत करते हैं, किन्तु ऐतिहासिक शोध की मान्यतायें इसमें बाधा उपस्थित करती हैं। रासो साहित्य का अत्यल्प भाग ही अपने वर्तमान रूप में पूर्व मध्यकाल की कृति माना जा सकता है। प्रबंध ग्रंथों में भी विविधकालों की सामग्री का समावेश है। इस काल के संस्कृत साहित्य का अधिकांश दरबारी वातावरण और काव्य-रचना की रूढिगत मान्यताओं के कृत्रिम आवरण से मुक्त होकर जनजीवन के यथार्थ को परिलक्षित करने में कितना सक्षम है, यह विचारणीय होगा।

ऐसे में अभिलेखीय सामग्री की उपयोगिता और महत्व के विषय में अधिक तर्क देने की आवश्यकता नहीं है। अभिलेखों के रचना-काल का प्रायः सुनि-श्चित होना और शंका और विवाद की संभावना का सीमित होना; उनका पाठ-गत अनिश्चय से प्रायः मुक्त होना और वर्णित तथ्यों के समकालीन होना अभिलेखीय साक्ष्य की उपयोगिता के पक्ष में प्रमुख तर्क है। प्रशस्ति अंशों में अतिरंजन की संभावना के अतिरिक्त अभिलेखों में प्रस्तुति प्रायः वस्तु-परक ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
होती है। भाषा और शब्दावली में भी ये अपने समकाल के अधिक निकट हैं। समाज के अनेक महत्वपूर्ण पक्षों, जीवन और व्यवस्था के यथार्थ, पर वे ऐसी सामग्री समेटे बैठे हैं जैसी परंपरा से ग्रसित ग्रंथों में मिलना सहज नहीं है।

अपने पूर्व मध्यकालीन अभिलेखीय भंडार की दृष्टि से राजस्थान समृद्ध है। प्रस्तुत ग्रंथ के विद्वान लेखक ने परिश्रम के साथ इस उपयोगी सामग्री का विधिवत विश्लेषण करके प्रशासन, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन और सामन्तवाद पर बहुमूल्य तथ्यों का संकलन किया है। समकालीय साहित्य और अन्य क्षेत्रों के अभिलेखों से तुलनात्मक विवेचन करके अपने तथ्यों की उन्होंने युक्ति संगत व्याख्या प्रस्तुत की है। लेखक का यह प्रयास सराहनीय है। राजस्थान के प्राचीन काल के इतिहास के विद्यार्थी ही नहीं मध्यकाल के शोधकर्ता भी इस प्रबंध को अपने लिये सहायक पथ-निर्देश पायेंगे। पूर्व मध्य-कालीन भारत के इतिहास के सही आकलन के लिये तो इस ग्रंथ का स्पष्ट ही नये तथ्यों और नई व्याख्याओं के कारण शोधकर्ताओं द्वारा स्वागत होगा।

इतिहास के माध्यम से सही तथ्यों की प्रस्तुति के लिए प्रयासरत विद्वानों और शोधकर्ताओं को इस ग्रंथ से परिचित करने में मुझे हर्षानुभूति हो रही है।

लल्लनजी गोपाल
प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष इतिहास विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राक्कथन

राजस्थान भारतवर्ष के उन प्रदेशों में से है जिनकी इतिहास लेखन की अपनी सुदीर्घ श्लाघ्य परम्परा रही है। ख्यात, विगत, रासो तथा अन्यान्य अनेक साहित्यिक विधाओं का अवलम्बन करके राजस्थान के लेखकों ने इस प्रदेश के गौरवमय इतिहास को भावी पीढ़ियों के लिये सुरक्षित किया। लेकिन ये सभी ग्रथ विशेषतः मध्यकालीन इतिहास के लिये ही सहायक होते हैं। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पूर्व व्यतीत होने वाली पांच शताब्दियों के इतिहास के लिए हमें अब भी प्रधानतः आभिलेखिक सामग्री पर ही निर्भर रहना पड़ता है, साहित्यिक सामग्री अथवा मौद्रिक साक्ष्य हमारी बहुत कम सहायता कर पाते हैं। परन्तु इस युग के (अर्थात् हर्ष के समय से चाहमानों के पतन तक) अभिलेखों का अध्ययन करते समय अधिकांश इतिहासकरों की दृष्टि अभाग्यवश राजनीतिक एवं राजवंशीय इतिहास विषयक सामग्री के दोहन पर केन्द्रित रही है, सांस्कृतिक इतिहास के लिए उनका महत्व आंकने की ओर कम। यों तो प्रतिहारों, चाहमानों, परमारों और अन्य राजवंशों के ऊपर अनेक स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गए हैं, लेकिन इनमें से किसी के लेखक ने भी प्रधानतः अभिलेखों की सहायता से सांस्कृतिक अवस्था का निरूपण नहीं किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में प्राच्य विद्या की इस कमी को दूर करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सर्वप्रथम विषय-प्रवेश के अन्तर्गत पूर्वमध्यकालीन राजस्थान के अभिलेखों के परचिय से सम्बन्धित कुछ चर्चा की गयी है एवं सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन के लिये अभिलेखों का महत्व बताया गया है। शेष प्रबन्ध पांच अध्यायों में विभाजित है। इनमें प्रथम अध्याय में पूर्वमध्य कालीन राजस्थान के प्रशासन पर अभिलेखों से उपलब्ध सामग्री का विवेचन है। अभिलेखों में तत्कालीन प्रशासकीय व्यवस्था, का बड़ा रोचक एवं विश्वसनीय चित्र मिलता है। इसको हमने राजा, युवराज, महादेवी, राजसभा और केन्द्रीय प्रशासन, राजस्व व्यवस्था, सैनिक प्रशासन, सुरक्षा व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, प्रादेशिक प्रशासन, स्थानीय प्रशासन—इन अनुभागों में विभाजित किया है।

द्वितीय अध्याय में अभिलेखों से ज्ञात धार्मिक अवस्था का निरूपण है। तत्कालीन राजस्थान में वैदिक धर्म की परम्परा चली आ रही थी, पौराणिक मत व सम्प्रदाय लोकप्रिय थे एवं अनेक मध्यकालीन मत मतान्तर जन्म ले रहे थे। इन सबका विवेचन हमने शैव धर्म, वैष्णव धर्म, ब्रह्मा, सूर्य, शाक्त पूजा, अन्य देवगण, जैन धर्म, बौद्ध धर्म अनुभागों के अन्तर्गत किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तृतीय अध्याय का विषय है सामाजिक स्थिति। पूर्वमध्यकालीन राजस्थान में जबरदस्त सामाजिक परिवर्तन हुए। इस युग में शनैः शनैः वे जातियां महत्वपूर्ण हो गई जो राजपूत नाम से विख्यात है। लेकिन मूलतः राजस्थान में सामाजिक व्यवस्था वर्ण और जाति भेद पर आधारित थी। अभिलेखों में इन सभी समस्याओं पर महत्वपूर्ण सामग्री मिलती है। इसके अलावा सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों का रोचक चित्र भी अभिलेखों में प्राप्त होता है। इन सबका वर्णन हमने वर्ण एव जाति, स्त्रियां, व्रत, उत्सव, तीर्थस्थल, आमोद-प्रमोद-मनोरंजन, खान-पान अनुभागों के अन्तर्गत किया है।

सांस्कृतिक जीवन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है आर्थिक स्थिति। अभिलेख इस क्षेत्र में विशेष उपयोगी होते हैं। क्योंकि अधिकांश अभिलेखों का विषय भूमिदान अथवा आर्थिक जीवन के अन्य पक्ष थे, इसलिये किसी भी प्रदेश के आर्थिक जीवन का विश्वसनीय ज्ञान अभिलेखों की सहायता से हो जाता है। राजस्थान के विषय में भी यही बात लागू होती है। हमने आर्थिक जीवन के विषय में अभिलेखिक सामग्री को निम्नलिखित अनुभागों में बांटा है—भू-स्वामित्व, नगर और ग्राम, मुख्य धंधे, सिंचाई व्यवस्था, व्यापार श्रेणियां, नाप तौल, सिक्के तथा ब्याज की दर।

हमारा पांचवां और अन्तिम अध्याय सामन्तवाद से सम्बन्धित है। जैसा कि सर्वज्ञात है गुप्तकाल से भारत में सामन्तवाद का विशेष विकास हुआ। हर्ष के समय से तो सामन्तवाद राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन का मुख्य लक्षण बन गया। वास्तव में पूर्व मध्यकाल में सामन्तवाद सभी भारतीय प्रदेशों के सांस्कृतिक जीवन की मुख्य विशेषता था। हमने सांस्कृतिक जीवन के इस महत्वपूर्ण पक्ष का इस अध्याय में विवेचन भारत में सामन्तवाद : उदय, प्रकृति और परिवर्तनशील रूप, प्रतिहार साम्राज्य में सामन्तवाद का विकास, अन्य साम्राज्य में सामन्तवाद का विकास—इन अनुभागों के अन्तर्गत किया है।

इस पुस्तक के लेखन में मुझे अनेक महानुभावों ने सहायता एवं सहयोग प्रदान किया है। इस विषय पर कार्य करने की प्रेरणा मुझे परमश्रद्धेय डॉ. श्रीराम गोयल, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय ने (जो मेरे परिवीक्षक भी रहे) दी थी। उनके सतत, सक्रिय तथा सर्वदा-सुलभ स्नेहपूर्ण निदेशन के विना इसे पुस्तक के रूप में प्रदान करना सम्भव नहीं था। उन्होंने मुझे अपने व्यक्तिगत ग्रंथ-संग्रह से सभी आवश्यक सामग्री प्रदान की, मेरे प्रबंध की पाण्डुलिपि सुधार कर तथा अनेक बहुमूल्य सुझाव देकर मुझे उपकृत किया एवं विभिन्न व्यस्तताओं के होते हुए भी आद्योपान्त पथ-प्रदर्शन और दुरूह समस्याओं के समाधान द्वारा मेरे उत्साह एवं विश्वास को संवलित किया। इसके लिए मैं उनके प्रति कृतज्ञता तथा आभार प्रकट करता हूँ। वस्तुतः यह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
सम्पूर्ण प्रबंध यदि गुरु-प्रसाद कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करके मैं ऋण-मुक्त होने का प्रयास नहीं करूंगा।

मुझे अपने इस शोध-कार्य में गुरुवर्य डॉ. श्रीराम गोयल के अतिरिक्त दो अन्य गुरुजनों से विशेष प्रेरणा और सहायता मिली। वे है मेरे पूज्य पिताश्री डॉ. रामप्रसाद व्यास (पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय) एवं इतिहास विभाग के ही रीडर डॉ. दिनेशचन्द्र शुक्ल। पूज्य पिताश्री ने राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास व अभिलेखों के अध्ययन में मेरी रुचि को निरन्तर बढ़ाया, समय-समय पर मुझे उपयोगी अध्ययन सामग्री उपलब्ध करवाई और मेरे लेखन की अनेक त्रुटियों से मुझे अवगत किया। डॉ. दिनेश चन्द्र शुक्ल ने भी मेरी पाण्डुलिपि को आद्योपांत पढ़ा, उसकी भाषा को निखारने में सहायता दी और पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास के विषय में अपने सुझाव देकर मुझे उपकृत किया। इन दोनों ज्ञानवृद्ध तथा अनुभववृद्ध गुरु जनों की प्रेरणा और सहायता के बिना में यह ग्रंथ उस रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता था जिस रूप में प्रस्तुत कर पाया हूँ।

मैं इतिहास विभाग के अन्य सभी गुरुजनों तथा स्व. डॉ. मांगीलाल व्यास एवं श्री प्रकाश बाफना के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ जो मुझको मेरे इस पुस्तक के लेखन काल में सदैव प्रोत्साहित करते रहे हैं।

इस प्रबन्ध के प्रणयन में अनेक आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है। मैं ऐसे सभी विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूं। उनके नाम सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची में परिगणित हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में मैंने राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिस्ठान, जोधपुर, केन्द्रीय पुस्तकालय, जोधपुर विश्वविद्यालय तथा सुमेर सार्वजनिक पुस्तकालय, जोधपुर में उपलब्ध सभी सामग्री का उपयोग किया है। इसके लिये मैं उपर्युक्त संस्थाओं के अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में अपनी पूज्या मातुश्री श्रीमती फूलकुँवर देवी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने शोध करने के लिये मेरा उत्साह निरन्तर संवर्द्धित किया और कभी भी पारिवारिक क्रियाकलापों को मेरे कार्य में बाधक नहीं होने दिया। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती संतोष व्यास एम. एस-सी. टंकित प्रतिलिपियों को सुधारने और संकेत-सूची बनाने में सहायता देकर अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। इसके लिए वह प्रशंसा की अधिकारिणी है।

यह ग्रन्थ पी-एच. डी. की उपाधि हेतु जोधपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत मेरा शोध प्रबन्ध न्यूनाधिक संवर्द्धित रूप में प्रस्तुत है। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् का, जिसने मुझे इस पुस्तक को मुद्रित करवाने के लिए अनुदान दिया बड़ा आभारी हूँ। श्री राजेन्द्र सिंघवी और श्री जगदीश ललवानी ने क्रमशः प्रकाशन और मुद्रण का कार्य लगन और तत्परता से सम्पन्न किया उसके लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। डॉ. लल्लनजी गोपाल, प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, इतिहास विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने इसकी भूमिका लिखी है, इसके लिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ।

श्याम प्रसाद व्यास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय सूची

विषय प्रवेश	1–9
प्रशासन	10–62
धार्मिक जीवन	63–99
सामाजिक जीवन	100–135
आर्थिक अवस्था	136–171
सामान्तवाद	172–190
अभिलेख सूची	191–211
सन्दर्भग्रंथ सूची	212–219
अनुक्रमणिका	220–231

संकेत सूची

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अ.चौ.डा.	अर्ली चौहान डायनेस्टीज, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1975
आई.ए.	इण्डियन एण्टिक्वेरी, बम्बई
आई.एच.क्यू.	इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकला
आई.सी.	इण्डियन कल्चर, कलकत्ता
इ.आई.	एपिग्रापिया इण्डिका
ए.एस.आई.ए.एस.	एन्वल रिपोर्ट ऑफ दि आर्क्योलोजिकल
आई.आर.	सर्वे ऑफ इण्डिया
ए.आर.आर.एम.	एन्वल रिपोर्ट ऑफ राजपूताना म्यूजियम, अजमेर
ए.पी.जे.एल.एस.	अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह
एस.आर.के.आई.	सिरोही राज्य का इतिहास
एस.जे.जी.	सिंघवी जैन ग्रन्थ माला
कार्पस	कार्पस इन्स्क्रिप्सनम् इण्डिकेरम
डी.एच.एन.आई.	डायनेस्टिक हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया, द्वितीय संस्करण 1973
जे.ए.एस.बी.	जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकता
जे.बी.बी.आर.ए.एस.	जर्नल ऑफ दि बोम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जे.एन.एस.आई.	जर्नल ऑफ न्युमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया, वाराणसी
जे.यू.पी.एच.एस.	जर्नल ऑफ यू.पी. हिस्टोरिकल सोसायटी, लखनऊ
जे.ले.सं.	जैन लेख संग्रह, कलकत्ता
ना.प्र.प.	नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी
पी.आई.एच.सी.	प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस
पी.आर.एच.सी.	प्रोसीडिंग्स ऑफ राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस
पी.आर.ए.एस.	प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ दि आर्क्योलोजिकल सर्वे
डब्ल्यू.सी.	वेस्टर्न सर्कल
प्रा.जै.ले.सं.	प्राचीन जैन लेख संग्रह
बी.आई.	भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स
बी.जी.	बोम्बे गजेटियर
बी.एस.एस.	बोम्बे संस्कृत सिरीज़
रिकार्डस	बुद्धिस्ट रिकार्डस ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड (सी.यू.की.) ले. युवान च्वांग, अनु. एस.बील, लन्दन, 1906
रा.थ्रू.ए.	राजस्थान थ्रू दि एजिज, ले. दशरथ शर्मा बीकानेर
रा.इ.	राजस्थान का इतिहास, ले. गोपीनाथ शर्मा
वी.वि.	वीर विनोद

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय प्रवेश

भारत के दक्षिण-पश्चिम में स्थित राजस्थान ऐतिहासिक तथा पुरातात्विक सामग्री के लिए इतिहासज्ञों, विद्वानों और लेखकों के लिए प्रारम्भ से ही आकर्षण-केन्द्र रहा है। इस भाग से प्रागैतिहासिक तथा पुरैतिहासिक पुरावशेष पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी क्षेत्रों से प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं जिससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि अतीव प्राचीनकाल में ही इस भूभाग में मानव जीवन पल्लवित हो गया था। इस सम्बन्ध में लूनी और बनास आदि नदियों की उपत्यकाओं में किये गये उत्खनन और स्थल-सर्वेक्षण उल्लेख्य हैं। राजस्थान के इतिहास में आधुनिक विद्वानों की रुचि इस प्रदेश की वीर-परम्परा जनित कथाओं से प्रारम्भ हुई जो पुरातात्विक अन्वेषणों के परिणाम स्वरूप प्राप्त सामग्री के कारण अनेकशः बढ़ी। इसके परिणाम स्वरूप इस क्षेत्र के विविध कालिक इतिहास का विश्लेषण, अध्ययन और लेखन प्रारम्भ हुआ। इस प्रसंग में पुरानी पीढ़ी के इतिहासकारों में कर्नल टॉड, एल. पी. टेस्सीटोरी, जनरल कनिंघम, डब्ल्यू. डब्ल्यू. वैब, डी. आर. भाण्डारकर, गौ. ही. ओझा, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, रामकर्ण आसोपा इत्यादि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन का संक्षिप्त इतिहास

आधुनिक काल में कर्नल टॉड ने अपने ग्रंथ 'एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ ऑफ राज़स्थान' के द्वारा पहली बार राजस्थान के इतिहास को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनके समय की परिस्थितियों के कारण उनका अध्ययन अधिकाँशतः अनुश्रुतियों एवं गाथाओं पर आधारित था। उनके उपरान्त इस परम्परा की अगली कड़ी के रूप में मेवाड़ राज्य के दरबारी इतिहासकार श्यामलदास की रचना 'वीर विनोद' का उल्लेख किया जा सकता है। टॉड के ग्रंथ से 'वीर विनोद' अपेक्षया अधिक प्रामाणिक रचना है। इसी परम्परा का अनुसरण गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने राजस्थान की विभिन्न रियासतों का इतिहास प्रस्तुत करके किया। उनके श्रम के कारण उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, सिरोही, डूंगरपुर, प्रतापगढ़ तथा बांसवाड़ा का इतिहास प्रकाश में आया। उनके उपरान्त रामकर्ण आसोपा, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, जगदीशसिंह गहलोत, मथुरालाल शर्मा प्रभृति लेखकों ने राजस्थान की विविध रियासतों का इतिहास लिखा।

राजस्थान की रियासतों के इतिहास-लेखक की परम्परा के साथ इस प्रदेश के प्राचीनतर राजवंशों के इतिहास-लेखन की परम्परा भी लोकप्रिय हुई। इस परम्परा में डी. सी. गंगूली कृत 'हिस्टरी ऑफ द परमारज़' (1933), बी. एन. पुरी द्वारा लिखित 'द हिस्टरी ऑफ गुर्जर प्रतिहारज़'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(1957), दशरथ शर्मा का ग्रंथ 'अर्ली चौहान डायनेस्टीज़' (1964), आर. वी. सिंह का शोध-प्रबंध 'ए हिस्टरी ऑफ द चाहमानज़' (1964), प्रतिपाल भाटिया का शोध-प्रबन्ध 'द परमारज़' (1970), इत्यादि उल्लेखनीय हैं। अन्य राजपूत वंशो के इतिहास पर लिखित शोध प्रबन्ध में जिनसे राजस्थान के इतिहास पर प्रत्यक्षतः या परोक्षतः प्रकाश पड़ता है ए. के. मजूमदार का 'द चालुक्यज़ ऑफ गुजरात' एवं रोमा नियोगी का ग्रंथ 'द हिस्टरी ऑफ द गहड़वाल डायनेस्टी' (1959) उल्लेखनीय हैं। समग्र राजस्थान को दृष्टि में रखते हुए भी इतिहास-लेखन का प्रयत्न हुआ है जिसमें दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित 'राजस्थान थ्रू द एजिज़' खण्ड एक (1966) तथा गोपीनाथ शर्मा द्वारा लिखित 'राजस्थान का इतिहास' भाग 1 (1973) उल्लेखनीय हैं। दिनेश चन्द्र शुक्ल ने भी अपने शोध-प्रबन्ध 'अर्ली हिस्टरी ऑफ राजस्थान' में लगभग 600 ई. पू. से 750 ई. तक के राजनीतिक इतिहास का विस्तृत विवेचन करके एक गम्भीर कमी की पूर्ति की है।

लेकिन उक्त विद्वानों ने अपनी रचनाओं में राजनीतिक इतिहास पर विशेष ध्यान दिया है, सांस्कृतिक इतिहास पर बहुत कम। इस युग के सांस्कृतिक इतिहास पर जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें समग्र उत्तर भारत को दृष्टिगत रखते हुए सांस्कृतिक जीवन के किसी एक पक्ष अथवा मात्र एक दो शती का अध्ययन किया गया है, विशेषतः मात्र राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास का नहीं। ऐसे ग्रन्थों में लल्लनजी गोपाल की 'द इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया' (1965), बी.एन.एस यादव की 'सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया' (1973), बी.एन. शर्मा की 'सोशल एण्ड कल्चरल हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया' (1972) इत्यादि उल्लेख्य हैं। दूसरे, उत्तर भारत के सांस्कृतिक इतिहास का लेखन जितना भी हुआ है उसमें अधिकाँशतः साहित्यिक सामग्री का ही प्रयोग किया गया है, अभिलेखीय साक्ष्यों का उपयोग प्रायः राजनीतिक घटनाओं के प्रसंग में ही हुआ है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस दृष्टि से इस दिशा में अपने ढंग का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। इसमें राजस्थान के लगभग 700 से 1200 ई. तक के अभिलेखों का साँस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसकी ओर उपर्युक्त ग्रंथों में केवल अंशतः ही ध्यान दिया गया है।

राजस्थान के अभिलेखः परम्परा, लिपि, भाषा, संवत् आदि

राजस्थान के अभिलेख उत्कीर्ण करवाने की परम्परा सुदीर्घ है। कालीबंगा से उपलब्ध हड़प्पाकालीन मुद्राओं[1] से स्थानीय अभिलेखीय परम्परा की

1. दे. सांकलिया, एच.डी., द प्री हिस्टरी एवं प्रोटो हिस्टरी ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ. 383

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीनता प्रमाणित है। इस मुद्रा लेखों के उपरान्त (जिन्हें अब तक पढ़ा नहीं जा सका है)[1] एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् अशोक के मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण बैराठ एवं भाब्रु अभिलेख उपलब्ध होते हैं। तदनन्तर राजस्थान बड़ली, नगरी, घोसुण्डी, नांदसा, बड़वा, बर्नाला इत्यादि स्थलों से प्राप्त अभिलेखों में मौर्य तथा मौर्योत्तर ब्राह्मी लिपि का प्रयोग हुआ है।[2] गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में लिखित लेखों में छोटी सादड़ी भ्रमर माता (वि.सं. 547)[3] गंगधार[4] एवं विजयगढ[5] अभिलेखों की गणना की जा सकती है।

ब्राह्मी लिपि के एक अलंकृत रूप का 'कुटिललिपि' के रूप में विकास हुआ।[6] कुण्डा अभिलेख (वि.सं. 718),[7] कल्याणपुर अभिलेख (7वीं, 8वीं शती),[8] राजौर अभिलेख (वि.सं. 1016)[9] इत्यादि में कुटिल लिपि का ही प्रयोग हुआ है। इस लिपि में अलंकरणप्रियता प्रदर्शन से सौन्दर्य-वृद्धि अवश्य हुई परन्तु अक्षरों का पहचानना कठिन हो गया। राजस्थान में कुटिल लिपि के सामानान्तर हर्ष कालीन नागरी लिपि का प्रचलन भी हुआ। द्वितीय नागभट के बुचकला अभिलेख[10] (वि.सं. 872) में इस लिपि का प्रयोग है। तदन्तर शनैः शनैः आधुनिक नागरी लिपि का विकास हुआ जिसका प्रचलन हमारे अध्ययनकाल के बाद विशेषतः मिलता है।

आलोच्यकालीन राजस्थानी अभिलेखों में अधिकांशत संस्कृत भाषा का ही प्रयोग हुआ है किन्तु प्राचीनतर एवं हमारे युग के कतिपय प्रारम्भिक अभिलेखों में अर्द्धमागधी एवं प्राकृत का भी प्रयोग मिलता है। यथा

---

1. इस लिपि को पढ़ लेने का दावा अनेक विद्वानों ने किया है। इनमें एस. आर. राव का नाम नवीनतम है, वही, पृ. 386
2. इन अभिलेखों के लिए दे., गोयल, श्रीराम, भारतीय अभिलेख-संहिता, 1, जयपुर, 1981
3. इ.आई., 30, पृ. 122
4. फ्लीट, कार्पस 3, पृ. 74-76
5. ए.आर.ए.एस.आई., 1910-11, पृ. 40
6. वस्तुतः कुटिल लिपि नागरी लिपि एवं ब्राह्मी लिपि के मध्य की एक कड़ी है।
7. इ.आई., 4, पृ. 31
8. जे.आई.एच., 35, 1957, पृ. 73-74
9. इ.आई., 3, पृ. 266
10. वही, 9, पृ. 198-200

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अशोक के बैराठ अभिलेख[1] में मौर्यकालीन अर्द्धमागधी का तथा कक्कुक के घटियाला अभिलेख[2] में गुप्तोत्तर प्राकृत का प्रयोग हुआ हैं। संस्कृत भाषा के अभिलेखों में शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से अनेक रोचक तथ्य उपलब्ध होते हैं। इनमें कई ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका सामान्य प्रचलित अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए नाडोल से प्राप्त जोजलदेव के वि. सं. 1147 के अभिलेख[3] में 'शूलपाल' शब्द का प्रयोग है। मोनियर विलियम्स ने अपने शब्दकोष में इसका अर्थ 'वेश्यालय रखने वाला' दिया है परन्तु अभिलेख की विषय-वस्तु की दृष्टि से यह अर्थ असंगत है। वस्तुतः यहाँ 'शूलपाल' का अभिप्राय किसी ऐसे राज्य कर्मचारी से लगता है जो देवयात्रा के समय एक शस्त्र विशेष लेकर चलता था। राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों में कई ऐसे शब्द भी प्रयुक्त किए गए हैं जिनका प्रयोग संस्कृत साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। उदाहरणार्थ जोजलदेव के उक्त अभिलेख[4] में 'वडहर' शब्द का प्रयोग है जो स्थानीय शब्द 'वडेरा' का संस्कृत रूपान्तर है।[5] इस शब्द की पुनरावृत्ति केल्हणदेव के बांणेरा ताम्रपत्र[6] में भी हुई है। चाहमान अभिलेखों में गोडवाड़ क्षेत्र में प्रचलित नामों से सम्बन्धित स्थानीय शब्दों का प्रर्याप्त प्रयोग हुआ है। यथा पाइला, वाड,वाडौ, वाडि, पैटी इत्यादि।[7] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अभिलेखों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा पर स्थानीय प्रभाव पड़ा था। यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि इन अभिलेखों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा पूर्णतः व्याकरण सम्मत नहीं कही जा सकती। इसका कारण सम्भवतः उत्कीर्णक का सीमित ज्ञान था। अभिलेख उत्कीर्ण करने की पद्धति में उत्कीर्णक का साक्षर होना आवश्यक नहीं था। लेखक, प्रतिलिपिक और उत्कीर्णक पृथक्-पृथक् व्यक्ति होते थे। इसलिये लेखक द्वारा रचित सामग्री से प्रतिलिपिक द्वारा लिखित और उत्कीर्णक द्वारा उत्कीर्णित सामग्री कभी-कभी किंचित भिन्न हो जाती थी।

राजस्थान के अभिलेखों में विविध संवतों का प्रयोग हुआ है। ओझा, पाण्डेय आदि विद्वानों ने अजमेर क्षेत्र से प्राप्त बड़ली अभिलेख में 527 ई. पू. में प्रारम्भ माने जाने वाले वीर संवत् का प्रयोग बताया है।[8] इस संवत्

---

1. कार्पस, 1 पृ. 172
2. जे. आर. ए. एस., 1895, पृ. 516
3. इ. आई., 11, पू. 27
4. वही।
5. वही।
6. वही, 13, पृ. 208
7. वही, 11, पृ. 39
8. ओझा, गो.ही., भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ. 2, पाण्डेय, इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ. 21

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का प्रारम्भ 24 वें तीर्थंकर महावीर के निर्वाण वर्ष से माना जाता है। परन्तु डी. सी. सरकार[1], एस. आर. गोयल[2] आदि ने इस लेख में वीर संवत् के प्रयोग की सम्भावना अस्वीकृत की है। राजस्थान में इसका प्रयोग सर्व प्रथम राजपूत कालीन जैन अभिलेखों में हुआ है। राजस्थान के अभिलेखों में सर्वाधिक प्रयुक्त संवत् विक्रम संवत् है जिसका आरम्भ ईसा से 57 वर्ष पूर्व हुआ। कतिपय अभिलेखों में 606 ई. के हर्ष संवत् का प्रयोग है यथा तासी अभिलेख[3], कामा अभिलेख[4] आदि। कुटुकदेव के सेवाड़ी अभिलेख[5] में सिंह संवत् का प्रयोग हुआ है। गोठ मंगलोद के दधिमती माता मन्दिर के अभिलेख[6] तथा घौड़ से प्राप्त अभिलेख[7] में 'गुप्त' संवत् का प्रयोग है। पश्चिमी राजस्थान में माड़ क्षेत्रीय अभिलेखों में 'भटिक' संवत् का प्रयोग हुआ है। कुछ अभिलेखों में भटिक एवं विक्रम संवत् का एक साथ प्रयोग है। वि. सं. के साथ-साथ कई अभिलेखों में शक संवत् का उल्लेख हुआ है। लेकिन ऐसा कोई अभिलेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है जिनमें स्वतन्त्र रूप से केवल शक संवत् का ही प्रयोग हुआ हो।

विवेच्ययुगीन सांस्कृतिक इतिहास के लिए राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों का महत्व

राजस्थान की अभिलेखीय सामग्री का उपयोग अभी तक प्रमुखतया राजनीतिक इतिहास-लेखन में हुआ है। लेकिन सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी अभिलेखीय सामग्री का बड़ा महत्व है।

अन्य प्रदेशों के समान विवेच्ययुगीन राजस्थान में भी दो प्रकार के अभिलेख बहुसंख्यक हैं—एक प्रतिष्ठा अभिलेख और दूसरे दानपत्र। प्रतिष्ठा-अभिलेख मन्दिर, मूर्ति, विहार, कूप, वापी, नहर, आराम आदि के निर्माण अथवा पुनर्संस्कार के समय लिखवाये जाते थे। इनमें प्रायः उस समय शासन कर रहे नरेश की प्रशस्ति भी रहती थी। दानपत्र या दान शासन किसी ब्राह्मण, जैन या बौद्ध भिक्षु, विहार, गच्छ, मन्दिर, पदाधिकारी या किसी अन्य संस्था अथवा व्यक्ति को भूमि दान के अवसर पर लिखवाये जाते थे।

---

1. सरकार, डी.सी., स.इ., पृ. 90, टिप्पणी 3
2. एस.पी. गुप्ता तथा के.एस. रामचन्द्रन द्वारा सम्पादित 'द ओरिजिन ऑफ ब्राह्मी स्क्रिप्ट' में डा. गोयल का लेख, पृ. 39-40
3. इ. आई., 36, पृ. 49
4. वही, पृ. 52
5. वही, 11, पृ. 34
6. वही, 11, पृ. 303
7. वही, 12, पृ. 12

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किसी व्यक्ति या घटना की स्मृति में कभी कभी स्मारक अभिलेख भी उत्कीर्ण करवाये जाते थे। बहुत से अभिलेखों में दिवंगत व्यक्ति के साथ सती होने वाली स्त्रियों का उल्लेख होता था।[1]

अभिलेखों में प्राप्त जनजीवन विषयक सूचनाओं में बहुत-सी धर्म संबन्धी है। अभिलेखों के द्वारा स्थानीय जनता के धर्म एवं धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं का अनुमान लगाया जा सकता है। अनेक अभिलेख देवालयों से प्राप्त होते हैं।[2] इनमें देवालयों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार विषयक सूचनाऐं मिलती हैं। साथ ही उसमें धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन एवं विभिन्न उपास्य देवों का भी उल्लेख रहता है। अभिलेखों से धार्मिक कार्यों यथा दैनिक धूप दीप की व्यवस्था के निमित अनुदान के स्वरूप धन, ग्राम आदि प्रदान किए जाने एवं दान के अवसर'[3] विधि[4] एवं लाभ[5] इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अभिलेखों से हमें विभिन्न तीर्थस्थलों,[6] उत्सवों के आयोजन, व्यवस्था, विधि-विधान इत्यादि से सम्बन्धित सूचनायें भी प्राप्त होती हैं।[7] इस विषय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि हम अभिलेखीय सामग्री द्वारा विभिन्न नरेशों की धार्मिक नीति, धार्मिक जीवन में उनकी रुचि और उसके लिए किए गए उपाय आदि की समीक्षा कर सकते हैं।

अभिलेखों का महत्व सामाजिक अवस्था का अध्ययन करने के लिये विशेषतः होता है। इनसे किसी प्रदेश विशेष में निवास करने वाली विभिन्न जातियों, उसकी शाखाओं, प्रवरों, गोत्रों आदि की सूचना प्राप्त होती हैं। इससे जाति प्रथा की व्यापक संरचना का समुचित मूल्यांकन किया जा सकता है।[8] सती स्तम्भ अभिलेखों द्वारा स्थानीय सती प्रथा[9] एवं तद्विषयक मान्यताओं तथा बहुविवाह प्रथा[10] पर प्रकाश पड़ता है। राजस्थान में हमें

---

1. इस प्रसंग में राजस्थान में यह कहावत भी प्रचलित है कि 'नाम राखण में गीतड़ा कै भीतड़ा'' अर्थात् स्मृति को बनाये रखने का एक साधन गीत है तथा दूसरा साधन दीवारें (वे दीवारें जिन पर अभिलेख उत्कीर्ण रहते हैं)।
2. इ. आई., 14, पृ. 295, 2, पृ. 121-22
3. वही, 22, पृ. 196-98
4. वही, 11, पृ. 308
5. ओझा, निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 197
6. इ.आई., 26, पृ. 90
7. वही, 9, पृ. 62 और 158
8. वही, 5, पृ. 208
9. वही, 19, पृ. 8-9
10. वही, 18, पृ. 95, वही; 14, पृ. 176

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राय: दिवगंत व्यक्तियों की प्रतिमाएं भी प्राप्त होती हैं। इनसे तत्कालीन समाज में प्रचलित वेशभूषा एवं आभूषण इत्यादि का ज्ञान होता है।[1]

अभिलेख आर्थिक व्यवस्था पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकाश देते हैं। एक, इनमें ग्राम एवं नगर जीवन विषयक वर्णन प्राप्त होता है जिससे हमें ग्राम्य जीवन की रूपरेखा, नगर-नियोजन और नागरिक जीवन तथा वैभव का ज्ञान हो जाता है।[2] दूसरे, इनमें उद्योग, वाणिज्य और व्यापार विषयक अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध होती हैं। राजाओं द्वारा बाजारों का निर्माण[3] और तस्करों[4] एवं लुटेरों से इनकी रक्षा की व्यवस्था सम्बन्धी उल्लेख भी अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। तीसरे, कृषकों व्यापारियों आदि से वसूल किये जाने वाले विभिन्न शुल्कों का विश्वसनीय उल्लेख अभिलेखों में मिलता है।[5] चौथे, अभिलेखों से बाजारों में विक्रयार्थ आने वाली वस्तुओं का ज्ञान होता है।[6] इनके आधार पर प्रचलित उद्योगों एवं शिल्पों का समुचित अनुमान लगाया जा सकता है। पांचवें, क्षेत्रीय स्तर पर वाणिज्य-सम्बन्धों की सूचना भी अभिलेखों से प्राप्त होती है। छठे, अभिलेखों से व्यापार में प्रयुक्त होने वाले नाप और तौल[7] के मानों आदि से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध होता है। इनसे क्षेत्रीय और प्रादेशिक मुद्राओं और मुद्रा नीति का ज्ञान होता है।[8] इसके अतिरिक्त अभिलेखों से व्यापारियों तथा श्रमिकों की श्रेणियों के संगठन अधिकारों एवं कार्यों के विषय में भी सूचनायें मिलती हैं।[9]

वाणिज्य तथा उद्योगों और व्यवसायों के अतिरिक्त अभिलेखों में कृषि विषयक सूचनाएं भी प्राप्त होती हैं। इनके द्वारा भूस्वामित्व सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है,[10] तथा राजाओं, सामन्तों, धनिकों आदि द्वारा दान स्वरूप दी

---

1. बी.आई., 2, पृ. 69-72
2. आई.ए., 29, पृ. 189
3. इ आई., 9, पृ. 277-79
4. वही, 11, पृ. 53
5. बी.आई., 2, पृ. 67-68; इ.आई., 10, पृ. 17-20
6. वही।
7. इ.आई., 14, पृ. 297; वही, 10, पृ. 17-20, वही, 36, पृ. 49
8. नाहर, पू.च., जै.ले.सं., 2, पृ. 163; वही, 1, पृ. 214 और 238; इ.आई., 11, पृ. 43
9. इ.आई., 11, पृ. 43; वही, 2, पृ. 119; वही, 1, पृ. 162-79
10. वही, 11, पृ. 181; वही, 1, पृ. 154 और 162-179

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जाने वाली भूमि का विवरण उपलब्ध होता है। इनमें भूमि के प्रकार, सिंचाई के साधनों, भूरक्षण तथा राजस्व की भी चर्चा मिलती है।[1] खेतों में उगाई जाने वाली विभिन्न फसलों का नामोल्लेख अभिलेखों में यत्र-तत्र हुआ है।[2] अभिलेखों की सहायता भू-वर्गीकरण आदि समस्याओं की समीक्षा भी सरलतापूर्वक की जा सकती है।

अभिलेखों से हमें राज्य प्रशासन सम्बन्धी विश्वसनीय सूचनाएं भी प्राप्त होती हैं। इनसे राजा की स्थिति, उनके अधिकार, कर्तव्य तथा स्वेच्छाचारिता और धार्मिक नीति इत्यादि पर प्रकाश मिलता है। राजाओं द्वारा नियुक्त विभिन्न राजकर्मचारियों एवं अधिकारियों तथा उनके अधिकारों एवं कार्यों का विवरण भी अभिलेखों में मिलता है।[3]

पूर्व मध्यकालीन राजनीतिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता सामन्तवादी प्रथा थी। इसके उद्भव, विकास एवं संगठन से सम्बन्धित सूचनाएं भी अभिलेखों से प्राप्त होती है।[4] स्वयं सामन्तों द्वारा उत्कीर्ण करवाये गये अभिलेखों में यदा-कदा उनकी अभिरुचियों और उपलब्धियों का विवरण मिल जाता है।[5] अभिलेखीय सामग्री से स्थानीय तथा सामन्त राजाओं द्वारा लगाये जाने वाले विभिन्न करों पर प्रकाश पड़ता है। राज्य की प्रतिरक्षा हेतु किये गये दुर्ग निर्माण जैसे प्रयत्नों की भी सूचनाएं हमें अभिलेखों से प्राप्त होती है।[6] अभिलेखों से सैन्य व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है।[7] राजाओं द्वारा जनकल्याणार्थ कूप, वापी, तडाग इत्यादि का निर्माण अभिलेखों द्वारा ज्ञात होता है। कतिपय अभिलेखों में ग्राम शासन विषयक सूचनाएं मिलती हैं।[8] इस प्रकार प्रदेश विशेष एवं युग विशेष की प्रशासनिक व्यवस्था विषयक अत्यन्त प्रामाणिक सामग्री अभिलेखों से उपलब्ध होती है।

---

1. वही, 20, पृ. 72; वही, 24, पृ. 317
2. जे.पी.ए.एस.बी., 12, पृ. 93
3. इ.आई. 11, पृ. 70; वही, 14, पृ. 182-184; बी.आई., 2, पृ. 67-68
4. वही, 3, पृ. 266; वही, 5, पृ. 208; वही, 14, पृ. 187; वही, 33, पृ. 192
5. वही।
6. आई.ए., 20, पृ. 210
7. इ.आई., 14, पृ. 295
8. वही, 11, पृ. 39

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेखीय सामग्री से तत्कालीन साहित्यिक उपलब्धियों का अनुमान भी लगाया जा सकता है। विभिन्न नरेशों की साहित्यिक एवं शैक्षणिक अभिरुचियों एवं उपलब्धियों की सूचना अभिलेखों से मिलती है। कतिपय राजाओं की रचनाएं शिलांकित रूप में उपलब्ध होती हैं–यथा चतुर्थ विग्रहराज कृत 'हरिकेलि' नाटक एवं 'ललित विग्रहराज' नाटक शिलांकित साहित्यिक कृतियों में अग्रगण्य हैं।[1] इसी प्रकार प्रतिहार नरेश कक्कुक द्वारा रचित कतिपय श्लोक भी शिलांकित मिलते हैं।[2] राजाओं द्वारा आश्रय प्राप्त विद्वानों का उल्लेख अभिलेखों में प्रायः मिलता है। इन अभिलेखों में नवसाहित्य सृजन की सूचना के अतिरिक्त परम्परागत साहित्य के अध्ययन एवं संरक्षण सम्बन्धी सूचनाएं भी मिलती हैं।

अभिलेखों में यदा-कदा वास्तुकला विषयक सामग्री भी उपलब्ध होती है। इनमें विभिन्न युगों के सूत्रधारों, स्थापकों इत्यादि का उल्लेख हुआ है। देवालयों के प्रसंग में देवालय के विभिन्न अंगों, मण्डप, मण्डपिका, गवाक्ष, तोरण आदि का उल्लेख किया जाता था। मन्दिरों के प्रकारों का उल्लेख भी कभी कभी अभिलेखों में कर दिया गया है। इस प्रकार वास्तुकला से सम्बंधित अनेक पारिभाषिक शब्द हमें अभिलेखों से ज्ञात हो जाते हैं।

निष्कर्षतः अभिलेखों में समसामयिक सांस्कृतिक जीवन विषयक प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध अभिलेखीय सामग्री के आधार पर राजस्थान की पूर्वमध्यकालीन संस्कृति के अध्ययन का एक विनम्र प्रयास है।

———

1. आई.ए., 20, पृ. 210
2. इ.आई., 9, पृ. 277

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रशासन

यद्यपि आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के युग के राजस्थान की शासन व्यवस्था पर दानपत्रों, अन्य अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रंथों में यत्र-तत्र प्रदत्त छिट-फुट तथ्यों से काफी प्रकाश पड़ता है और तदनुरूप राजस्थान की शासन व्यवस्था की रूपरेखा तैयार की जा सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरणीय हैं। प्रथम, हमारे एतद्विषयक साधन सीमित हैं और अनेक राजवंशों से सम्बन्धित होने के कारण विभिन्न रूप में और बिखरे हुए मिलते हैं। द्वितीय, पांच शताब्दियों के दीर्घकाल में शासन व्यवस्था की एकरूपता सम्भव नहीं थी। समय के परिवर्तन के साथ शासन स्वरूप में भी न्यूनाधिक अन्तर आना स्वाभाविक था। हमारा प्रयास शासन सम्बन्धी उन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालना होगा जो सामान्यतया हमारे अध्ययन के सम्पूर्ण युग को प्रभावित करती रहीं।

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान की शासन व्यवस्था का अध्ययन इस युग को दो खण्डों में विभाजित करके किया जा सकता है। प्रथम साम्राज्यिक प्रतिहारकालीन व्यवस्था, जो लगभग 1000 ई. तक प्रचलित रही। इस काल में राजस्थान उत्तर भारतीय शासन व्यवस्था का ही अंग रहा। द्वितीय, प्रतिहारोत्तरकालीन व्यवस्था जो लगभग 1000 से 1200 ई. तक प्रचलित रही। इस काल में यद्यपि स्थूलतः प्रतिहारकालीन शासन पद्धति का प्रचलन रहा तथापि स्थानीय परिस्थितियों के प्रभाव से कहीं-कहीं और यदा-कदा शासन स्वरूप में कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए।

राजा

भारतीय अर्थशास्त्रीय परम्परा में राज्य के 'सप्ताङ्गों' का विवरण उपलब्ध है—(1) स्वामी (शासक), (2) अमात्य, (3) जनपद या राष्ट्र, (4) दुर्ग, (5) कोष, (6) दण्ड (सेना) एवं (7) मित्र।[1] इसमें शासक को ही सर्वोच्च माना गया है। कौटिल्य ने राजा को ही संक्षिप्त राज्य कहा है।[2] हमारे अध्ययनकाल में भी राज्य का सर्वेसर्वा राजा ही होता था। उसकी शक्ति असीमित समझी जाती थी। प्रतिहार नरेशों ने स्वयं अपने को राजा, भूप, नृप व महाराज कहा है किन्तु उनके सामन्तों ने उन्हें परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है। प्रतिहार शासक नागभट के सामन्त बप्पुक के पुत्र जज्जक की पुत्री जयावली के बुचकला से प्राप्त वि.सं. 872 के अभिलेख में वत्सराज को महाराजाधिराज और परमेश्वर विरुदों से सम्मानित किया गया है। इसी प्रकार

1. अर्थशास्त्र 6; 11, काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, 2, पृ. 585
2. अर्थशास्त्र 8, 2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसके पुत्र और उत्तराधिकारी नागभट को परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर उपाधि से विभूषित किया गया है।[1] चौलुक्य शासकों के सामन्तों ने भी अपने स्वामियों को परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर इत्यादि उपाधियों से उल्लिखित किया है। कुमारपाल चौलुक्य के सामन्त वाहड़देव के पाली के सोमनाथ मन्दिर से प्राप्त वि.सं. 1209 के अभिलेख में कुमारपाल को परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर विरुद दिया गया है।[2] चौलुक्य नरेश द्वितीय भीमदेव के सामन्त चाहमान मदन ब्रह्मदेव के किराडू से प्राप्त वि.सं. 1235 के अभिलेख में द्वितीय भीमदेव को महाराजाधिराज, परमेश्वर तथा परमभट्टारक कहा गया है।[3] इसी नरेश के एक गुहिलवंशी सामन्त अमृतपालदेव के वीरपुर से प्राप्त वि.सं. 1242 के दानपत्र में भी स्वयं भीमदेव की उपाधि परमेश्वर परमभट्टारक निर्देशित है जबकि अमृतपालदेव को 'महाराजाधिराज' कहा गया है।[4] परमार शासकों ने भी आरम्भ में महाराज, नृप और भूप जैसे सामान्य विरुद धारण किये थे। अधिक से अधिक उनको 'महाराजाधिराज' कहा गया है। परन्तु द्वितीय वाक्कपति के काल से 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' जैसी गरिमामयी उपाधियां धारण करने लगे।[5] गुहिल और चाहमान[6] शासक भी

---

1. इ.आई., 9, पृ. 199
2. नाहर, पू.च., जैन लेख संग्रह, 1, पृ. 205
3. आई.ए., 42, पृ. 42
4. ओझा निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 197
5. भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, (1970), नई दिल्ली, पृ. 201-202
6. अन्य सन्दर्भों के लिए द्रष्टव्य :
   (1) प्रथम पृथ्वीराज का वि.सं. 1162 का जिनमाता अभिलेख, पी. आर.ए.एस., डब्ल्यू.सी., 1909-10, पृ. 52
   (2) वि.सं. 1215 के नरहड़ अभिलेख, परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि का उल्लेख, अ.चौ.डा., पृ. 203
   (3) वि.सं. 1232 का गोठ मंगलोद अभिलेख, रामवल्लभ उपाधि का उल्लेख, रामवल्लभ सोमानी, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, जयपुर, (1981), पृ. 175
   (4) वि.सं. 1243 के रेवासा अभिलेख में 'राजेन्द्र' उपाधि का उल्लेख, दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, द्वितीय संस्करण, पृ.107
   (5) वि.सं. 1236 के फलोदी अभिलेख में 'महाराज' उपाधि का उल्लेख, जे.पी.ए.एस.बी., 12, पृ. 93

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'परमेश्वर', और 'राजेन्द्र', आदि विरुदों से विख्यात थे। इस प्रकार के विरुदों से इस युग के शासकों की राजनीतिक स्थिति और सामन्तवादी व्यवस्था में उनकी सीमित शक्ति का आभास मिलता है।

हमारे अध्ययनकाल के शासकों में देवांश मानने की प्रथा थी। प्रतिहार-वंश संस्थापक प्रथम नागभट को अभिलेखों में साक्षात् नारायण[1] और भोज[2] तथा विनायकपाल[3] को 'आदिवराह' कहा गया है। प्रथम 'महिपाल' को 'कार्त्तिकेय' बताया गया है।[4] चाहमान शासकों को भी स्वयं विष्णु अथवा विष्णु का अंश माना गया है। चतुर्थ विग्रहराज को 'मधु नामक दैत्य के संहारक' का अंश बताया गया है।[5] द्वितीय पृथ्वीराज के लिये राम की उपाधि प्रयुक्त है।[6] इसी प्रकार तृतीय पुथ्वीराज को भी 'पृथ्वीराज विजय' में 'राम' कहा गया है।[7] उल्लेखनीय है कि यह परम्परा हमारे अध्ययनकाल के उपरान्त भी चलती रही।[8]

इन सभी विरुदों के पीछे जन नेतृत्व तथा म्लेच्छों से देश व संस्कृति की रक्षा करने के संकल्प एवं सामन्ती व्यवस्था में देवत्व अवधारण का सहारा लेकर राजाओं द्वारा अपनी स्थिति सुरक्षित करने की भावनायें थीं।[9]

1, इ. आई., 18, पृ. 99-114। तु. एक उदयगिरि अभिलेख में गुप्त सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त को स्वयं चाप्रतिरथ (साक्षात् अप्रतिरथ अर्थात् विष्णु) कहा जाना। विष्णुसहस्रनाम में 'अप्रतिरथ' विष्णु का एक नाम बताया गया है।

2. वही।

3. जे.एन.एस.आई., 10, पृ. 28, 1327 ई. की 'द्रव्य परीक्षा' नामक पुस्तक में 'बराहमुद्रा' तथा 'विनायक मुद्रा' का उल्लेख हुआ है।

4. रा. ग्रू. ए., पृ. 306

5. इ. आई., 19, पृ. 218

6. आई. ए., 41, पृ. 19

7. पृथ्वीराज विजय, 1/33, 6/35 और 47, 715, 8/10 और 60-61 तथा 9/32-33

8. जालौर के शासक कान्हड़देव को कृष्ण का अवतार और 'गोकुलनाथ' कहा गया है। कान्हड़दे प्रबन्ध, 3, छंद 215-220, 4, छंद 219-220

9. इस काल के शासकों के विरुदों का अध्ययन करते समय गीता (4, 7 तथा 8) में भगवान् कृष्ण का वह वचन याद आ जाता है जिसमें वह कहते हैं कि जब जब धर्म की हानि होती और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब साधुओं के उद्धार पापियों के विनाश और धर्म की स्थापना करने के लिए वह स्वयं पृथ्वी पर प्रकट होते है। तु. गुप्त काल में समुद्रगुप्त को प्रयाग प्रशस्ति में 'साध्वसाधूदय प्रलय हेतु' तथा 'अचिन्त्यपुरुष' कहा जाना। 'अचिन्त्य' विष्णुसहस्रनाम में विष्णु का एक नाम है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यद्यपि इस काल के शासकों की शक्ति सिद्धान्तः अनियन्त्रित थी तथापि उन्हें अनेक सामन्तीय एवं नैतिक मर्यादाओं के अन्तर्गत शासन करना पड़ता था। अतः शासकों के लिए सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी होना सम्भव नहीं था। लोकप्रिय शासकों के नेतृत्व में प्रजा सुख और सन्तोष का अनुभव करती थी। गुहिलवंशी शीलादित्य की लोकप्रियता से प्रभावित होकर देश के विभिन्न भागों के व्यापारी वर्ग उसके राज्य में निवास करने लगे थे।[1] एक अभिलेख में शीलादित्य को पृथ्वी-विजेता, शत्रुओं को जीतने वाला, देव ब्राह्मण और गुरूजनों को आनन्द देने वाला कहा गया है।[2] 'कथाकोष' के अनुसार स्वेच्छाचारी शासकों के राज्यों में भले पुरुष निवास नहीं करते थे।[3]

राजपूत शासकों की सम्भावित स्वच्छन्दता पर नियंत्रण रखने वाली अनेक संस्थाएं थीं जिनमें मंत्रिमण्डल, स्थानीय संस्थाएं, धर्मशास्त्रीय नियम परम्पराएं तथा जनमत प्रमुख है। इनके अतिरिक्त सबल सामन्त वर्ग का भी राज्य के प्रशासन पर पर्याप्त प्रभाव रहता था। सामन्तों की शक्ति व महता का आभास उनके लिये प्रयुक्त विरुदों जैसे महाराजाधिराज परमेश्वर[4], महाराजाधिराज[5], महासामन्ताधिपति[6], महासामन्त[7], महामाण्डलिक[8], राजा[9], राजकुल[10], ठाकुर[11] और रणक इत्यादि से होता है। समसामयिक साहित्यिक

---

1. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 2, पृ. 311-24
2. आई.ए., 10, पृ. 24
3. रा. श्रू. ए., पृ. 308 पर उद्धृत
4. राजौर के शासक मथनदेव ने इस विरुद को धारण किया था।
5. यह विरुद मथनदेव के पिता और सियोडनी के सामन्त धुरभट्ट और निष्कलंक ने धारण किया था। तु., सातवीं शती में नेपाल के लिच्छवि महाराजाधिराजाओं के प्रधानमन्त्री अंशुवर्मा आदि का महाराजाधिराज विरुद, गोयल, श्रीराम, प्राचीन नेपाल का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 95
6. इ. आई., 1, पृ. 173
7. द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख में माधव और इन्द्रराज के लिये इस विरुद का प्रयोग है।
8. आई. ए., 41, पृ. 202
9. द्रष्टव्य, हांसोट ताम्रपत्र अभिलेख,
10. महिपाल का वि. सं. 974 का असनी अभिलेख।
    यही शब्द कालान्तर में राजस्थान में 'रावल' रूप में परिवर्तित हुआ।
11. द्र. 'समराइच्चकहा' और 'कुवलयमालाकहा'।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रंथों में सामन्तों की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। तत्कालीन राजनीति में सामन्तों की महती भूमिका थी। राजा को शक्ति, भय प्रदर्शन, भेद नीति आदि विभिन्न उपायों से सामन्तों का सहयोग प्राप्त करना पड़ता था। सामन्तों को अपनी महता का आभास रहता था। इसका पता महासामन्त इन्द्रराज चाहमान के प्रतापगढ़ अभिलेख से चलता है।[1] रामभद्र ने अपने सहधर्मी सामन्तों की मदद से वाहिनीपति अर्थात् सेनापति के विद्रोह को शान्त किया था।[2] महिपाल के राज्यकाल में तृतीय इन्द्र के आक्रमण को निष्फल करने में सामन्तों का महत्वपूर्ण योगदान रहा था। मण्डोर के प्रतिहार, चाटसू के गुहिल और शाकम्भरी के चाहमान सामन्तों ने प्रतिहार साम्राज्य की सीमा वर्द्धन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। बालादित्य के चाटसू अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रतिहार भोज के उत्तर भारतीय विजय अभियान में गुहिल हर्षराज नामक सामन्त ने भी भाग लिया था। अभिलेख के अनुसार 'हर्षराज' ने उत्तरी दिशा के सभी राजाओं को जीत कर भक्ति पूर्वक भोजराज को घोड़ों की भेंट दी थी।[3] इसी प्रकार यह निर्देशित किया गया है कि गुहिल सामन्त भट्ट ने अपने अधिराज की आज्ञा से उसके किसी दक्षिणी शत्रु की सेनाओं को परास्त किया था।[4] रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि उक्त दक्षिणी सेनाएं राष्ट्रकूटों की थी।[5] 'पृथ्वीराजविजय' के अनुसार प्रथम दुर्लभराज ने 'अपनी तलवार को गंगा और समुद्र के संगम स्थल (गंगासागर) में स्नान कराया तथा गौड़ देश का भोग (विजय) किया।[6] दुर्लभराज ने यह उपलब्धि स्पष्टतः साम्राज्यिक प्रतिहारों के अधीन रह कर प्राप्त की होगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने राज्य विस्तार और देश को विदेशी आक्रमणकारियों से सुरक्षित रखने के लिए हर शासक को सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त करना पड़ता था। यह सहयोग उन्हें प्रचलित विधान, धर्म और देशाचार के आधार पर शासन संचालन करने पर ही प्राप्त हो सकता था।

---

1. इ. आई., 14, पृ. 182-84
2. वही, 18, पृ. 99-114
3. वहीं, 12, पृ. 15
4. वही, पृ. 16
5. जर्नल ऑफ दि डिपार्टमेण्ट ऑफ लैटर्स, 10, पृ. 68
6. पृथ्वीराजविजय, 5/20

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा के आदर्श गुणों की अनेक प्राचीन राजनीतिक ग्रन्थों में विस्तृत चर्चा हुई है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति'[1] व 'मनुस्मृति'[2] के अनुसार राजा को शक्तिमान, दयालु, तपस्वी, ज्ञानी, अनुभवी लोगों पर आश्रित, अनुशासित मनवाला, सत्यवादी, वचन एवं कर्म में मृदु, वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालक, शास्त्रों का ज्ञाता तथा प्रजा के प्रति पितृवत् व्यवहार करने वाला होना चाहिए। शासकों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह प्रजा का रक्षण और पालन करेगा, धर्मानुसार आचरण करेगा, युद्ध में सैन्य-संचालन करेगा, दुष्टों को दण्ड देगा, न्याय की व्यवस्था करेगा, जनोपयोगी कार्यों में रुचि लेगा, सार्वजनिक उत्सवों में भाग लेगा तथा सार्वजनिक जीवन को सुखद बनाने के हेतु हर प्रकार के साधन अपनायेगा। हमारे अध्ययनकाल में भी उक्त मान्यताओं का प्रचलन था। यथा राजा मान को सद्गुण सम्पन्न, ईमानदार तथा सद्चरित्र कहा गया है।[3] आहाड़ के हस्तिमाता मन्दिर से उपलब्ध शुचिवर्मा के समय के खण्डित लेख में शुचिवर्मा को मर्यादा में रह कर कार्य करने वाला, दानी और शत्रुओं को नष्ट करने वाला कहा गया है।[4] कक्कुक के घटियाला से प्राप्त एक अभिलेख में कहा गया है कि वह सज्जनों के साथ रहता था। उसके अन्य गुणों में न्यायप्रियता, जनहित भावना, दुष्टों को दण्ड देना, दीनों की रक्षा, वीरता, साहस, पुत्र स्नेह, गुरुभक्ति, कृतज्ञता आदि सम्मिलित किये गये है।[5] वि. सं. 1028 की नाथ प्रशस्ति में राजाओं के गुणों का उल्लेख हुआ है।[6] मेवाड़ का राजा नरवाहन विद्वानों का संरक्षक था। उसकी राज सभा में बौद्धों, दिगम्बर जैनियों और शैवों में शास्त्रार्थ का आयोजन हुआ था। परमार भोज व्याकरण, इतिहास इत्यादि अनेक शास्त्रों का ज्ञाता था।[7] वि. सं. 1218 के कीर्तिपाल के नाड़ौल से प्राप्त एक ताम्रपत्र में आल्हण के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह पवित्रता, आचार-विचार और दान का निकेतन था। इसी अभिलेख में उसके पुत्रों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वे श्रेष्ठ बुद्धि वाले, रूप और

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 1। 309-311
2. मनुस्मृति 7। 32
3. कर्नल टॉड, एनाल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज ऑफ राजस्थान, 1, पृ. 625-26
4. भावनगर प्राचीन शोध संग्रह, पृ. 22-24
5. इ. आई. 9, पृ. 277-79
6. भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, 2, पृ. 70
7. सोमानी, रामवल्लभ, वीर भूमि चितौड़, (1969), पृ. 218

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सुन्दरता से युक्त, शस्त्र और शास्त्र में निपुण, दानी और सुशील थे।[1] मेनाल के दुर्ग में स्थित महल के उत्तरी द्वार के स्तम्भ पर उत्कीर्ण वि. सं. 1226 के एक अभिलेख के अनुसार चाहमान वंशी शासक द्वितीय पृथ्वीराज सत्यनिष्ठ, मृदुभाषी, सुन्दर, धर्मपरायण, कल्याणकर, धर्मज्ञ तथा विचारशील बताया गया है।[2] आबू प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आबू का शासक धारावर्ष शस्त्र एवं शास्त्रों में प्रवीण था। उसके सद्व्यवहार तथा व्यक्तित्व से उसकी प्रजा अत्यधिक प्रभावित थी।[3] इन अभिलेखों में राजाओं के प्राचीन व्यवस्थाकारों द्वारा निर्देशित गुणों व कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारतीय नरेशों के समान राजपूत शासक भी प्रायः धर्मप्रतिपालक तथा धर्मपरायण होने का दावा करते थे। वे चाहे स्वयं किसी भी धर्म के अनुयायी होते थे परन्तु अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार करते थे। वि. सं. 999 के प्रतापगढ़ से प्राप्त अभिलेख में गुहिल शासक द्वितीय भर्तृपट द्वारा उसके शैव होते हुए भी सूर्य मन्दिर के लिये भूमि दान दिये जाने का उल्लेख है।[4] आहड़ के जैन मन्दिर की देवकुलिका के अभिलेख में गुहिलवंशी शक्तिकुमार की जैन धर्म के प्रति उदारता का उल्लेख है।[5] प्रतिहार भोज यद्यपि भगवती का उपासक था फिर भी उसने एक विष्णु-मन्दिर का निर्माण करवाया था।[6] चाहमान शासक विभिन्न देवताओं के उपासक होते हुए भी हर्षनाथ के मन्दिर में भेंट चढ़ाकर स्वयं को धन्य समझते थे।[7] शैवधर्मावलम्बी होते हुए भी अर्णोराज ने पुष्कर में वराह मन्दिर निर्मित करवाया था। उसने खरतरगच्छ के जैनों को मन्दिर बनाने के हेतु अजमेर में भूमि प्रदान की थी तथा श्वेताम्बर जैन मुनि धर्मघोषसूरि को उनकी विद्वता के कारण सम्मानित किया था।[8] चतुर्थ विग्रहराज शैव होते हुए यी अन्य हिन्दू सम्प्रदायों को ही नहीं अपितु जैनों को भी

---

1. इ. आई., 9, पृ. 66-70
2. वीर विनोद, 1, पृ. 389
3. इ. आई,, 32, पृ. 137
4. वही, 24, पृ. 187
5. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, उदयपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ. 124-133
6. इ. आई., 1, पृ. 186-88
7. वही, 2, पृ. 119
8. कैटलाग ऑफ द पामलीफ एम. एस. एस. इन द पट्टन भण्डारज़, पृ. 395

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदर और सहायता प्रदान करता था। उसने धर्मघोषसूरि नामक जैन आचार्य के कहने से एकादशी के दिन जीव हिंसा पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया था।[1] कुमारपाल चौलुक्य के चित्तौड़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि जैन धर्मानुयायी होते हुए भी उसने चित्तौड़-विजय के बाद भक्तिभाव से भगवान् शिव की आराधना की थी और मन्दिर के निमित्त एक गांव दान दिया था।[2] परमार चामुण्डराज ने अपने पिता की स्मृति में अथूर्णा के शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था और मन्दिर के परिपालन के लिए व्यापार की वस्तुओं पर कर लगाया था।[3] हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूट राजा विदग्ध ने अपने गुरु वासुदेव की प्रेरणा से हस्तिकुण्डी में जैन देवालय का निर्माण करवाया था। धर्म में अत्यधिक तल्लीन होने के फलस्वरूप उसे संसार के प्रति विरक्ति हो गई थी।[4] धार्मिक कार्यों में राजा सदैव बड़ी रुचि से भाग लेता था। जोजल्लदेव ने भगवान् लक्ष्मणस्वामी की रथ-यात्रा के उत्सव के अवसर पर सभी राज कर्मचारियों को उसमें सम्मिलित होने का आदेश दिया था।[5]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आलोच्य युग के राजसी जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्व था और सामान्यतया राजा लोग सभी धर्मों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते थे।

राजपद मुख्यतया आनुवंशिक था और सामान्यतया ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी बनाने की परम्परा प्रचलित थी। इस काल में ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध हैं जब साहसी राजकुमारों ने अपने पराक्रम से नये राज्य की स्थापना की। यथा चाहमान वंशी लक्ष्मण ने स्वयं नाडौल में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था।[6] कभी-कभी पितृेच्छा अथवा अन्य कारणों से

---

1. वही, पृ. 370
2. ई.आई., 2, पृ. 327
3. वही, 14, पृ. 295
4. वही, 10, पृ. 17-20
5. वही, 9, पृ. 62 व 158
6. द्र. (1) अ.चौ.डा., पृ. 138-139
   (2) लुणतिगदेव का अचलेश्वर अभिलेख, इ.आई., 9, पृ. 79
   (3) कीर्तिपाल का नाडौल-ताम्रपत्र, वि.सं. 1218, वही, पृ. 68
   (4) सहजपाल का मण्डोर अभिलेख, आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1909-10, पृ. 102-3

State Museum Library Lucknow 6942

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बड़े भाई के बाद छोटे भाई को राज्याधिकार मिल जाता था। प्रतिहार राजा बाउक के पश्चात् उसका छोटा भाई कक्कुक राज्याधिकारी हुआ था।[1] इसी प्रकार गुहिल शासक अम्बाप्रसाद के बाद उसका छोटा भाई शुचि वर्मा सिंहासनासीन हुआ था।[2]

भारत में वैदिक काल से ही 'प्रजापरिपालकत्व' तथा प्रजा हित राजा का महत्वपूर्ण कर्त्तव्य स्वीकार किया गया है। समय के साथ इसकी महता अधिकाधिक बढ़ती गई। व्यवस्थाकारों, राजनीति शास्त्रियों तथा स्मृतिकारों ने इस विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस व्यवस्था के अनुसार राजा को प्रजा हित को प्राथमिकता देनी चाहिये। कौटिल्य का कथन है कि राजा को प्रजा के सुख में अपना सुख और उसके हित में ही अपना हित समझना चाहिये (प्रजा सुखे सुखं राज्ञाः प्रजानां च हिते हितम्) कौटिल्य के अनुसार किसी कार्य के औचित्य का आधार सम्राट की रुचि नहीं, अपितु लोक रुचि होती है। अशोक के अभिलेखों में भी इसी प्रकार का संकेत है। अशोक छठे शिलालेख (गिरनार) में लिखता है 'नास्ति हि कंमतां सर्वलोक हितम्या'—राजा के लिए सर्वलोक हित से बढ़कर कोई दूसरा काम नहीं है।[3] प्रत्येक शासक सिद्धान्तः विधवाओं, अनाथों और कमजोर वर्गों की रक्षा करता था।[4] अकाल एवं विपत्ति के समय राजकोष से प्रजा की सहायता की जाती थी।

अभिलेखों के अनुसार पूर्वमध्ययुगीन नरेश कुएं और सरोवर खुदवाते, विद्वानों को आश्रय देते, कलाकारों का सम्मान करते और मन्दिरों का निर्माण एवं प्रतिसंस्कार करवाते थे। धार्मिक अवसरों पर मन्दिरों को दान दिया करते थे। गुहिल शक्तिकुमार ने संक्रान्ति पर सूर्य मन्दिर को 14 द्रम्म प्रति वर्ष दिये जाने की आज्ञा दी थी।[5] चौलुक्य कुमारपाल के चित्तौड़ से प्राप्त अभिलेख में कहा गया है कि जब कुमारपाल समद्धीश्वर मन्दिर में गया तो भक्ति भाव से शिव की पूजा की तथा इस मन्दिर को एक गांव भेंट में दिया था।[6] बसन्तगढ़ की लाहण बावड़ी का निर्माण आबू के परमार

---

1. घटियाला अभिलेख, वि.सं. 918, इ.आई., 9, पृ. 279-281
2. हस्तिमाता के मन्दिर का अभिलेख, भावनगर प्राचीन शोध संग्रह, पृ. 22-24
3. इ. आई., 2, पृ. 454
4. राजनीति प्रकाश द्वारा उद्धृत, पृ. 138
5. इ. आई., 39, पृ. 191
6. वही, 2, पृ. 327

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्णपाल की बहिन रानी लाहणी ने लोककल्याणार्थ किया था।[1] राजा मानमोरी ने जनहितार्थ एक सरोवर का निर्माण करवाया था।[2] चाहमान शासक अर्णोराज ने अपनी राजधानी के समीप 'आन्नासागर' नामक विशाल झील का निर्माण करवाया था।[3] परमार शासक भोज ने चित्तौड़ के निकट एक तालाब 'भोजासर' का निर्माण करवाया था।[4] चाहमान शासक बीसलदेव ने 'विशालसर' नामक तालाब का निर्माण करवाया था।[5] सेवाड़ी के शासक कटुकराज ने 'थल्लक' नामक शिल्पी को एक वार्षिक अनुदान दिया था।[6] प्रतिहार वत्सराज विद्वानों का आश्रयदाता था।[7] सारणेश्वर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गुहिल नरेश अल्लट ने वराह मन्दिर की व्यवस्था के लिए राज्य से गुजरने वाले हाथी, घोड़े आदि सवारियों पर कर लगाया था।[8] इसी प्रकार अथूर्णा के शिव मन्दिर की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि मन्दिर के परिपालन के लिए कुछ व्यापारिक वस्तुओं पर कर लगाया गया था।[9]

राजाओं को कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका और देश की सुरक्षा सम्बन्धी कार्य करने होते थे। वे स्वयं राज्य के समस्त उच्च कर्मचारी वर्ग की, जिनमें मंत्री और विभागाध्यक्ष भी सम्मिलित थे, नियुक्ति करते थे। राजा यदि किसी भी अधिकारी को अवांच्छनीय समझते थे तो उसे सिद्धान्ततः पदच्युत कर सकते थे। वे प्रायः महत्वपूर्ण पदों पर अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों को नियुक्त करते थे। यद्यपि वे मंत्रियों से महत्वपूर्ण विषयों पर मन्त्रणा करते थे तथापि वे उनकी मन्त्रणानुसार कार्य करने के लिए सिद्धान्ततः बाध्य नहीं थे। चाहमान राजा चतुर्थ विग्रहराज के मुख्यमंत्री श्रीधर ने तुर्क आक्रमणकारी[10] को कुछ धन देकर सन्तुष्ट करने का प्रस्ताव किया था, किन्तु राजा ने इसे अस्वीकार कर दिया था।[11]

---

1. वहीं, 9, पृ. 12
2. टॉड, एनाल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज, 1, पृ. 625-626
3. पृथ्वीराजविजय, 6, श्लोक 21-25
4. स्मिथ, वी., अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 411
5. पृथ्वीराज रासो, आदि पर्व, श्लोक 364
6. सेवाड़ी अभिलेख, वि. सं. 1172, इ. आई., 11, पृ. 30
7. वि. सं. 1013 की ओसियां मन्दिर प्रशस्ति, नाहर, पूर्णचन्द, जैन लेख संग्रह, कलकत्ता, (1918), 1, पृ. 192
8. बी. आई., 2, पृ. 67-68
9. इ. आई., 14, पृ. 295
10. सम्भवतः वह गजनी का अमीर खुसरूशाह था।
11. ललितविग्रहराज, आई. ए., 20, पृ. 209

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युद्ध के समय राजा सेना का नेतृत्व और संचालन करते थे। वे प्रायः स्वयं भी अश्वारोहण तथा हाथियों पर बैठ कर लड़ाई में भाग लेते थे। वे धनुर्विद्या तथा खड्ग विद्या आदि में प्रवीण होते थे।[1] मेवाड़ के गुहिल शासक शक्तिकुमार को तीनों शक्तियों—मंत्र शक्ति, उत्साह शक्ति एवं प्रभु शक्ति—से सम्पन्न कहा गया है।[2] परमार राजवंश की आबू शाखा का शासक धारा वर्ष धनुर्विद्या में निपुणता के लिए विख्यात था। एक अवसर पर उसने सफलतापूर्वक एक ही बाण के प्रहार से तीन भैंसों को भेद दिया था।[3] इसका उत्सव मनाने के लिए आबू पर्वत पर अचलेश्वर मन्दिर के बाहर मन्दाकिनी सागर के किनारे उसकी एक मूर्ति बनवाई गई जिसमें उसके हाथ में एक धनुष और उसके सामने फटे पेट वाले तीन भैंसे खड़े दिखाये गये।[4] राजा लोग रणनीति के सम्बन्ध में अपने सेनानायकों से भी विचार-विमर्श किया करते थे।

युवराज

राज्य प्रशासन में राजा के पश्चात् 'युवराज' या 'महाराजकुमार' का स्थान होता था।[5] वह राजा का उत्तराधिकारी होता था। सामान्यतः राजा के जीवनकाल में ही ज्येष्ठ पुत्र को युवराज घोषित कर दिया जाता था।[6] युवराज युद्ध व शांति के समय राजा की सहायता करता था।[7] इससे उसकी योग्यता का भी पता चल जाता था और उसे शासन की शिक्षा तथा राज्य के कार्य का अनुभव भी हो जाता था। हमारे अध्ययनकाल में राजस्थान के दानशासनों तथा प्रशस्तियों में युवराज के अधिकारों एवं कर्तव्यों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। चाहमान शासक केल्हणदेव अपने पिता के जीवनकाल में युवराज था और उसे जागीर देने और अन्य अनुदान देने

---

1. वि. सं. 1136 की अथूर्णा प्रशिस्त, इ. आई., 14, पृ. 295
2. वि. सं. 1034 का शक्तिकुमार का अभिलेख, वही, 39, पृ. 191
3. आई. ए., 45, पृ. 78
4. मुनि जिनविजय, द होली आबू, पृ. 165। यह मूर्ति अब भी विद्यमान है।
5. कल्याणपुर के गुहिल शासकों द्वारा दिये गये दानपत्रों में राजा के बाद युवराज का उल्लेख किया है। इ. आई., 35, पृ. 56, 34, पृ. 170 और 173
6. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 629। गुप्त युग में समुद्रगुप्त एवं द्वितीय चन्द्रगुप्त अपने अपने पिता द्वारा चुने गए थे।
7. इ. आई., 11, पृ. 43-46

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अधिकार था ।[1] 'तिलकमन्जरी' में युवराज बनने की आयु 16 वर्ष बताई गई है ।[2] धर्मशास्त्रों में यह आयु 25 वर्ष की निर्धारित की गई है। कभी कभी पुत्र के अभाव में अनुज को भी युवराज बना दिया जाता था। गुहिल राजा अम्बाप्रसाद की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई युवराज शुचिवर्मा मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा था ।[3] सम्भवतः अम्बाप्रसाद के कोई पुत्र नहीं था। चन्द्रावती के परमार शासक धारावर्ष के काल में उसका छोटा भाई प्रहलाद युवराज पद पर कार्य कर रहा था ।[4] चाहमानों के अनेक अभिलेखों में युवराज और राजा के नाम साथ साथ दिये गये हैं ।[5] यदि राजा किसी बीमारी अथवा किसी अन्य कारण से स्वयं को प्रशासन के लिए सक्षम नहीं समझता था तो वह युवराज के पक्ष में सिंहासन परित्याग कर देता था। शाकम्भरी का अजयराज अर्णोराज को राज्य भार सौंप कर स्वयं पुष्कर के जगलों में चला गया था ।[6] बाप्पा का राजसिंहासन परित्याग कर सन्यास लेना और खुम्माण को राज्य कार्य सुपुर्द करना सुप्रसिद्ध है ।[7] बाउक के वि. सं. 894 के जोधपुर से प्राप्त अभिलेख[8] से ज्ञात होता है कि प्रतिहार तात ने अपने भाई भोज के पक्ष में राज्य का परित्याग किया था। इसी लेख में भिल्लादित्य द्वारा अपने पुत्र को राज्य देकर गंगा द्वार जाकर अनशन व्रत लेकर स्वर्गलोक प्राप्त किये जाने का उल्लेख है। वि. सं. 1053 के राष्ट्रकूट शासक धवल के अभिलेख[9] में कहा गया है कि वृद्धावस्था में उसने सांसारिक भोगों का परित्याग करके बलप्रसाद को राजा बना दिया था। 'नवसाहसांक-

---

1. राजपुत्र कीर्तिपाल का नाडौल अभिलेख, इ. आई., 9, पृ. 66
2. तिलकमन्जरी, पृ. 65 प्रतिपाल भाटिया द्वारा द परमारज़ के पृ. 207 पर उद्धृत।
3. हस्तिमाता मन्दिर अभिलेख, 'वीर विनोद', 1, पृ. 381
4. भीमदेव द्वितीय का वि. सं. 1265 का आबू का अभिलेख, हिस्टोरिकल इन्स्क्रिपसनस् ऑफ गुजरात, 2, सं. 161
5. इ. आई., 11, पृ. 28 व 33
6. चाहमान प्रशस्ति, अ. चौ. डा., पृ. 203-204। इस घटना का समर्थन 'पृथ्वीराज विजय' (पंचम, 184) से होता है जिसमें कहा गया है कि अजयराज ने स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से सांसारिक जीवन छोड़ दिया था।
7. एकलिंगमहात्म्य, 20, 21-22
8. इ. आई., 18 पृ. 95
9. वही, 10, पृ. 17-20

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चरित' से ज्ञात होता है कि सीयक ने अपना अन्तिम समय तपस्या में बिताने का निश्चय करके स्वयं ही वाक्पति मुन्ज को अभिषिक्त कर दिया था।[1]

युवराज के अतिरिक्त अन्य राजकुमार भी शासन कार्य में सहायता देते थे। आल्हण ने अपने दो पुत्रों केल्हण और गजसिंह को राज्य में महत्वपूर्ण पद दिये थे।[2] केल्हण को बाद में युवराज घोषित किया गया था।[3] राजकुमारों को अपनी जीविका के लिए जागीरें दी जाती थी।[4] कभी-कभी उन्हें प्रान्तों के शासक के रूप में भी नियुक्त किया जाता था। मण्डोर पर रत्नपाल, सहजपाल और गजसिंह का शासन रहा। वे चामुण्डराज के पुत्र व निकट के सम्बन्धी थे।[5] 12 वीं शताब्दी में आल्हण के काल में बाड़मेर का शासक उसका पुत्र कुमारसिंह था।[6]

महादेवी

राज्य में 'महादेवी' या 'महारानी' का पद सम्मानजनक था। प्रतिहार शासकों की मुहरों पर उनकी महादेवियों के नाम अंकित रहते थे। अन्तःपुर में महादेवी को विशेष अधिकार प्राप्त थे। प्रधान रानी को महारानी कहते थे और उसकी प्रतिष्ठा सभी रानियों से ऊंची होती थी। कतिपय जैन साहित्यिक ग्रन्थों में राजमहिषी या पटरानी शब्द का प्रयोग हुआ है। गुलाबचन्द रायचौधरी के अनुसार इसकी पुष्टि अभिलेखीय स्रोत से नहीं होती।[7] परन्तु उनकी धारणा अशुद्ध है। अभिलेखों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। यथा बाउक के जोधपुर से प्राप्त वि. सं. 894 के अभिलेख में भाटी वंश की महाराज्ञी पद्मिनी का उल्लेख हुआ है।[8] परमार यशोधवल के वि. सं. 1202 के सिरोही राज्य से प्राप्त अभिलेख में पटरानी सौभाग्यदेवी का उल्लेख हुआ है।[9] अन्य रानियों का पद क्रमानुसार निर्धारित होता था परन्तु राजा अपनी इच्छानुसार यह क्रम बदल सकता था। कतिपय महारानियां अत्यन्त प्रभावशाली थीं। चाहमान अजयराज की रानी सोमलादेवी का नाम

---

1. नवसाहसांक चरित, 11 वां, 86
2. वि. सं 1209 का किराडू अभिलेख, इ. आई., 11, पृ. 44
3. कीर्तिपाल का वि. सं. 1218 को नाडौल ताम्रपत्र, इ. आई., 9, पृ. 68
4. नाहर, पू. च., जैन लेख संग्रह 1, पृ. 128
5. बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ राजस्थान, पृ. 101
6. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी, 1909, पृ. 52
7. चौधरी, गुलाबचन्द्र, पालिटिकल हिस्टरी ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ. 339
8. इ. आई., 19, पृ. 95
9. आई. ए., 56, पृ. 12

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिक्कों पर अंकित किया गया था।[1] धारावर्ष की रानी श्रृंगारदेवी ने एक बावड़ी का निर्माण कराया था।[2] केल्हणदेव की रानी जाल्हणदेवी ने अनेक जैन मन्दिरों को अनुदान दिया था। जालौर से प्राप्त वि. सं. 1174 के एक अभिलेख में परमार वीसल की रानी मेलरदेवी द्वारा एक मन्दिर को सुवर्ण कलश चढ़ाये जाने का उल्लेख है।[3] गुहिल राजा अल्लट की रानी हरियादेवी ने हर्षपुर नामक गांव बसाया था।[4] यह रानी एक हूण राजा की पुत्री थी। अल्लट की माता रानी महालक्ष्मी वराह मन्दिर की व्यवस्था समिति की सदस्या थी।[5] शिलालेखों में रानियों के नाम दान और अनुदान देने के सम्बन्ध में प्रायः प्राप्त होते हैं।[6] किसी रानी के विधवा हो जाने पर यदि उसके पुत्र की आयु कम होती थी तो रानी कभी कभी राजकार्य का भी संचालन करती थी। सोमेश्वर की रानी कर्पूरदेवी ने अपने पुत्र तृतीय पृथ्वीराज के अल्पवयस्क होने के कारण शासन भार संभाला था।[7] चाहमान चन्दनराज की रानी रुद्राणी अथवा आत्मप्रभा का राज्य में प्रभाव और सम्मान था।[8] सम्भवतः राज्य के महत्वपूर्ण विषयों पर भी वह अपनी सलाह दिया करती थी।

राज सभा और केन्द्रीय प्रशासन

पूर्वमध्यकाल में राजदरबार सामान्यतः अत्यन्त भव्य होते थे। परवर्ती मुगलों के दीवाने आम और दीवाने खास के समान वहां बहिर-उपस्थान या महास्थान और आभ्यान्तरोपस्थान बने होते थे। बहिर उपस्थान प्रभावशाली जनों से मिलने एवं न्याय करने का स्थान था। महास्थान की बैठक में वे सभी लोग उपस्थित होते थे जिनका राजा व राज्य के लिए महत्व था। मंत्रिमण्डल के सदस्य, सेनापति, महाप्रतिहार, महामण्डलेश्वर, महासामन्त, महापुरोहित, धर्मस्थ, विद्वान् ब्राह्मण, कवि, वन्दकजन

---

1. इ. आई., 26, पृ. 84-112
2. जयन्तविजयजी, अर्बुदाचल प्रदक्षिणा-जैन लेख संदोह, पृ. 108-09
3. आई. ए,, 42, पृ. 41
4. शक्तिकुमार का आहड़ वि. सं. 1034 का अभिलेख, आई. ए,, 39, पृ. 191
5. वि. सं. 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति, आई, ए., 58, पृ. 161
6. अ. चौ. डा., पृ. 196
7. पृथ्वीराजविजय, 9, 1-34
8. वही, श्लोक 31 और 37

CC-0. Agamnigam Foundation. Chandigarh

(भाट-चारण), भाषाविद्, वैद्य, नाट्यशास्त्रज्ञ और ज्योतिषी तथा धातु-विज्ञान, शकुनशास्त्र और स्वप्न शास्त्र के पण्डित तथा गणिकायें आदि यहां आमन्त्रित किये जाते थे। वे उन सभी विषयों पर अपनी सम्मति प्रकट करते थे जिनका सम्बन्ध राज्य व प्रजा से होता था। यहां उन विषयों पर चर्चा होती थी जिनको गोपनीय रखने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी।[1] 'खरतरगच्छ पट्टावली' में तृतीय पृथ्वीराज के महास्थान का विस्तृत विवरण मिलता है। उसका फर्श चमकीली नीली मणियों से बना था। पुष्पों के पराग से इसका प्राडगणसुगन्धित रहता था। चांदनी के नील श्यामल रेशमी उल्लोचों से लटकती मोतियों की लड़ियां ऐसी प्रतीत होती थीं मानों नीले बादलों से लगातार जल धारायें बह रही हों। कहीं सुन्दर व नूतन वस्त्र तथा आभूषणयुक्त गणिकाएं राजसभा की शोभा बढ़ाती थीं तो कहीं गायक अपने मधुर कण्ठ से संगीत की अमृतधारा प्रवाहित करते थे। कहीं नीति विशारद और कुशाग्र बुद्धि वाले सचिव आचार और अनाचार की चर्चा करते थे तो कहीं चारण और भाट सामन्तों के शौर्य तथा औदार्य के गुण गाते थे।[2] हमारे अध्ययनकाल के कुछ समय बाद के जालौर के चाहमान राजदरबार का विवरण पद्मनाभ ने अपने ग्रन्थ 'कान्हडदे-प्रबन्ध' में दिया है[3]

आभ्यन्तरोपस्थान में राजा कतिपय विशिष्ट मन्त्रियों से मन्त्रणा किया करते थे। यहां रानी, राजकुमार, मित्र और राजा के निकट के सम्बन्धी भी राजनीतिक विषयों पर अपनी अपनी राय देते थे। धार्मिक विषयों पर राजा पण्डितों, कवियों और पुरोहितों से विमर्श किया करते थे। दरबार की व्यवस्था को नियमन करने में नायक पदाधिकारी की महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी।[4]

जैन मुनि महेश्वरसूरि, जिसे तत्कालीन शासन सम्बन्धी प्रचुर जानकारी थी, हमें सूचित करता है कि शासन का संचालन वस्तुतः मन्त्रिवर्ग ही करता था। राज्य के सभी उच्च पदाधिकारी मन्त्रियों से आदेश प्राप्त करते थे। राजा नीति विशारद और कुशाग्रबुद्धि मन्त्रियों द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करते थे।[5] प्राचीन राजनीति में श्रेष्ठ एवं कर्त्तव्यनिष्ठ मन्त्री राजा

---

1. रा. अ. ए., पृ. 316
2. शर्मा, चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, जयपुर, (1972), पृ. 47
3. कान्हड़देप्रबन्ध, अ. चौ. डा. में उद्धृत, पृ. 224
4. 'ललितविग्रहराज', आई. ए., 20, पृ. 201, पृथ्वीराजविजय, 11, पृ. 6-7
5. रा. अ. ए., पृ. 316

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के न केवल मित्र वरन गुरु माने गये हैं।[1] किन्तु राजा मन्त्रियों की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं होते थे। मन्त्रियों व उच्च पदाधिकारियों के पद साधारणतः वंशानुगत होते थे।[2] उदाहरणार्थ गुहिल शासकों के काल में मेवाड़ में मयूर,[3] उसका पुत्र श्रीपति[4] तथा श्रीपति का पुत्र मत्तट[5] तीनों अक्षपटलिक के पद पर वंशानुगत रूपेण रहे थे। वि.सं. 1201 के पाली से प्राप्त एक जैन अभिलेख में महामात्य आनन्द तथा उसके पुत्र महामात्य पृथ्वीपाल का उल्लेख हुआ है।[6]

मन्त्रियों की संख्या के विषय में 'स्मृतिकार' एक मत नहीं है। कौटिल्य लिखता है कि मन्त्रियों की नियुक्ति आवश्यकतानुसार की जानी चाहिये।[7] कामन्दक[8] के अनुसार 12 मन्त्री होने चाहिये जबकि बार्हस्पत्यों और औशनसों ने मन्त्रियों की संख्या क्रमशः 13 और 20 निश्चित की है। विचाराधीन काल के अभिलेखों में मन्त्रियों की संख्या का उल्लेख नहीं मिलता।

महामन्त्री या महामात्य

राज्य में महामन्त्री अथवा महामात्य का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। राजा स्वयं उसका आदर करते थे। राज्य के सभी मन्त्री, सामन्त और उच्चपदाधिकारी उसे सम्मानपूर्वक 'महामन्त्री' कह कर अभिवादन करते थे। 'कुवलयमाला' के अनुसार महामन्त्री का पद वंशानुगत था।[9] जैन अभिलेखों तथा जैन ग्रन्थों की पुष्पिकाओं से ज्ञात होता है कि राज्य शासन का

---

1. कामन्दक 3 31, 44-45
2. विचाराधीन काल से पूर्व भी वंशपरम्परा से चले आये हुए मन्त्रियों तथा उच्च पदाधिकारियों के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के रचयिता महादण्डनायक हरिषेण का पिता ध्रुवभूति महादण्डनायक था। द्वितीय चन्द्रगुप्त के उदयगिरि गुहा अभिलेख में वीरसेन को 'अन्वयप्राप्तसचिव' कहा गया है।
3. ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ. 124-133; आई.ए., 58, पृ. 162
4. बी.आई., 2, पृ. 70
5. सैसिल वैंडाल, जर्नी इन नेपाल, पृ. 82
6. पी.आर.ए.एस., डब्ल्यू.सी., 1907-08, पृ. 45
7. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, 2, पृ. 624
8. कामन्दक, 11/67-68
9. कुवलयमालाकहा, पृ. 32

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्पूर्ण कार्य महामन्त्री के अधीन रहता था।[1] वह राजकीय मुद्रा का प्रयोग करता था। उसका सभी विभागों, विशेषकर राजस्व विभाग पर नियन्त्रण रहता था।[2] चतुर्थ विग्रहराज के महामन्त्री श्रीधर और राजपुत्र सलक्षणपाल के नाम क्रमशः 'ललितविग्रहराज' नाटक और वि.सं. 1220 के शिवालिक स्तम्भ अभिलेख से ज्ञात है।[3] अल्हण के राज्यकाल में नाडोल में लक्ष्मीधर महामात्य पद पर आसीन था (वि.सं. 1218)।[4] केल्हण के शासनकाल (वि.सं. 1249) में बालण महामात्य के पद पर नियुक्त था।[5] जालौर के इतिहास में यशोवीर और जेता देवड़ा महामन्त्रियों के रूप में प्रसिद्ध हैं।[6] प्रतापसिंह के वि.सं. 1213 के नाडोल ताम्रपत्र में श्री कुमारपालदेव के महामात्य बाहड़देव का उल्लेख है।[7] तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के महामन्त्री कदम्बवास का उल्लेख 'पृथ्वीराजविजय'[8] तथा 'खरतरगच्छपट्टावली' में हुआ है। 'खरतरगच्छपट्टावली' में उसे 'मण्डलेश्वर' और 'सर्वाधिकारी' कहा गया है।[9] सम्भवतः वेतन के बदले में या उसके उच्च पद की गरिमा बढ़ाने हेतु उसे बहुत बड़ी जागीर प्रदान की गई थी। सभी सैन्य सम्बन्धी कार्य उसकी देख रेख में सम्पन्न होते थे। उसकी सेवा में एक हजार राजपूत घुड़सवार सदैव उपस्थित रहते थे। उसे एक स्थान पर 'सचिव' भी कहा गया है।[10] तृतीय पृथ्वीराज के काल में रामदेव का भी मन्त्री होना प्रमाणित है। जैन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उसने जैन संघ के संचालकों को एक सन्देश प्रसारित कर अनुरोध किया था कि वे जैन मूर्तियों को रेत के टीलों में छिपाकर रखें जिससे धर्मान्ध व्यक्तियों से उनकी रक्षा की जा सके।[11]

---

1. एस.जे.जी.एम., 18, पृ. 103, 106, 109, 110 आदि।
2. श्रिकरण, व्ययकरण, मण्डपिका-करण और कोस्तिक मुख्य विभाग थे। विस्तृत वर्णन के लिए दे., लेख पद्धति (गायकवाड़ सिरीज)।
3. (क) ललितविग्रहराज, आई.ए. 20, पृ. 201
   (ख) वि.सं. 1220 का शिवालिक स्तम्भ-अभिलेख, आई.ए., 19, पृ. 218
4. इ.आई., 9, पृ. 64
5. नाहर, जैन लेख संग्रह, 1, पृ. 265
6. अ.चौ.डा., पृ. 182-83
7. आई.ए., 41, पृ. 202-03
8. पृथ्वीराजविजय, 9, 36-44
9. खरतरगच्छपट्टावली, पृ. 25-33
10. जोनराज ने पृथ्वीराजविजय, 9, श्लोक 36-37 की टीका करते समय उसे सचिव भी कहा है।
11. कनयनयनिय महावीर प्रतिमाकल्प, सोमानी द्वारा उद्धृत पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज़ टाइम्स, पृ. 89

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सान्धिविग्रहिक

सान्धिविग्रहिक शांति और युद्ध का मन्त्री होता था। गुहिल शासक अल्लट का सान्धिविग्रहिक दुर्लभराज था।[1] कल्याणपुर के गुहिल शासकों द्वारा दिये गये दानपत्रों में सान्धिविग्रहिक का उल्लेख मिलता हैं।[2] वि.सं. 1209 के किराड़ू अभिलेख का रचयिता सान्धिविग्रहिक ठाकुर खेलादित्य था।[3] पृथ्वीराज के काल में सोढ़ का पुत्र वामन सान्धिविग्रहिक था।[4] वि.सं. 1277 के जगत अभिलेख में सान्धिविग्रहिक विल्हण का उल्लेख है। जिसने रुणीजा नामक गांव एक मन्दिर को अर्पित किया था।[5] अर्जुनवर्मा के सान्धिविग्रहिक बिलण और राजसलक्षण थे।[6] परमार अभिलेखों से ज्ञात होता है कि परमार सामन्त भी अपने-अपने सान्धिविग्रहिकों की नियुक्ति करते। यथा योगेश्वर को यशोवर्मा का सान्धिविग्रहिक बताया गया है।[7] वागड़ के सामन्त शासक विजयराज का सान्धिविग्रहिक वामन था।[8] सान्धिविग्रहिक से दौत्यकला में प्रवीण तथा लोक व्यवहार में कुशल होने की अपेक्षा की जाती थी। 'यशस्तिलकचम्पू' में सान्धिविग्रहिक के गुणों का वर्णन है। किसी व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त करते समय यह ध्यान रखा जाता था कि वह अध्ययनशील, कुशल लेखक, भाषाविद् और विभिन्न लिपियों का ज्ञाता हो, विषमतम परिस्थितियों में भी विचलित न होता हो तथा सभी प्रकार की राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने में सक्षम हो।[9] महिपाल के राज्यकाल में हडाला दानपत्र सान्धिविग्रहिक महिन्दक ने तैयार किया था।[10] सान्धिविग्रहिकों को विशेष प्रयोजन से विदेशी शासकों, अधीनस्थ शासकों और सामन्तों के पास भी भेजा जाता था।[11]

---

1. आई.ए., 58, पृ. 161
2. इ.आई., 34, पृ. 170-73
3. वही, 12, पृ. 44। खेलादित्य का नाम ओझा दान पत्र संख्या दो में भी मिलता है (अ.चौ.डा., पृ. 213)
4. आई.एच.क्यू., 16, सं. 3, पृ. 569-70
5. ए.आर.आर.एम., अजमेर, 1914-15, पृ. 3
6. जे.ए.एस.बी., 5, पृ. 278
7. इ.आई., 19, पृ. 73; वही, 2, पृ. 44-45
8. वही, 21, पृ. 54
9. यशस्तिलकचम्पू, पृ. 740
10. एच.आई.जी., 3, सं. 236
11. रा.थ्रू.ए., पृ. 318, पाद टिप्पणी, 2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महादण्डनायक अथवा महासेनापति

पूर्वमध्यकाल में महादण्डनायक या महासेनापति का पद महत्वपूर्ण था। राजा महासेनापति से सभी सैन्य सम्बन्धी विषयों पर मन्त्रणा किया करते थे। समसामयिक साहित्यिक ग्रंथों में चाहमान शासकों के अनेक सेनापतियों के नाम मिलते हैं। चतुर्थ विग्रहराज का सेनापति सिंहबल था।[1] अल्प-वयस्क तृतीय पृथ्वीराज के काल में सेनापति के पद का भार सम्भवतः भुवनैकमल्ल ने सम्भाला था।[2] तत्पश्चात् इस पद पर स्कन्द का आसीन होना ज्ञात है।[3] साधनिक[4] और दुस्साधय[5] या दुस्साधनिक[6] (अश्वपति) तथा बलाधिप[7] (कस्बों के सेनाधिकारी) सीधे सेनापति के अधीन कार्य करते थे। सैन्य प्रशासन संचालन हेतु राजधानी में एक अधिकरण अथवा कार्यालय था जिसे बलाधिकरण कहते थे।[8] यह विभाग राजा और सेनापति के निर्देशन में कार्य करता था। सैनिक प्रशासन के अन्तर्गत इन पदाधिकारियों के कर्त्तव्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

अक्षपटलिक

इस पदाधिकारी का प्रमुख कार्य राज्य के आय-व्यय का विवरण रखना था। इस विषय में भोज के सागरताल अभिलेख से कुछ संकेत मिलता है।[9] इसे राज्य का सर्वोच्च लेखाधिकारी कहा जा सकता है। लक्ष्मीधर के अनुसार उसे राज्य की आय, व्यय तथा उपज सम्बन्धी सभी जानकारी होती थी।[10]

---

1. अ.चौ.डा., पृ. 69, पाद टिप्पणी, 33
2. पृथ्वीराजविजय, 9, पृ. 86-88
3. द्र. विरुद्धविधिविध्वंश
4. राजस्थान में कालान्तर में इसे साहणी कहने लगे थे।
5. इ.आई., 2, पृ. 119
6. वही, 11, पृ. 308
7. सेवाडी से प्राप्त वि.सं. 1172 के अभिलेख में यशोदेव बलाधिप का उल्लेख हुआ है। वह नगर व्यवस्था में पूर्णतः निष्पक्षता से कार्य करता था। उसे स्थानीय नागरिकों और राज्य दोनों का विश्वास प्राप्त था। उल्लेखनीय है कि यह अभिलेख सेनापति की विशेषताओं पर प्रकाश डालता है जो इस पदाधिकारी की नियुक्ति के लिए आवश्यक प्रतीत होती है। इ.आई., 11, पृ. 30
8. अ.चौ.डा., पृ. 225
9. इ.आई., 18, पृ. 99-114
10. दे. रा.अ.ए., पृ. 319, पाद टिप्पणी, सं. 2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह अभिलेखागार का भी सर्वोच्च अधिकारी होता था और जागीरें तथा दानपत्रों की व्यवस्था करता था।[1] मेवाड़ के शासक अल्लट के मयूर और समुद्र नामक दो अक्षपटलिक थे।[2] नरवाहन के काल में मयूर का पुत्र श्रीपति[3] और शक्तिकुमार के समय श्रीपति का पुत्र मत्तट इस पद पर नियुक्त किये गये थे।[4]

भाण्डागारिक

समसामयिक ग्रंथों में भाण्डागारिकों को कोष और आभूषणों से संबंधित कार्य करने वाला बताया गया है। 'समराइच्चकहा' में इनके सम्बन्ध में विवरण मिलता है। इस ग्रंथ में छैल्लभाण्डागारिक पदाधिकारी का भी उल्लेख हुआ है।[5] वह राजकीय आभूषणों के भण्डार का पदाधिकारी होता था। दशरथ शर्मा ने भाण्डागारिकों की तुलना कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' में निर्दिष्ट सन्निधाताओं से की है।[6] नाडोल की चाहमान शाखा के संस्थापक लक्ष्मण ने अपनी वैश्य स्त्री से उत्पन्न पुत्रों को राजकीय भण्डारों को सम्भालने का काम दिया था। वे भाण्डागारिक कहलाते थे।[7]

महाप्रतिहार या दौवारिक[8]

महाप्रतिहार सदैव राजा के निकट रहने वाला तथा राजसभा का सर्वोच्च पदाधिकारी था। वह सभी दरबारियों से अनुशासित रहने की अपेक्षा करता था। बड़े-बड़े सामन्त भी अपने स्वामी के महाप्रतिहार बनने के लिए इच्छुक रहते थे। सियोडनी का उन्दभट्टः जो महासामन्ताधिपति था, महाप्रतिहार पद पर नियुक्त था।[9] वसन्तगढ़ से प्राप्त वि.सं. 682 के एक

1. तिलकमन्जरी, पृ. 84
2. आई.ए., 58, पृ. 161
3. बी.आई., 2, पृ. 70
4. जर्नी इन नेपाल, पृ. 82
5. समराइच्चकहा, पृ. 89, 171, 198
6. अ.चौ.डा., पृ. 227, 'हम्मीरमहाकाव्य' से पता चलता है कि जाहड खाद्यान्न और कोष से सम्बन्धित था।
7. 'भाण्डारिक' शब्द से 'भण्डारी' बना है। भण्डारी अब वैश्य वर्ण में परिगणित है। वे परम्परा से राजकीय खजाने तथा रसद से सम्बन्धित रहे हैं। ('नैणसी री ख्यात', 1, पृ. 152, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. 101-102)
8. तिलकमन्जरी, पृ. 58; इ.आई., 11, पृ. 39
9. इ.आई., 1, पृ. 173

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेख में प्रतिहार पदाधिकारी मोटक का उल्लेख है।[1] 'तिलकमन्जरी' में महाप्रतिहारों के कर्त्तव्यों पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है।[2]

धर्मस्थ तथा पुरोहित

'धर्मस्थ' न्याय विभाग का उच्चाधिकारी होता था। वह राजा को न्याय करने में सहयोग देता था। उसका मुख्य कार्य यह देखना था कि किसी के साथ अन्याय न हो। आध्यात्मिक और धार्मिक मामलों में राजा प्रायः महापुरोहित से भी परामर्श करता था। उसके लिए कहीं 'व्यास' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। हमारे अध्ययनकाल के तुरन्त बाद रचित 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'कान्हड़देप्रबन्ध' में क्रमशः पुरोहित विश्वरूप और व्यास सोमचन्द्र के नाम आते हैं।[3] 'तिलकमन्जरी' में महापुरोहित या पुरोहित का उल्लेख हुआ है। महापुरोहित ब्राह्मण विद्यार्थियों के अध्ययन व्यवस्था का निरीक्षण भी किया करता था। हम्मीरकालीन रणथम्भौर में पुरोहित के स्थान पर पौराणिक नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है।[4]

भोजदेव के वराह ताम्रपत्र[5] में 'व्यवहारी' नामक पदाधिकारी का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः वह न्याय विभाग का पदाधिकारी था और सभी विषयों के कानूनी दृष्टिकोण का विश्लेषण किया करता था। दौलतपुरा दानपत्र को पुनरावर्तित के पूर्व उसकी व्यवहारी द्वारा जांच किये जाने का उल्लेख है।[6]

राजदरबार से सम्बन्धित अन्य अनेक पदाधिकारी होते थे। इनमें महा-वैद्य या भिषगाधिराज, नैमतिक (ज्योतिषी), बन्दी पुत्र (भाट) और अन्तर्वंशिक (अन्तःपुर का पदाधिकारी) विशेषतः उल्लेखनीय हैं। गुप्त संवत् 407 के धोड़ अभिलेख में गियक वैद्य का उल्लेख हैं।[7] सारणेश्वर प्रशस्ति में भिषगाधिराज रुद्रादित्य का नामोल्लेख है।[8] सारणेश्वर प्रशस्ति में नाग नामक बन्दी पुत्र का उल्लेख हुआ है।[9]

---

1. वही, 9, पृ. 191
2. तिलकमन्जरी पृ. 57-58
3. कान्हडदेप्रबन्ध, 4, श्लोक 139
4. इ.आई., 19, पृ. 32
5. वही, पृ. 15-19
6. वही, 5, पृ. 229
7. वही, 12, पृ. 12
8. बी.आई., पृ. 67
9. वही

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेखों में यत्र-तत्र नियुक्तक, आनियुक्तक तथा गमागमिक जैसे पदाधिकारियों के नाम भी मिलते हैं। मथनदेव के वि.सं. 1016 के राजौर से प्राप्त अभिलेख में नियुक्तक का उल्लेख है।[1] किन्तु इसमें इस पदाधिकारी के कर्त्तव्यों पर प्रकाश नहीं पड़ता। 'उपमितिभवप्रपंचकथा' में महानसन्नियुक्तक को राजकीय पाकशाला का पदाधिकारी बताया गया है।[2] इसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नियुक्तक विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे। इस ग्रंथ में आनियुक्तक का उल्लेख भी है।[3] सम्भवतः यह पदाधिकारी किसी मन्त्री या उच्च पदाधिकारी के पास सहायक के रूप में कार्य करता था। राजौर अभिलेख में गमागमिक पदाधिकारी का उल्लेख हुआ है।[4] 'बृहत्कथाकोष' में गमागम के स्थान पर 'गतागत' शब्द का प्रयोग है।[5] दशरथ शर्मा के अनुसार यह राजदूत या राजभृत्य था। उसका कार्य राजा के आदेश पत्रों को निर्धारित पदाधिकारी के पास पहुँचाना था।[6]

एक अन्य कनिष्ठ पदाधिकारी 'पारिग्रही' का भी उल्लेख मिलता है। पारिग्रही राजा के आदेश पत्रों की प्रतियां तैयार किया करता था। वि.सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख से ज्ञात होता है कि यह दान पत्र आल्हण पारिग्रही द्वारा तैयार किया गया था।[7]

राजस्व व्यवस्था

राज्य की आय के तीन प्रमुख परम्परागत साधन थे—भाग (उपज में राजा का भाग), शुल्क (चुंगी) एवं दण्ड से प्राप्त धन। राज्य में कृषक, श्रमिक, व्यापारी तथा शिल्पकार प्रमुख करदाता होते थे। इनकी रक्षा का दायित्व राजा पर था, अतः राजा को उनसे कर, भाग और शुल्क लेने तथा

---

1. इ.आई., 3, पृ. 263-67
   पंचम विक्रमादित्य के कौथेम ताम्रपत्र (आई.ए., 16, पृ. 15) तथा कर्क्क सुवर्ण वर्ष की ब्राह्मणपल्ली दान पत्र (एच. आई. जी., 3, पृ. 141) में नियुक्तक का उल्लेख मिलता है।
2. उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ. 10
3. वही, पृ. 126
4. इ.आई., 3, पृ. 263-67
5. बृहत्कथाकोष, 55, 217
6. रा.अ.ए., पृ. 323
7. इ.आई., 26, पृ. 90-100

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
उन पर दण्ड लगाने का अधिकार था। हमारे अध्ययन काल के अभिलेखों व दानपत्रों में राज्य की आय के निम्नलिखित साधन उल्लिखित हैं–

(1) भाग या उद्रङ्ग
(2) हिरण्य
(3) भोग
(4) शुल्क, जो मण्डपिका पर वसूल किये जाते थे
(5) दण्ड
(6) आभाव्य या फुटकर कर।

भाग और उद्रङ्ग शब्दों को परिभाषित करने का विभिन्न प्रभति विद्वानों ने प्रयास किया है।[1] ए.एस. अल्तेकर ने उद्रङ्ग को 'भाग कर' की संज्ञा दी है। वी.वी. मिराशी ने भी उद्रङ्ग को भागकर के अनुरूप ही स्वीकार किया है। दशरथ शर्मा ने इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि उद्रङ्ग भूमिकर के रूप में उन व्यक्तियों से लिया जाता था जो अपनी परम्परागत भूमि जोतते थे। यह भूमि कर अभिलेखों में उद्रङ्ग के स्थान पर 'भाग' भी कहा गया है। अल्तेकर से सहमति प्रकट करते हुए वह भी उद्रङ्ग और भाग कों पृथक् कर नहीं मानते। परन्तु लल्लनजीगोपाल उद्रङ्ग और 'भाग' को दो अलग-अलग भूमि करों के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने इस मत के समर्थन में कोई ठोस प्रमाण नहीं दिये हैं। उनका कहना है कि 'उद्रङ्ग' और 'भाग' दोनों शब्दों का एक ही स्थान पर एक गुप्तकालीन अभिलेख[2] में उल्लेख हुआ है। परन्तु विचाराधीनकाल में उद्रङ्ग और भाग शब्दों का राजस्थान के अभिलेखों में एक साथ प्रयोग देखने में नहीं आता। अतः हमारे विचार से कम से कम विचाराधीन युग के राजस्थान में उद्रङ्ग और भाग एक ही भूमिकर का नाम था जो स्थायीकृषकों से वसूल किया जाता था।

भाग या उद्रङ्ग एक निश्चित भूमिकर था। यह सामान्यतः उपज का 1/6 भाग होता था। यह अनाज के रूप में वसूल किया जाता था। स्मृतिकारों ने राजा को उपज का 1/6, 1/8 और 1/12 हिस्सा 'भाग' के रूप में प्राप्त करने का अधिकारी बताया है। 'राजनीतिप्रकाश' के आधार पर 'विष्णुधर्मोतर' में कहा गया है कि राजा शूकधान्य (जौ, गेहूँ इत्यादि) का

---

1. भाग, भोग, हिरण्य, उद्रङ्ग, उपरिक इत्यादि शब्दों के विश्लेषण हेतु द्र., लल्लनजीगोपाल, द इकोनोमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ. 32-43
2. कार्पस, 3, 39

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1/6 भाग, शिम्बीधान्य (दाल) का 1/8 भाग, वर्षों से न जोते गये खेत (बंजर भूमि) से उत्पन्न अन्न का 1/10 भाग तथा वर्षा ऋतु में उत्पन्न अन्न का 1/6 हिस्सा भाग के रूप में लेने का अधिकारी है।[1] तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के वि. सं. 1236 के फलोदी अभिलेख में उपज का 1/5 भाग कर के रूप में लिये जाने का उल्लेख है।[2] सम्भवतः भूमि के प्रकार और उर्वरता को ध्यान में रखकर ही 'भाग' की मात्रा निश्चित की जाती थी। जैसा कि ऊपर कहा गया हैं राजस्थान में भाग को उद्रङ्ग भी कहा जाता था। उद्रङ्ग उन कृषकों से लिया जाता था जिनका भूमि पर आनुवांशिक अधिकार होता था। परन्तु कुछ भूमि इस प्रकार की होती थी जिस पर कोई भी व्यक्ति खेती कर सकता था। इस प्रकार की खेती से राज्य 'भाग' के रूप में जो कर लेता था वह 'उद्रङ्ग' से कुछ अधिक होता था। इसका संकेत हमें राजौर अभिलेख में मिलता है।[3]

राजा जब उपज का हिस्सा मुद्रा के रूप में लेता था तो वह कर 'हिरण्यक' कहलाता था। द्वितीय ध्रुव के शक संवत 757 के बड़ौदा दानपत्र में 'हिरण्य' और 'धान्य' विपरीतार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हैं।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि 'हिरण्य' नामक कर मुद्रा के रूप में लिया जाता था। राजस्थान के अभिलेखों में 'हिरण्य' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।[5]

राजस्थान के अभिलेखों में भोग नामक भूमि कर का भी उल्लेख है। ग्रामवासी फल, सब्जी, पुष्प, दूध, दही, लकड़ी इत्यादि राजा को उसके सैद्धान्तिक भू-स्वामित्व के बदले दिया करते थे। इसे भोग कहा जाता था। हरिषेण रचित 'वृहत्कथाकोष' में राजा के दशांगभोगों का उल्लेख मिलता है।[6] अल्तेकर ने 'भोग' को उपरिकर की संज्ञा दी है परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिए हैं। कर्णदेव के वि. सं. 996 के नौसारी ताम्रपत्र में 'उपरिकर' और 'भोग' शब्दों का एक साथ प्रयोग होना इस मत के विरुद्ध है।[7] मथनदेव के एक दानपत्र में 'भोग' और 'भाग' का एक साथ उल्लेख

---

1. काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, 2, पृ. 671
2. जे. पी. ए. एस. बी., 12, पृ. 93
3. इ. आई., 3, पृ. 263
4. एच. आई. जी., 2, सं. 127
5. रा. ग्रू. ए., पृ. 325 पर उद्धृत
6. दशांगभोग–भाजन, भोजन, शय्या, वाहन, आसन, नाट्य, पुर, निधि, रत्न और चमू।
7. एच. आई. जी., पृ. 23

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है ।[1] इगनौड़ा अभिलेख में 'हिरण्यक भाग भोग करदानी समेतम्' शब्दों का प्रयोग हुआ है ।[2] कल्हणदेव के साण्डेराव प्रस्तर अभिलेख में राजकीय 'भोग' का विवरण दिया गया है ।[3]

'दान' और 'शुल्क' आयात और निर्यात पर लिये जाने वाले 'चुंगी' कर थे । ऐसे करों को 'मण्डपिका' अर्थात चुंगी चौकी पर चुकाना होता था । एक राज्य में ऐसी अनेक मण्डपिकाएं होती थीं । वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए कई जगह चुंगी देनी होती थी । 'मण्डपिका' पर वसूल किये जाने वाले 'शुल्क' से धार्मिक स्थानों की व्यवस्था के लिए कुछ धन-राशि दिये जाने के उदाहरण भी मिलते हैं । नाडोल शासक अणहिल्लदेव ने इस नगर में स्थित षेडेरकगच्छ के उपास्यदेव भगवान महावीर की पूजा के लिए धूप-दीप की व्यवस्था हेतु मण्डपिका की आय में से प्रति माह 5 द्रम्म देने की घोषणा की थी ।[4] प्रतापसिंह के नाडोल से प्राप्त वि. सं. 1213 के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि तीन जैन मन्दिरों के निर्वाह हेतु बादरी नगर की मण्डपिका से प्रति दिन एक रूपक का दान दिया जाता था ।[5] चौलुक्य शासक कुमारपाल ने नाडोल स्थित लक्ष्मणेश्वर मन्दिर को मण्डपिका की आय से एक द्रम्म प्रतिदिन दिये जाने का आदेश दिया था ।[6] हस्तिकुण्डी के विदग्ध ने 'परहित तथा जनकल्याण के लिये मण्डपिका के माध्यम से दान देने' की व्यवस्था की थी । मन्दिर का निर्माण विदग्धराज ने अपने गुरु बलभद्र के लिए करवाया था । उसके उत्तराधिकारी ने भी इस पूर्व स्वीकृत दान को अनुमोदित किया था । उक्त अभिलेख में दान के स्वरुप का विस्तृत वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है —

(1) विक्रयार्थ जाने वाली प्रति 20 गांठों पर एक रूपक,
(2) प्रति गाड़ी पर एक रूपक (जो गांव से वस्तु विक्रय हेतु बाहर जाती हो अथवा गांव में आती हो),
(3) प्रत्येक घाणी से एक घड़े (तेल) पर एक रूपक,
(4) पान विक्रेता भट्टों से 13 चौल्लिक,
(5) धूतकों से एक एक पेल्लक,

---

1. वीर विनोद, 4, पृ. 1531-32
2. आई. ए., 6, पृ. 55-56
3. इ. आई., 11, पृ. 47
4. वही., 9, पृ. 62
5. आई. ए., 41, पृ. 202
6. ए.आर.आर.एम.ए., 1937 नं. 8

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(6) प्रत्येक अरहट्ट से एक आढ़क गेहूँ व जौ,
(7) पेडा से 5 पल,
(8) प्रत्येक भार (जो 200 पलों का होता है) पर विंशोपक,
(9) प्रत्येक भार (सूत, ताम्बा इत्यादि) पर 10 पल,
(10) गेहूँ, मूंग, नमक, दाल इत्यादि के प्रति द्रोण पर एक माणक।

राज्य को करों के रूप में होने वाली आय के उक्त अंश दान स्वरूप दिये गये प्रतीत होते हैं। इसमें 2/3 भाग मन्दिर को दिया गया था और 1/3 भाग बलभद्र को गुरु दक्षिणा स्वरूप।[1] सारणेश्वर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि राजा ने मन्दिर की व्यवस्था के लिए उधर से गुजरने वाले प्रत्येक हाथी पर एक द्रम्म, घोड़े पर दो रूपक, सींग वाले जानवरों पर एक द्रम्म का चालीसवां अंश, लाटे पर एक तुला, वहां स्थित हट्ट से एक आढ़क अन्न, शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन हलवाई की प्रत्येक दुकान से एक घड़िया दूध, जुआरी से एक पेटक, प्रत्येक घाणी से एक पल तेल, प्रति रंघनी (भोज) से एक रूपक और मालियों से प्रति दिन एक माला लिये जाने की व्यवस्था की थी।[2] मंगरोल अभिलेख के अनुसार इस प्रकार के शुल्कों की अदायगी शुल्क मण्डपिकाओं में की जाती थी।[3]

शुल्क राज्य की आय का प्रमुख स्रोत माना जाता था। शुल्क दरों के सम्बन्धों में स्मृतिकारों में मतैक्य नहीं है। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के अनुसार राजा आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर 20 प्रतिशत कर लेने का अधिकारी था।[4] 'अग्निपुराण' में कहा गया है कि विदेशी व्यापारियों से लिये जाने वाले शुल्क की दर अधिक होनी चाहिये। उसे 5 प्रतिशत से अधिक लाभ नहीं मिलना चाहिये।[5]

शुल्क दो प्रकार के होते थे। प्रथम वे जो स्थल मार्ग द्वारा लाये जाने वाले सामान पर लिये जाते थे। उनकी वसूली मण्डपिका के माध्यम से होती थी। दूसरे वे जो जल मार्ग द्वारा लाये जाने वाले सामान पर लिये जाते थे। इनकी वसूली घाटों पर स्थित चौकियों पर की जाती थी। राजस्थान में इस प्रकार के शुल्क का उल्लेख अभिलेखों में अनुपलब्ध है। परमार

---

1. इ.आई., 10, पृ. 17-20
2. आई.ए., 58, पृ. 161-62
3. एच.आई.जी., 2, सं. 145
4. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2/261
5. अग्निपुराण, 23, 23-24

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्य में प्रथम प्रकार के शुल्क को मण्डपिकादाय तथा द्वितीय प्रकार के शुल्क को घट्टादाय की संज्ञा दी गई थी।[1]

परमार राज्य में चुंगी कर का कुछ विस्तृत ज्ञान अथूर्णा अभिलेख से होता है। इस अभिलेख में विभिन्न प्रकार के चुंगी करों और उनकी दरों का विस्तृत विवरण दिया गया है[2] जो इस प्रकार है :—

(1) कन्दयुक्त खांड और गुड़ के प्रत्येक भरक पर एक वर्णिका लिया जाता था।

(2) बंगाल, मंजिष्ठ, सूत और रुई के प्रत्येक भरक पर एक रूपक चुंगी कर के रूप में लिया जाता था।

(3) नारियल के प्रत्येक भरक पर एक नारियल चुंगी के रूप में लिया जाता था।

(4) नमक के प्रत्येक मूटक पर एक मानक की दर से कर लिया जाता था।

(5) प्रत्येक एक हजार सुपारियों पर एक सुपारी की दर से चुंगी ली जाती थी।

(6) तिल्ली के तेल और घी के प्रत्येक घटक पर एक पलिका चुंगी ली जाती थी।

(7) वस्त्रों की प्रत्येक कोटिका पर डेढ़ रूपक चुंगी लगती थी।

(8) प्रत्येक जाल (पूलों का गटा) पर दो पूलक चुंगी ली जाती थी।

(9) प्रत्येक लगडा पर दो सन्त चुंगी कर के रूप में वसूली होती थी।

(10) तेल के प्रत्येक कर्ष पर एक पाणक चुंगी लगती थी।

(11) घास की प्रत्येक गाड़ी या बैल पर एक वृष विंशोपक चुंगी वसूल की जाती थी।

(12) खाण्ड के प्रत्येक ढेर पर एक द्रम्म चुंगी ली जाती थी।

(13) एक अरहट्ट पर जौ की उपज पर एक हारक की वसूली होती थी।

(14) अनाज के प्रत्येक भरक पर एक छांग।

(15) प्रत्येक लगडा पर एक चकातर।

(16) जौ के प्रत्येक मूटक या आटविक पर एक वाप चुंगी कर के रूप में ली जाती थी।

इस अभिलेख से आबकारी का बोध भी होता है। कलारों से उनके प्रत्येक वंवक पर चार रूपक की दर से कर वसूल किया जाता था।[3]

---

1. द परमाराज़, पृ. 232
2. इ.आई., 14, पृ. 295-310
3. वही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राहदारी या मार्गादाय (यातायात कर) जैसे कर लेने की भी प्रथा थी। चौलुक्य[1], गाहडवाल[2] तथा चाहमान[3] अभिलेखों से इस विषय में जानकारी मिलती है। पनहेरा अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रथम जयसिंह ने राजपथ से जाने वाले लद्दू बैल पर एक विंशोपक की दर से कर वसूली करवाई थी।[4] शेरगढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि वरंग नाम के मार्गदाय कौपतिक ने वि. सं. 1075 में भगवान सोमनाथ के मन्दिर में धूप और चन्दन की व्यवस्था के लिए मार्गादाय की निधि में से पांच वृषभ दान किया था।[5]

अथूर्णा अभिलेख से जानकारी मिलती है कि चैत्रमास में केसर की दुकानों से प्रति दुकान एक द्रम्म कर लिया गया था। इसी प्रकार चैत्रमास में उत्सवों तथा उपनयन संस्कार हेतु स्थानीय बाजार के व्यापारियों से प्रति घर एक द्रम्म शुल्क लिया जाता था। इसी प्रकार का शुल्क व्यापारी संघों से भी लिया जाता था।[6] अथूर्णा अभिलेख से ही ज्ञात होता है कि बांसवाड़ा क्षेत्र में प्रत्येक द्यूतगृह से दो रूपक कर लिया जाता था।[7] इसी अभिलेख में गृहकर सम्बन्धी जानकारी भी मिलती है। राज्य में प्रत्येक घर से एक द्रम्म की दर से गृह कर वसूल करने की प्रथा थी।[8]

'चोलपिका' नामक कर का विवरण भी प्राप्त होता है। नगर के बाहर से आये प्रत्येक चौल्लिका पर 50 ताम्बूल पते कर के रूप में लिये जाते थे। परमार शासक प्रतापसिंह के पटनारायण अभिलेख के अनुसार मण्डौली गांव की 'चोलपिका' से प्राप्त आय को राजपुत्र गंगा और करमसिंह ने पटनारायण मन्दिर में एकादशी के खर्चे के लिए दान में दी थी।[9]

'दण्ड' के अन्तर्गत वे कर परिगणित किये जाते थे जो अपराधियों से दण्ड स्वरूप लिये जाते थे या जिन्हें पराजित शत्रु को देने के लिए बाध्य किया जाता था। इसमें मुद्रा, द्रव्य, वस्तु, पशु इत्यादि सम्मिलित होते थे। स्मृतिकारों ने दस अपराधों का उल्लेख किया है। नारद ने इन अपराधों

---

1. आई. ए., 6, पृ. 204
2. इ. आई., 14, पृ. 194-95
3. वही, 11, पृ. 59-60
4. वही, 21, पृ. 48
5. वही, 23, पृ, 140
6. वही, 14, पृ. 302
7. वही
8. वही
9. वही, 45, पृ. 79

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की यह सूची दी है— राजा की आज्ञा का उल्लंघन, स्त्रीवध, वर्णसंकरता, परस्त्रीगमन, चौर्य, बिना पति के गर्भाधारण, वाक् पारुष्य (मान हानि), अश्लीलता, दण्ड पारुष्य (मार पीट) एवं गर्भपात। इन अपराधों के लिए अर्थदण्ड की व्यवस्था थी। यदि कोई व्यक्तिगत रूप से आवेदन न करे तब भी राजा ऐसे मामलों में अपनी ओर से अनुसंधान कर सकता था।[1] हमारे अध्ययन काल के अभिलेखों व दानपत्रों में 'दशापराध' सम्बन्धी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2]

वि.सं. 1209 के आल्हणदेव के किराडू अभिलेख[3] और गुजरात के कुमारपाल चौलुक्य के काल के रत्नपुर (मारवाड़) अभिलेख[4] के अनुसार महीने की कुछ विशिष्ट तिथियों (यथा अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी और अमावस्या) को पशुओं का वध अपराध घोषित किया गया था और ऐसे अपराधी से अर्थदण्ड लेने की व्यवस्था की गई थी। किराडू लेख में ब्राह्मणों, पुरोहितों, मन्त्रियों और अन्य राजकीय सेवकों को भी इस अपराध के लिए 5 द्रम्म दण्ड देना निश्चित किया गया था। रत्नपुर अभिलेख में ऐसे अपराधी को 4 द्रम्म दण्ड दिये जाने का उल्लेख है।

जब कोई ग्राम कृषि कार्य के लिए किसी को दे दिया जाता था तब सामान्यतया उस गांव की अर्थदण्ड धनराशि उसके स्वामी की ही समझी जाती थी जबकि उसकी वसूली वस्तुतः ग्राम "भोक्ता" द्वारा होती थी।[5]

उपर्युक्त करों के अतिरिक्त अन्य कई कर भी लिये जाते थे जिन्हें 'आभाव्य' की संज्ञा दी गई थी। द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख में 'स्कन्धक' 'मारगणक' आदि करों के लिए 'आभाव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है।[6] 'स्कन्धक' कर कन्धों पर ले जाने वाले सामान पर लिया जाता रहा होगा। अल्तेकर के अनुसार 'स्कन्धक' एक लाग थी। ग्रामवासी दौरा करने वाले राजकीय अधिकारी का सामान ढोने का प्रबन्ध करते थे। उनका सामान कंधे पर उठा कर ले जाया जाता था। इसलिए इस लाग का नाम ही 'स्कन्धक' प्रचलित हो गया था।[7] स्थानीय संस्थाओ को गांव या नगर के सार्वजनिक

---

1. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 716, 717
2. इ.आई., 3, पृ. 263
3. वही, 11, पृ. 44
4. बी.आई., पृ. 205-07
5. द्र., लेख पद्धति, पृ. 12 और 16
6. इ. आई., 14, पृ. 176-188
7. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. 205; द्र. इ. आई., 3, पृ. 266

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपयोगी कामों में इस बेगार (स्कन्धक) का उपयोग करने का अधिकार होता था ।

'मारगणक' एक अन्य लाग अथवा कर था जो ग्रामवासियों व नगर-वासियों से वसूल किया जाता था । दशरथ शर्मा के अनुसार कुछ विशेष प्रयोजन हेतु राजकीय कर्मचारियों और ग्राम पंचों को अपने क्षेत्र में लोगों के पास चन्दा मांगने के लिए जाना पड़ता था । इस धनराशि का राजकीय उच्च पदाधिकारियों या राजपरिवार के सदस्यों के आगमन पर उपयोग किया जाता था ।[1]

मण्डपिकाओं के माध्यम से तलाराभाव्य, सेलहथाभाव्य और बलाधिपाभाव्य आदि करों को वसूल करने का उल्लेख मिलता है । तलार[2] (नगर कोतवाल) सेलहथ[3] (ग्रामीण क्षेत्र का पदाधिकारी) और बलाधिप[4] (सैनिक अधिकारी

---

1. रा.श्रू.ए., पृ. 327-328; द्र. (i) वि.सं., 1231 का द्वितीय अजयपाल का ताम्रपत्र, एच.आई.जी., 2, सं. 157 (ii) कलचुरी राजा विजयसिंह का कुम्भी ताम्रपत्र, कार्पस, 4, पृ. 649 आज की शब्दावली में 'मारगण' को 'मांगना' कहा जा सकता है । गांवों में विशिष्ट कार्यों के लिए मांग की जाती थी । राजकार्य से सरकारी कर्म-चारियों के ग्राम में आगमन पर ग्रामवासियों को उनके रहने और भोजन का व्यय देना पड़ता था । इसके लिए सबसे चन्दा मांगा जाता था । (आई.ए., 14, पृ. 319) । कहीं कहीं बाद में अभिनवमाएण कर का भी उल्लेख हुआ है । इसका अर्थ है नयी मांग ।

2. त्रिविक्रम और हेमचन्द्र ने 'तलार' को पुराध्यक्ष या नगराध्यक्ष कहा है । द्र. (i) कान्हड़देप्रबन्ध में 'तलार' को नगर और सलहथ को देश (ग्रामीण क्षेत्र) का पदाधिकारी बताया है, चतुर्थ खण्ड चौ. 40, (ii) माणक्यसूरि ने 'पृथ्वीचन्द्रचरित' में 'तलार' को पुलिस अधिकारी कहा है जो रात्रि में नगर की रक्षा का प्रबन्ध करता था और चोरों को पकड़ता था, पृ. 105, (iii) इ. आई., 11, पृ. 47, (i) सेवाड़ा अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रीमालदेश में स्थित जाजदौलि ग्राम के निवासियों ने 'तलार' का कार्य करने के लिए प्रतिहार प्रतापसिंह को 20 द्रम्म देना स्वीकार किया था । आठ वर्ष बाद इसी को पुनः स्वीकार किया था । आई. एच. क्यू. 36, पृ. 17-20 ।

3. कान्हडदेप्रबन्ध, 4, चौ. 40

4. द्र. इ. आई. 11, पृ. 46

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जो नगर मण्डपिका के प्रबन्ध के लिए नियुक्त होता था) का वेतन आंशिक रूप अथवा पूर्ण रूप से उक्त 'आभाव्यों' से एकत्र धनराशि से दिया जाता था।

'प्रस्थक' भी एक प्रकार का कर था जो सामान्य उपज के निश्चित 'भाग' के लेने के बाद प्रति प्रस्थ (माप) के आधार पर लिया जाता था। गाहड़वाल अभिलेखों में अक्षपटलीयप्रस्थ और प्रतिहार प्रस्थ करों का उल्लेख मिलता हैं।[1] हो सकता है राजस्थान में भी यह कर लिया जाता रहा हो।

मथनदेव के राजौर अभिलेख में खलभिक्षा कर का उल्लेख हुआ है।[2] करितलाई अभिलेख में चार खलभिक्षाओं के दान का उल्लेख है।[3] इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि खलिहानों पर राजा का एकाधिकार होता था। किसान खेत से अपनी उपज खलिहान में लाता था। जब दाने अलग करने की प्रक्रिया समाप्त हो जाती थी तब राज्य को खलभिक्षा के रूप में कुछ अनाज दिया जाता था।[4] राज्य के अतिरिक्त उन सभी गांवों के व्यक्तियों को भी खलिहान से निश्चित अनाज दिया जाता था जो कृषकों की सेवा करते थे। जैसे गांव के खाती, लुहार, कुम्हार, नाई, धोबी इत्यादि। प्रस्थक कर में लाभानुभागी राज्य था जबकि खलभिक्षा में लाभ-ग्राही गांव के खाती, लुहार इत्यादि भी होते थे। राजौर अभिलेख में उल्लिखित है कि उत्कीर्ण लाग व करों के अतिरिक्त, अन्य करों का जिनका यहां उल्लेख नहीं किया गया है, भोक्ता भी दानग्राही होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि और भी अनेक कर लिए जाते थे।

बलवर्मा के ऊना अभिलेख में चौल्लक कर का उल्लेख मिलता है।[5] वृहत्कथाकोष' में राज्य के प्रत्येक घर पर क्रम से भोजन करने वाले अधि-कारी की ओर संकेत है।[6] राजौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि बाहर से आने वाली प्रत्येक टोकरी या चौल्लिका पर 50 पत्तियों का कर लगाया जाता था।[7] चौल्लिका सम्भवतः बोज का माप था।

---

1. इ. आई., 14, पृ. 103; वही, 3, पृ. 263
2. वही, 3, पृ. 263; द्र. वही 25,, पृ. 280; आई. ए. 18, पृ. 114-115
3. इ. आई., 2, पृ. 174
4. गोपाल, लल्लनजी, द इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ. 66
5. एच.आई.जी., 3, पृ. 237
6. वृहत्कथाकोष, पृ. 34-37
7. इ.आई., 3, पृ. 263-67

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बलवर्मा के उक्त अभिलेख[1] में ही वेणि कर का भी उल्लेख है। यह कर बांस या बांस की बनी चीजों पर लिया जाता था। इस अभिलेख में वैणिक[2] कर का भी उल्लेख है परन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है।

जब कुएं से चरसा द्वारा पानी निकाल कर सिंचाई की जाती थी तो प्रत्येक चरसा के हिसाब से कोश्य नामक कर लिया जाता था।[3] राजौर अभिलेख[4] में मयुत नामक कर का उल्लेख है। मयुत शब्द का प्रयोग 'भोग' के साथ हुआ है इसलिए रमाशंकर त्रिपाठी का कहना है कि यह कर फल या ईंधन के रूप में लिया जाता होगा।[5] घोषाल ने इसे 'भोग' की भांति का कर बताया है।[6]

चाहमान अभिलेखों में राजस्व सम्बन्धी अनेक शब्दों का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः दान (चुंगी कर) आदान का सूक्ष्म रूप था और कौटिल्य के 'शुल्क' के अनुरूप था। 'दान' चाहमान राज्य के आय का महत्वपूर्ण स्रोत था। आदान सभी प्रकार के दाय या चुंगी का द्योतक था। राजदेव के नाड़लाई अभिलेख से ज्ञात होता है कि नगर के बाहर से आने वाले सभी 'लद्दू' बैलों पर आदान कर लेने की व्यवस्था थी।[7] अभिलेखों में 'भाग' से भिन्न 'लाग' का उल्लेख हुआ है।[8] राजस्थान में रायपाल के राज्यकाल के नाडलाई पाषाण अभिलेख में 'आत्मपायल' शब्द का प्रयोग मिलता है।[9] 'पायल' कर 'भोक्तों' या जागीरदारों द्वारा लिया जाता था। इसी प्रकार राजा को भी पायल कर वसूल करने का अधिकार था। पायल एक तौल[10] का परिचायक है। यह समुचित रूपेण ज्ञात नहीं कि यह कर किन वस्तुओं पर लिया जाता था। आल्हणदेव के वि.सं. 1218 के नाडोल अभिलेख में 'तलपड' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक वलभी अभिलेख[11] के आधार पर

---

1. एच.आई.जी., 3, पृ. 237
2. वही
3. वही
4. इ.आई., 3, पृ. 263-67
5. हिस्टरी ऑफ कन्नौज, पृ. 347
6. घोषाल, यू.एन., हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 237
7. इ.आई.. 11, पृ. 36
8. वही, पृ. 59
9. वही, पृ. 41
10. वही, 9, पृ. 64
11. अ.चौ.डा., पृ. 236 पर उद्धृत

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कीलहार्न ने 'तलपड' को 'स्वतल' का पर्याय माना है और इसका अभिप्राय भूमि से बतलाया है। यू.एन. घोषाल के अनुसार यह वह भूमि थी जिसकी आय का पूर्णतया मूल्यांकन हो चुका होता था।[1] 'हलसही'[2] कर एक हल द्वारा बुआई की उपज पर आंका जाता था। आभाव्यों की भांति यह 'लाग' कृषि से सम्बन्धित विभिन्न उपयोगी व्यक्तियों तथा राजस्व सम्बन्धी क्षेत्रीय राजकीय पदाधिकारियों के लिए ली जाती थी। 'दशबन्ध' कर आय के दसवें भाग के रूप में लिया जाता था। वि.सं. 1200 के नाडोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि राणक मन्दिर की नर्तकियों को दशबन्ध कर से मुक्त कर दिया था।[3] 'लेखपद्धति' से ज्ञात होता है कि घोड़े की बिक्री पर 'दशबन्ध' उनकी कीमत पर आंका गया था।[4] देवदाय धर्म सम्बन्धी कर का द्योतक है जो मुद्रा या वस्तु के रूप में वसूल किया जाता था। 'डोहलिका' में दी गई भूमि का भोक्ता सभी करों से मुक्त होता था।[5]

अभिलेखों में 'निधान' का भी प्रयोग हुआ है। यू. एन. घोषाल ने इसे कृषि भूमि पर एक प्रकार का कर माना है। परन्तु वि. सं. 1223 के केल्हणदेव के बामनेरा ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध निखात निधि से था।[6] 'लेखपद्धति' में नवनिधान[7] शब्द का उल्लेख मिलता है। परम्परा से भू गर्भ में नवप्रकार की निधि मानी जाती थी जिस पर राजा का अधिकार समझा जाता था। 'अभ्यान्तरसिद्धि'[8] शब्द द्वितीय भर्तृवडढ़ के हांसोट ताम्रपत्र में मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि खनिज रूप में उपलब्ध भू गर्भ निधि राजकीय सम्पत्ति है तथा उन पर कर लगाना राजा का अधिकार है। दानपत्रों में इस अधिकार को भी भोक्ता को दिये जाने का उल्लेख है।

राज्य की आय का एक अन्य मुख्य स्रोत सामन्तों से प्राप्त निश्चित वार्षिक धनराशि, भेंट, उपहार इत्यादि थे। इसके अतिरिक्त युद्ध में लूट से

---

1. घोषाल, यू.एन., हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 298
2. द्र. वि.सं. 1332 का भीनमाल अभिलेख
3. पी.आर.ए.एस., डब्ल्यू.सी., 1908-09, पृ. 45
4. अ.चौ.डा., पृ. 237 पर उद्धृत
5. डोहलिका शब्द का प्रयोग, वि.सं. 1223 के बामनेरा ताम्रपत्र, वि.सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख तथा वि.सं. 1236 के फलोदी अभिलेख में मिलता है।
6. इ. आई. , 13, पृ. 210
7. लेखपद्धति, पृ. 6
8. इ. आई., 12, पृ. 202

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी पर्याप्त धन प्राप्त हो जाता था।[1] परन्तु आय का यह साधन अनिश्चित व संदिग्ध होता था।

चाहमानों की आय का एक प्रमुख साधन साम्भर झील थी।[2] राज्य में खानों एवं खनिज पदार्थों की कोई कमी नहीं थी। अतः इनसे राजकीय आय में वृद्धि अवश्य हुई होगी।

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों में राजकीय व्यय का विवरण विशेष स्पष्ट नहीं है। राजकीय व्यय सामान्यतः राज्य कर्मचारियों के वेतन, सार्वजनिक कार्यों, शिक्षा और वैयक्तिक तथा सार्वजनिक दान आदि रूपों में होता था। हमारे अध्ययनकाल में ब्राह्मण, मन्दिरों, विद्वानों, लेखकों, कवियों को दान दिये जाने के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। कुएं, सरोवर, वापी, मन्दिर इत्यादि के निर्माण सम्बन्धी अभिलेख पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। निरन्तर युद्ध इस तथ्य के द्योतक हैं कि राज्य की आय का अधिकांश भाग सेना पर खर्च किया जाता था। राजसभाओं की भव्यता को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस मद पर भी पर्याप्त धनराशि व्यय की जाती थी। राजा लोग अपने और अपने परिवार के सदस्यों पर भी धन की बहुत बड़ी राशि खर्च किया करते थे। 'मानसोल्लास' के अनुसार राजा को सामान्यतः आय का केवल 3/4 भाग खर्च करना चाहिए और शेष 1/4 भाग स्थायी या सुरक्षित कोष में जमा करवाना चाहिये।[3]

सैनिक प्रशासन

छठी से बारहवीं शताब्दी का समय राजस्थान में निरन्तर होने वाले युद्धों का काल था। ऐसी स्थिति में सैन्य विभाग का महत्वपूर्ण होना स्वाभाविक था। परम्परानुसार राज्य की आय का 50 प्रतिशत अंश तक सैन्य

---

1. नाडोल के परमार सोमेश्वर के वि. सं. 1218 के एक अभिलेख में लिखा है कि सोमेश्वर ने जज्जक से 1700 घोड़ें लिए जिनमें एक पंच नखा और आठ मयूर सीनेदार भी सम्मिलित थे। इनके साथ-साथ तणुकोण और नवसरा के गढ़ भी प्राप्त किये थे। वि. सं. 1239 में तृतीय पृथ्वीराज ने चन्देलों की भूमि को लूटा था। पाणहेरा अभिलेख (वि. सं. 1116) में कहा गया है कि परमार माण्डलिक ने बड़े बलवान सेनापति कान्ह को पकड़ कर हाथी और घोड़ों सहित जयसिंह के सुपुर्द किया।
2. पृथ्वीराजविजय, 4, 85
3. मानसोल्लास, 2, वि., 4, श्लोक 539-40

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation. Chandigarh

व्यवस्था पर व्यय किया जाता था।[1] सैनिक प्रशासन का संचालन बलाधिकरण (सैनिक विभाग) द्वारा होता था। यह राजधानी या केन्द्र में स्थित होता था और सेनापति तथा अन्य सैनिक पदाधिकारियों के निर्देशन में कार्य करता था। सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी स्वयं राजा होता था। सिद्धान्ततः वह युद्ध काल में सेना का नेतृत्व तथा संचालन करता था। भारत में प्राचीनतर युगों में सेना चार वर्गों में विभक्त होती थी—(i) पदाति सेना, (ii) अश्व सेना, (iii) गज सेना तथा (iv) रथ सेना। परन्तु रथ का उल्लेख इस काल के अभिलेखों में नहीं मिलता। परमार राजा अर्जुन वर्मा के एक अभिलेख में तीन प्रकार के योद्धाओं का उल्लेख है। वे निश्चय ही परमार सेना के तीन वर्गों – पदाति, अश्वारोही और गज सेना – को इंगित करते हैं।[2] हम्मीर के विरुद्ध अभियान के समय चाहमान नरेश चतुर्थ विग्रहराज की सेना में एक सहस्र गजारोही, एक लाख अश्वारोहों और एक लाख पदाति थे।[3] 'खरतरगच्छपट्टावली' में तृतीय पृथ्वीराज की सेना में सत्तर हजार घुड़सवारों तथा भारी संख्या में हाथियों का होना निर्देशित है।[4] 'तारीख-ए-फिरिश्ता'[5] में तृतीय पृथ्वीराज की सेना में तीन लाख घुड़सवार और तीन हजार हाथियों का होना बताया है। फिरिश्ता का यह कथन अतिश्योक्तिपूर्ण है परन्तु इससे यह अवश्य स्पष्ट होता है कि विचाराधीन काल में सेना में अश्वों और हाथियों का अधिक महत्व था। वि. सं. 1136 के अथूर्णा अभिलेख से संकेतित है कि उस समय प्रतिष्ठित व्यक्ति हाथी पर बैठ कर युद्ध करते थे।[6]

स्मृतिकारों ने छः प्रकार की सेनाओं का विवरण दिया है जो इस प्रकार है – मौल (वंश परम्परानुगत), भृत, भृतक या भृत्य (वेतन भोगी सैनिकों का दल), श्रेणी (व्यापारियों या अन्य समुदायों की सेना), मित्र (मित्र और सामन्तों की सेना), अमित्र (ऐसी सेना जो पहले शत्रु पक्ष की थी) और अटवी या आटविक (वन्य जातियों की सेना)।[7] द्वितीय धरसेन के मलिया

---

1. शुक्रनीति, 1, 316-17
2. जे. ए. ओ. एस., 7, पृ. 26
3. इ. आई., 20, पृ. 201
4. खरतरगच्छपट्टावली, पृ. 31
5. तारीख-ए-फिरिश्ता, 1, पृ. 17
6. इ. आई., 14, पृ. 295
7. दे. कौटिल्य (9/2), कामन्दक (18/4), अग्नि. (242/1-2), मानसोल्लास (216, श्लोक 556, पृ. 76)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ताम्रपत्र में उल्लेख है कि वलभी राज्य के संस्थापक भटार्क ने मौल, भृत, मित्र एवं श्रेणी वल की सहायता से राज्य प्राप्त किया था।[1] परमार स्रोतों में 'मौल' और 'भृत' सेनाओं का उल्लेख हुआ है।[2] प्रतिहार और चाहमान शासन काल में भी इन उक्त दोनों प्रकार की सेनाओं का प्रचलन रहा होगा। हमारे अध्ययन काल के अभिलेखों में सामन्तों एवं मित्रों की सेना का भी यदा कदा उल्लेख हुआ है। प्रतिहार शासक द्वितीय नागभट के शासन काल में मण्डोर के प्रतिहारों, चाटसू के गुहिलों, सौराष्ट्र के चालुक्यों और शाकम्भरी के चाहमान शासकों ने, जो प्रतिहारों के अधीन थे, अपनी सेनाओं के साथ सुदूर प्रान्तों में अनेक युद्ध लड़े थे।[3] रामभद्र ने अपने सामन्तों की सेनाओं की सहायता से विद्रोही तत्वों को कुचलने का सफल प्रयास किया था।[4] प्रथम भोज की महानता में प्रतापगढ़ के चाहमान सामन्त शासकों का योगदान रहा था।[5] उसकी उत्तर भारत की विजय में गुहिल हर्षराज नामक सामन्त ने भाग लिया था जिसका उल्लेख चाटसू अभिलेख में हुआ है। इस लेख में कहा गया है कि 'हर्षराज' ने उत्तरी दिशा के सभी राजाओं को जीतकर भक्तिपूर्वक भोजराज को घोड़ों की भेंट दी थी।[6] परमार राजा भोज ने अपने मित्र कलचुरि और चोल शासकों की मदद से चालुक्य शासक जयसिंह से संघर्ष किया था।[7] परमार देवपाल ने भी चौलुक्यों से युद्ध करने के लिए मित्रबल का संगठन किया था।[8] अभिलेखों में यदा कदा अमित्र सेना का भी उल्लेख हुआ है। नागदे से प्राप्त वि. सं. 718 के एक अभिलेख[9] में कहा गया है कि गुहिल शासक अपराजित ने महाराज वरसिंह जैसे शक्तिशाली नरेश को परास्त कर उसे अपने अधीनस्थ सेनापति नियुक्त किया था।

समसामयिक अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रंथों में कतिपय सैनिक पदों का उल्लेख है। उनमें सेनापति या महादण्डनायक, दण्डनायक, बलाधिकृत, महायुद्धपति, पीलूपति, अश्वपति, पायकाधिपति, कोटपाल और मर्यादाधुर्य विशेषतः उल्लेखनीय हैं। सेनापति या महादण्डनायक के सम्बन्ध में अन्यत्र

---

1. आई. ए., 13, पृ. 160
2. द परमारज़, पृ. 223-24; इ. आई. 2, पृ. 186
3. रा. श्रू. ए., पृ. 338
4. इ. आई., 18, पृ. 99-114
5. वही, 14, पृ. 176-188
6. वही, 12, पृ. 15
7. वही, 15, पृ. 331
8. द परमारज़, पृ. 234 पाद टिप्पणी, 6
9. इ. आई., 4, प. 31

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उल्लेख किया जा चुका है। महादण्डनायक को महादण्डाधिपति, वाहिनिपति, दण्डाधिपति, सेनानायक, सैन्यपति आदि भी कहा गया है।[1]

दण्डनायक

महादण्डनायक के अधीन अनेक दण्डनायक होते थे। भण्डुण्ड अभिलेख में दण्डनायक श्रीविजाक[2] का, घाणेराव अभिलेख[3] में दण्डनायक वैजलदेव का तथा बिजोलिया अभिलेख[4] में दण्डनायक सोलण का उल्लेख हुआ है। निस्सन्देह दण्डनायक सेना का एक उच्च पदाधिकारी था। दण्डनायक शब्द की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। प्रिन्सेप के अनुसार वह जांचपड़ताल करने वाला (आन्वीक्षी) न्यायाधीश था। फ्लीट उसे सेनानायक मानते हैं तथा ऑरल स्टीन उसको पुलिस आयुक्त बताते हैं। धनपाल ने अपनी पुस्तक 'तिलक मन्जरी' में दण्डनायक को मूलतः सेना का ही पदाधिकारी माना है। परन्तु आवश्यकतानुसार उसे नागरिक प्रशासन सम्बन्धी कार्य भी करने पड़ते थे। दशरथ शर्मा ने उसकी तुलना सल्तनत कालीन 'इक्तादार' से की है।[5] 'दण्डनायक' को विजित क्षेत्र में सैनिक कार्यों के साथ-साथ नागरिक प्रशासन का दायित्व भी सम्भालना पड़ता था। चौलुक्य कुमारपाल ने चितौड़-विजय के पश्चात् दण्डनायक सज्जन को चितौड़ का प्रशासक नियुक्त किया था।[6] द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख[7] में तन्त्रपाल महासामन्त महादण्डनायक माधव की नियुक्ति उज्जयिनी में होना उल्लिखित है। वह प्रतिहार साम्राज्य के उज्जयिनी क्षेत्र का प्रतिनिधि था। नाड़ोल में दण्डाधीश वैजलदेव ने चौलुक्य शासक के प्रतिनिधि के रूप में शासन किया था।[8] चौलुक्य भीम ने अर्बुदमण्डल पर अधिकार कर प्राग्वाट वंश के दण्डनायक विमल को प्रशासन हेतु नियुक्त किया था।[9] 'तिलकमन्जरी' में दक्षिण और उत्तर में क्षेत्रीय सैन्य बल के रखने का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः परमारों के शासनकाल में भी यह व्यवस्था थी। प्रतिहार साम्राज्य की सुरक्षा हेतु चार क्षेत्रीय सैन्यबलों

---

1. रा. श्रू. ए., पृ. 331, पाद टिप्पणी संख्या 1
2. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू., सी., 1915-16, पृ. 5
3. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 218
4. इ. आई., 26, पृ. 84
5. रा. श्रू. ए., पृ. 331
6. मजूमदार, ए. के., चौलुक्याज़ ऑफ गुजरात, पृ. 109
7. इ. आई., 14, पृ. 182-84
8. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 218
9. इ. आई., 9, पृ. 151

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की व्यवस्था की गई थी। क्षेत्रीय सैन्यबल दण्डनायक के नेतृत्व में कार्य करता था। प्रतिहारों द्वारा राष्ट्रकूटों की गतिविधि पर ध्यान रखने के लिए एक सेना दक्षिण में रखी गई थी। मुसलमानों का प्रतिरोध करने हेतु पश्चिमी क्षेत्र में भी दण्डनायक के नेतृत्व में सेना रखी गई थी। दो ऐसे सैन्यबल थे जिन्हें आवश्यकतानुसार किसी भी दिशा में साम्राज्य की सुरक्षा हेतु भेजा जा सकता था।

बलाधिकृत

बलाधिकृत भी एक मुख्य सैनिक होता था। 'हर्षचरित' में इसको सेनापति से भिन्न बताया गया हैं।[1] द्वितीय कक्क के आन्तरोली-छारोली ताम्रपत्र में पदक्रमानुसार बलाधिकृत को सेनापति से नीचे और चौरोद्धरणिक के ऊपर निर्दिष्ट किया गया है।[2] 'उपमितिभवप्रपन्चकथा' में बलाधिकृत को नगर-शासन का अधिकारी कहा गया है। शासन कार्य में उसकी सहायता के लिये एक महतम (महतर) की नियुक्ति की जाती थी।[3] प्रतापगढ़ अभिलेख में बलाधिकृत कोक्कट का अधिकृत श्रीशर्मन द्वारा उज्जयिनी के मण्डपिका कार्यभार संभालने का उल्लेख है।[4] एक अन्य प्रतिहार अभिलेख में तत्तक नामक बलाधिकृत का उल्लेख हुआ हैं।[5] वह कोटपाल अल्ल के सहयोग से कार्य करता था। चाहमान अभिलेखों में बलाधिकृत अथवा बलाधिप को नगर स्थित सैनिक टुकड़ी का नायक तथा मण्डपिकाओं से सम्बन्धित पदाधिकारी कहा गया है।[6] इसी अभिलेख में बलाधिप यशोदेव का भी उल्लेख हुआ है।[7] झंवर से प्राप्त एक अभिलेख में बलाधिप सोलं(की) जस (घवल) का उल्लेख हुआ है।[8] 'लेखपद्धति' बलाधिकृत पद पर प्रभूत प्रकाश डालती है। इसमें उसे पंचकुलों के साथ मण्डपिका का अधिकारी कहा गया है।[9]

अन्य पदाधिकारी

'समराइच्चकहा' में महायुद्धपति को शस्त्रागार का पदाधिकारी बताया गया है :[10] पीलूपति और अश्वपति क्रमशः गजसेना और अश्व सेना के अधि-

---

1. हर्षचरित, पृ. 124 और 204; तिलकमन्जरी, पृ. 97
2. एच. आई. जी., 2, न. 120
3. उपमितिभवप्रपन्चकथा, पृ. 243
4. इ. आई., 14, पृ. 176-188
5. वही, 1, पृ. 159
6. वही, 11, पृ. 30
7. वही।
8. जे. पी. ए. एस. बी., 12, पृ. 102
9. लेखपद्धति, पृ. 14
10. समराइच्चकहा, पृ. 898

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारी थे। पूर्वमध्यकाल में गजबल और अश्व बल का अत्यधिक महत्व था। चाहमान अभिलेखों में नाड़ोल राज्य को (सप्तशत भूमि) घोड़ों की खान कहा गया है।[1] यद्यपि इस युग में स्यन्दपति का उल्लेख प्राप्त होता है, तथापि सम्भवत: अब रथ बल का अधिक महत्व नहीं रह गया था। एक अन्य पदाधिकारी 'साधनिक' का भी उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। वह अश्वदल की एक टुकड़ी का नायक होता था।[2] पैदल सेना का अधिकारी 'पायकाधिपति' होता था। मरु भूमि में सेना के ऊंटों का भी प्रयोग होता था। 'पृथ्वीराज-विजय' से ज्ञात होता है कि गौड़पुर के विरुद्ध अभियान में पृथ्वीराज ने ऊंटों का प्रयोग किया था।[3] दुर्ग का प्रधान कोटपाल कहलाता था। दशरथ शर्मा ने इसे कोतवाल पदनाम का पूर्व रूप माना है। अल्ल अपने पिता के बाद मर्यादाधुर्य के पद पर नियुक्त हुआ था। उसे ग्वालियर के दुर्ग की देखभाल का कार्य सौंपा गया था।[4] कोटवाल चण्डियन ने अपने स्वामी गुणराज के लिए लड़ते हुए मधुवेणी के निकट जीवन लीला समाप्त की थी।[5] वैलभट्ट स्वामी के अभिलेख में भी मर्यादाधुर्य का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे राज्य की सीमा सुरक्षा के लिए नियुक्त किया जाता था।[6] दशरथ शर्मा ने उसे मौर्यकालीन अन्त:पाल के समान माना है।[7] कभी कभी सीमा की रक्षा का भार सामन्तों को सौंप दिया जाता था। इसके समर्थन में गुणचन्द्र के तेरही लेख सौराष्ट्र के चालुक्य बलवर्मा के अभिलेखों का प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है।[8]

सैनिकों की पोशाक व अस्त्र शस्त्रों के सम्बन्ध में अभिलेख सामान्यतया मौन हैं, परन्तु जिनेश्वर के 'कथाकोष' और सोमदेव कृत 'यशस्तिलकचम्पू' के अनुसार सैनिक घुटनों तक लटकती हुई धोती पहनते थे तथा पीठ पर तरकश धारण करते थे। बहुत कम सैनिक कवच पहनते थे। घुड़सवारों के पास भाला, तलवार और ढाल रहती थी। गुप्तचर्या की व्यवस्था भी रहती थी। 'ललितविग्रहराज' नाटक में इसका विवरण प्राप्त होता है।

---

1. द्र. ओझा दानपत्र, अ. चौ. डा., पृ, 207-216
2. तिलकमन्जरी, पृ, 150
3. पृथ्वीराजविजय 10, पृ. 20
4. इ. आई., 1, पृ. 159
5. वही, 17, पृ. 207
6. वही, 1, पृ. 156
7. रा. थ्रू. ए., पृ. 336
8. वही, पाद टिप्पणी, 2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा को कभी कभी दीर्घकाल तक राजधानी से दूर अपनी सेना के साथ शिविर में रहना पड़ता था।[1] कुमारपाल के चित्तौड़ से प्राप्त एक अभिलेख में कहा गया है कि जब उसने शाकम्भरी के राजा को हरा दिया और सपादलक्ष का मर्दन कर दिया तब वह शालिपुर नामक स्थान पर गया और अपना शिविर डाला। ऐसे शिविरों या स्कन्धावारों का विस्तृत विवरण माघ के 'शिशुपालवध' में प्राप्त होता है। राजा का तम्बू बीच में रहता था। शिविर के साथ बाजार की व्यवस्था होती थी जिसमें सभी आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध हो जाती थी। व्यापारी वर्ग सैनिकों को अनेक सुविधाएं प्रदान करता था।[2] सामन्त और उच्च पदाधिकारी वहां पत्नियों सहित रहते थे। अन्य पदाधिकारियों के खेमें इनके चारों ओर होते थे। कुछ दूरी पर गणिकाओं के तम्बू होते थे। सैनिक साज सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने-ले जाने के लिये अधिकांशतः बैलगाड़ियों का प्रयोग होता था।

पूर्वमध्यकालीन सैन्य प्रबन्ध में दुर्गों का विशेष महत्व था। राजपूत राजा दुर्ग और गढ़ बनवाने में पूरी रुचि लेते थे। प्रतिहार नरेशों ने दुर्गों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया। जालौर, मण्डोर और ग्वालियर के दुर्ग इसके प्रमाण हैं। विचाराधीन काल में तारागढ़, हांसी, सिरजा, समाना, नागौर, सिवाना, जालौर, नाडोल, चित्तौड़ इत्यादि में सुदृढ़ किले थे। ये अधिकांशतः पहाड़ियों पर बनाये गये थे और इनके चारों ओर खाइयाँ व यथा सम्भव घने जंगल हुआ करते थे। इन्हें विस्तृत भू भाग पर बनाये जाता था जिससे इसमें रसद और अन्न भण्डार, शस्त्र भण्डार, मन्दिर, तालाब, महल इत्यादि बनाये जा सकें।

सुरक्षा व्यवस्था

राज्य की बाह्य सुरक्षा और आन्तरिक शांति सुव्यवस्था के लिए रक्षा विभाग का संगठन किया जाता था। इस विभाग के अधिकारियों में दण्डपाशिक (चोरों को पकड़ने के लिए पाश धारण करने वाले), आरक्षिक (चौकीदार या रक्षक), दाण्डिक (दण्द देने वाले), और तलार[3] प्रमुख थे। त्रिविक्रम और हेमचन्द्र ने तलार को नगर पुराध्यक्ष या नगराध्यक्ष माना है,[4] परन्तु डी. आर. भाण्डारकर उसे 'ताल' शब्द के अर्थ के आधार पर नगर

1. इ. आई., 2, पृ. 422
2. शिशुपालवध, श्लोक 13-27
3. आई. ए., 46, पृ. 12
4. इ. आई., 11, पृ. 47

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बाहरी क्षेत्र का अधिकारी बताते हैं।[1] किन्तु भाण्डारकर के मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि माणिक्यसूरि कृत 'पृथ्वीचन्द्रसूरि' नामक समसामयिक ग्रंथ में तलार का पुलिस अधिकारी रूप में वर्णन है। वह चोरों को पकड़ने के लिए रात्रि में गस्त लगाता था।[2] इस सेवा के बदले उसे नगर की आय से वेतन दिये जाने की व्यवस्था थी। उसे तलाराभाव्य कहते थे।[3]

दण्डपाशिक राजकीय पदाधिकारी होता था जिसका मुख्य कर्तव्य अपराधों का पता लगाना, अपराधियों को पकड़ना, उनके विरुद्ध अभियोग लगाना और दण्ड के लिए न्यायालयों में प्रस्तुत करना होता था। वह समाज विरोधी तत्वों तथा विदेशियों की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखता था। वह गणिकाओं तथा उनके पास जाने वाले व्यक्तियों पर भी नजर रखता था। रक्षा विभाग के अन्तर्गत गुप्तचरों की भी व्यवस्था थी। गुप्तचर गांवों, नगरों तथा दुर्गों की बस्तियों में रह कर गुप्त रूप से वहां के निवासियों के आचरण की जानकारी रखते थे।[4]

सिद्धान्ततः सामन्ती क्षेत्र व गांवों में सुरक्षा और शान्ति बनाये रखने का दायित्व सामन्त व स्वयं ग्रामवासियों का होता था। वे स्वयं अपराधों का पता लगाने और अपराधियों (यथा चोरों) को पकड़ने की व्यवस्था करते थे। इस सम्बन्ध में नाडोल से प्राप्त वि. सं. 1198 के एक अभिलेख से महत्वपूर्ण विवरण प्राप्त होता है।[5] इस अभिलेख के अनुसार धालोप गांव को 8 खण्डों (वार्डों) में बांटा गया था। प्रत्येक खण्ड से दो प्रतिनिधियों का चयन होता था। इस पद्धति से संगठित समिति भाट, भट्टापुत्र, दौवारिक, कार्पटिक,[6] वणिजारक इत्यादि के माल की सुरक्षा का प्रबन्ध करती थी। चोरी होने पर समिति के सदस्य चोरों का पता लगाते थे। इसमें उन्हें राज्य से धन, शस्त्र और चौकीदारों की सहायता प्राप्त होती थी। उल्लेखनीय है कि प्राचीनकाल में यातायात के साधनों की कठिनाई के कारण जीवन संकट-पूर्ण था और चोर डाकुओं के आकस्मिक आक्रमणों के समय समुचित

---

1. द्र. जैन. के. सी., एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ. 479, पाद टिप्पणी, 8
2. पृथ्वीचन्द्रचरित, पृ. 105 (जी.ओ.एस.)
3. इ.आई., 11, पृ. 46
4. आई.ए., 20, पृ, 210
5. इ.आई., 11, पृ. 40
6. आप्टे के अनुसार कार्पटिक का अर्थ तीर्थ पर्यटकों के दल से है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजकीय सहायता उपलब्ध नहीं हो पाती थी। ऐसी स्थिति में ग्राम मुखिया चौकड़िया[1] व्यवस्था के अन्तर्गत गांव की सुरक्षा का प्रबन्ध करते थे। नगरों व कस्बों में भी नागरिकों की समितियां होती थीं। ये समितियें तलार (दे. पीछे) की सहायता से नगर की सुरक्षा का प्रबन्ध करती थी।

न्याय व्यवस्था

अभिलेखों में न्याय सम्बन्धी विवरण प्रायः नगण्य है। समकालीन साहित्यिक वर्णन से प्रतीत होता है कि चोरी, धान्य अपहरण, धोखा देना इत्यादि की गणना गम्भीर अपराधों में की जाती थी। इसके लिए अंग भंग जैसे दण्ड देने की व्यवस्था थी।[2] सत्य परीक्षण के लिए कई कसौटियां थी जिनमें अग्नि-परीक्षा प्रमुख थी।[3] कुछ अपराधों के लिए अभियुक्तों को कारावास की कठोर यातना भुगतनी पड़ती थी। हरिभद्रसूरि ने कारागृह का वर्णन नरक के समान किया है जिसमें बन्दियों का जीवन अत्यन्त कष्टमय होता था।[4] किन्तु अधिकतर अपराधों के लिए अर्थदण्ड दिये जाने की व्यवस्था थी। अन्य प्रदेशों के समान राजस्थान के अभिलेखों में भी 'दशापराध' का उल्लेख हुआ है। इन अपराधों पर लगाया गया अर्थदण्ड राजकीय आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत था।

प्राचीन भारतीय राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा सर्वोच्च न्यायाधिकारी था। उसके समक्ष अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील की जाती थी। नए अभियोग भी लगाए जाते थे। वह प्रायः राजसभा में बैठ कर न्याय करता था। न्याय करते समय वह विधि विशेषज्ञों, विद्वान पण्डितों और धर्माधिकारियों से विमर्श करता था। विचाराधीन काल में 'साधनिक' पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। दशरथ शर्मा ने इसकी तुलना आज के राजकीय अभियोजक से की है।[5] इसका मुख्य कार्य न्यायालय में धर्माधिकारी के समक्ष, दस्तावेजों और साक्षियों की सहायता से अभियोगी के अपराध को

---

1. अभिलेख में प्रयुक्त 'चौकडिका प्रवाह' शब्द का तात्पर्य डी. आर. भाण्डारकर ने पंचायत व्यवस्था माना है जबकि दशरथ शर्मा ने इसे डाकचौकी के धावकों की व्यवस्था बताया है। पुलिस पहरेदारों के लिए आज भी चौकीदार शब्द का प्रयोग होता है। द्र. अ. चौ. डा., पृ. 234
2. वृहत्कथाकोष, पृ. 23, 63, 112-117, 126, 138, 196 आदि
3. उपमितिभवप्रपंचकहा, पृ. 276
4. समराइच्चकहा, पृ. 326-27
5. रा. थ्रू. ए., पृ. 342

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रमाणित करना होता था।[1] फौजदारी मामलों में अपने-अपने क्षेत्रों में प्रारम्भिक जांच तलार, दण्डपाशिक और आरक्षक करते थे।

प्रथम भोज के बाडा ताम्रपत्र में 'व्यवहारिन्' पदाधिकारी का उल्लेख हुआ है।[2] उसकी भूल से कालिंजर मण्डल के एक दानपत्र पर एक लम्बे काल तक कार्यवाही नहीं हो सकी थी।

गांवों में स्थानीय मामले पंचकुल तय करते थे। नगरों और कस्बों में महाजन सभा तथा श्रेणियों जैसी संस्थाओं द्वारा स्थानीय झगड़ों का निपटारा किया जाता था। ये नगर सभाएं नगर महतरों या नगर महल्लकों से सहायता लेती थीं। न्याय व्यवस्था सरल थी। निर्णय करते समय नैतिक बन्धन और मानव मूल्यों को प्राथमिकता दी जाती थी।

वि. सं. 1218 के धौड़ अभिलेख में एक घर के विक्रय से सम्बन्धित विवरण दिया गया है।[3] इस विक्रय पत्र के प्रारुप के अध्ययन से स्पष्ट है कि इसका रचयिता विधि का जानकार था। इस विक्रय पत्र में घर की वस्तु स्थिति का विवरण है। यह भी निर्दिष्ठ किया गया है कि गृह-विक्रय में जिन सिक्कों का प्रयोग हो उन्हें अच्छी प्रकार दिखाया जाय और वे प्रचलित सिक्के हों।

प्रादेशिक प्रशासन

प्रतिहार और चाहमान नरेश सिद्धान्ततः अपने-अपने साम्राज्यों के सर्वेसर्वा माने जाते थे। परन्तु ये साम्राज्य सामन्तवादी व्यवस्था पर आधृत थे। प्रतिहारों के प्रभावान्तर्गत शाकम्भरी के चाहमान, दिल्ली के तोमर, मेदपाट के गुहिल और महोबा के चन्देल जेसे शक्तिशाली सामन्त थे। चाहमान शासनकाल में भी राजस्थान का बहुत बड़ा भूखण्ड सामन्तों द्वारा शासित था। 'तारीख-ए-फिरिश्ता' से ज्ञात होता है कि तृतीय पृथ्वीराज के 150 सामन्त थे।[4] इसी प्रकार बागड़, जालौर और किराडू के शासक मालवा के परमारों के सामन्त थे। चौलुक्य शासनान्तर्गत नाडोल, जालौर, आबू इत्यादि सामन्ती क्षेत्र थे। राजस्थान में विचाराधीन काल में सामन्ती व्यवस्था का विशिष्ट स्थान था। अतः हम इसका विवेचन आगे एक पृथक् अध्याय में करेंगे।

---

1. बृहत्कथाकोष, पृ. 126
2. इ. आई., 19, पृ. 17
3. वरदा, वर्ष 8, सं. 4, पृ. 1-12
4. अ. चौ. डा., पृ. 94 पर उद्धृत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिहारों का साम्राज्य भुक्ति, मण्डल, विषय, पथक, चतुरशीतिका, द्वादशक इत्यादि इकाइयों में विभाजित था। साम्राज्य की सबसे बड़ी इकाई भुक्ति होती थी। प्रतिहार अभिलेखों में कान्यकुब्ज, श्रावस्ती इत्यादि भुक्तियों का उल्लेख हुआ है।[1] प्रत्येक भुक्ति अनेक मण्डलों में विभाजित थी। मण्डल के शासक 'माण्डलिक' या 'मण्डलेश्वर' कहलाते थे। भोजदेव के बाड़ा और प्रथम महेन्द्रपाल के दिगहवा दुबौलि ताम्रपत्रों[2] से ज्ञात होता है कि 'मण्डल' से छोटी इकाई 'विषय' थी। शाकम्भरी क्षेत्र संभवतः एक मण्डल था जिसका शासक माण्डलिक कहलाता था। वि. सं. 1030 के हर्ष अभिलेख में चाहमान राज्य के पट्टवद्धक (सीकर जिले का पटौद) सरकोट्टा (मारोठ के निकट सरगोट का क्षेत्र) दरभक्ष (ढाका, सीकर जिले में) खटकूप (खाट क्षेत्र) इत्यादि विषयों का उल्लेख हुआ है।[3] वि. सं. 1176 के सेवाड़ी ताम्रपत्र में सप्तशत विषयों का उल्लेख हुआ है।[4] विषय का सर्वोच्च अधिकारी 'विषयपति' या 'विषयी'[5] कहलाता था।

प्रतापगढ़ अभिलेख[6] से ज्ञात होता है कि 'विषय' 'पथक' और 'खेटक' इकाइयों में विभाजित थे। इस अभिलेख में दशपुर-पश्चिम पथक का उल्लेख है। इसमें खरपरपदरक गांव सम्मिलित था। चौलुक्य अभिलेखों में भृंगारिका चतुषः षटि-पार्थक, तालमदरिका, षटतरिशत पथक, चांलिसा पथक इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि 'पथक' गांवों का समूह होता था। इनमें ऐतिहासिक या प्रशासनिक कारणों से गांवों की संख्या का कम या अधिक हो जाना स्वाभाविक था। एक प्रमुख गांव के नाम पर उस 'पथक' को सम्बोधित किया जाता था। वही गांव 'पथक' के प्रशासन का केन्द्र होता था।

राजस्थान में, विशेषतः मारवाड़ में 84 गांवों का क्षेत्र 'चौरसिया' कहा जाता था।[7] चाहमान काल में तूण कूपक द्वादशक (12 गांवों का एक क्षेत्र) का उल्लेख वि. सं. 1030 के हर्ष अभिलेख में हुआ है।[8] वि. सं. 1218 के

---

1. इ. आई., 19, पृ. 17
2. जे. बी. बी. आर. ए. एस,, 21, पृ. 410
3. ई. आई., 2, पृ. 119
4. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 198
5, इ. आई., 9, पृ. 308
6. वही, 14, पृ. 182
7. बी. आई., पृ. 205-7
8. इ. आई., 2, पृ. 119

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नाडोल ताम्रपत्र में भी 12 गांवों का उल्लेख हुआ है।[1] कुछ अभिलेखों से एक मण्डल में 12 'पथकों' का होना भी ज्ञात होता है।[2]

कोट या दुर्ग की इकाई पृथक्तः होती थी। दुर्ग के आस पास का भू भाग भी दुर्ग प्रशासन के अन्तर्गत होता था।[3] सामरिक दृष्टि से दुर्ग का अधिक महत्व था। वहां राज्य की ओर से 'कोटपाल' नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। सीमा पर स्थित दुर्गों के प्रशासन के लिए राज-परिवार के विश्वस्त सदस्यों को 'कोटपाल' पद पर नियुक्त किया जाता था। चाहमान काल में हांसी के दुर्ग पर द्वितीय पृथ्वीराज के मामा गुहिलोत केल्हण को प्रशासक नियुक्त किया गया था।[4] इसके कुछ वर्ष बाद तृतीय पृथ्वीराज के भाई हरिराज को इसी पद पर नियुक्त किया गया था।[5]

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम होती थी। गांव के प्रशासन का कार्य मुख्य रूप से गांव का मुखिया करता था। हमारे अध्ययन काल के अभिलेखों व साहित्यिक ग्रन्थों में उसका उल्लेख ग्रामणिक, ग्रामिक, ग्राम-कूट, पट्टकिल, महाट्टक और मंहतक नामों से हुआ है।[6] गांवों के समूह का अधिकारी 'ग्रामपति' कहलाता था। राजस्थान में ग्रामपति को तलवर-गिक नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। ब्राह्मणों को दान में दिये जाने वाले गांव परम्परानुसार 'अग्रहार' कहलाते थे।[7]

परमारों का मालवदेश भी अनेक मण्डलों में विभाजित था। 'मण्डल' विषयों तथा 'भागों' में बंटे होते थे। इनके प्रशासक क्रमशः माण्डलिक, विषयपति और भोगपति कहलाते थे।[8] परमार अभिलेखों में अनेक मण्डलों का उल्लेख हुआ है।[9] अभिलेखों से राजस्थान में मरुमण्डल और अर्बुद मण्डल

---

1. वही, 9, पृ. 66-70
2. रा. थ्रू. ए., पृ. 345
3. इ. आई., 1, पृ. 154-68
4. आई. ए., 41, पृ. 19
5. अ. चौ. डा., पृ. 228 पाद टिप्पणी 61
6. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 213; प्रबन्धचिंतामणी, पृ. 98; इ. आई., 14, पृ. 187
7. रा. थ्रू. ए., पृ. 346
8. याज्ञवल्क्य ने मिताक्षरा में 'भोग' के प्रशासक को 'भोगपति' लिखा है (5, श्लोक 380)
9, द परमारज़, पृ. 215

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की स्थिति की भी जानकारी होती है।[1] विषय या भोग पुनः विभिन्न 'पथकों' में विभाजित थे। 'पथक' में अनेक नगर, कस्बे और ग्राम सम्मिलित होते थे। 'पथक' पुनः अनेक प्रतिज्ञाग्रणकों में विभक्त थे।[2] प्रतिज्ञाग्रणकों का उल्लेख वि. सं. 1243 के रेवासा अभिलेख[3] में तथा वि. सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख[4] में हुआ है। नागदा प्रतिज्ञाग्रणक का उल्लेख भी मिलता है।[5]

प्रतिहार शासनकाल में तत्कालीन अभिलेखों से तन्त्रपाल नामक पदाधिकारी के विषय में सूचना प्राप्त होती है।[6] द्वितीय विग्रहराज के शासनकाल में तन्त्रपाल का होना प्रमाणित है। तन्त्रपाल दहीक की नियुक्ति प्रथम महेन्द्रपाल ने की थी। उसने नक्षिस्वपुर के बलवर्मा और उसके पुत्र द्वितीय अवन्तिवर्मा के दानपत्रों पर हस्ताक्षर किये थे।[7] तन्त्रपाल माधव ने उज्जयिनी के मन्दिर में दिये गये दानपत्र पर हस्ताक्षर किये थे। 'उपमितिभवप्रपंच कथा' में तन्त्रपाल सन्तोष को महिपति कहा है। उसे साहसी कूटनीतिज्ञ, राजनीति में प्रवीण और सामरिक गुणों से सम्पन्न बताया गया है। स्पष्ट है कि प्रतिहार शासनान्तर्गत तन्त्रपाल विशिष्ट पदाधिकारी था। उसका प्रमुख कर्तव्य सामन्तों को नियन्त्रण में रखना और सीमावर्ती प्रदेशों में अपने स्वामी के हितों का ध्यान रखना था। माधव तन्त्रपाल महादण्डनायक और महासामन्त उपाधियों से विभूषित था।[8] शाकम्भरी के चाहमान सामन्त शासक प्रथम वाक्पतिराज ने केन्द्र के आदेशों की अवहेलना की थी जिससे रूष्ट होकर तन्त्रपाल क्षमापाल ने उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की थी।[9]

हमारे अध्ययन काल के अभिलेखों में इस सम्बन्ध में सूचनाएं नहीं दी गई हैं कि पथक चतुरशीतिका तथा द्वादशक का प्रशासनिक प्रबंध

---

1. द्र. इ. आई., 9, पृ. 13 और आई. ए., 51, पृ. 136
2. प्रतिज्ञागणक अर्वाचीन परगनों के पूर्व रूप थे।
3. अ. चौ. डा., पृ. 107
4. इ. आई., 26, पृ. 208
5. वही, 32, पृ. 153
6. वही, 2, पृ. 119; 14, पृ. 176-183
7. एच. आई. जी., 1, सं. 234-235
8. इ. आई. 14, पृ. 176-183, दशरथ शर्मा ने उसकी तुलना मुगलकालीन सिपहसालार या सूबेदार से की है। (रा. थ्रू. ए., पृ. 348)
9. वही, 2, पृ. 119

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किस प्रकार होता था और इनके पदाधिकारियों को किन पद नामों से सम्बोधित किया जाता था। महिपाल के शासनकाल में ग्रामपति, योगिक, महतर, कुटुम्बिक, पंचकुलीन, दण्डपाशिक राजकीय पदाधिकारी होते थे। अनुमान किया जा सकता हैं कि राजस्थान में भी लगभग इसी प्रकार के राजकीय पदाधिकारी रहे होंगे।[1]

स्थानीय शासन

हमारे अध्ययन काल के अभिलेख स्थानीय प्रशासन पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इस युग में ग्राम, ग्रामसमूह और नगर-प्रशासन के सुचारु संचालन करने के लिए ग्राम सभा, महाजन सभा तथा पंचकुल जैसी स्थानीय और सार्वजनिक संस्थाएं विद्यमान थीं। राजस्थान के कतिपय अभिलेखों में महाजन एक सामुदायिक संगठन का उल्लेख हुआ है। प्रशासनार्थ प्रायः सभी बड़े नगरों में महाजन सभा होती थी। गुप्तोत्तर काल से उस संस्था को प्रशासनान्तर्गत विशेष महत्व दिया जाने लगा था। इसे कर लगाने का विशेषाधिकार प्राप्त था। नगर प्रशासक नया कर लगाते समय इसकी सहमति प्राप्त करता था। किन्तु ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जब महाजन सभा ने राजा की स्वीकृति से नये कराधान किए थे। मेवाड़ के शासक शीलादित्य के वि. सं. 703 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रेष्ठि जेतक ने अरण्यवासिनी देवी के मन्दिर का निर्माण करवाने के लिए महाजन सभा से स्वीकृति प्राप्त की थी।[2] नाडूलडागिक की स्थानीय महाजन सभा ने ठाकुर राजदेव को महावीर चैत्य के प्रबन्ध के हेतु नये कर वसूल करने की अनुमति दी थी।[3] एक अन्य अभिलेख के विवरणानुसार राजदेव ने महाजन सभा को साक्षी बनाकर आदिनाथ मन्दिर को एक विंशोपक और दो पलिका तेल दान दिये जाने की व्यवस्था की थी।[4] वि. सं. 1190 के इगनौड़ा अभिलेख में आषाढ़ शुक्ल एकादशी के अवसर पर गोहडेश्वर महादेव के मन्दिर की व्यवस्था के हेतु हिरण्य, भाग, भोग इत्यादि कर सहित आगासिया गांव को भेंट किये जाने का उल्लेख है। इस अभिलेख से राज्य द्वारा दिए जाने वाले अनुदानों की सूचना गांव के समस्त महाजनों को दिये जाने की प्रथा भी संकेतित है। इस संस्था में प्रायः सभी जातियों के प्रमुख और प्रभावशाली व्यक्ति सम्मिलित थे।[5] नाडलाई अभिलेख के अनुसार चाहमान पत्तरा के पुत्र

---

1. रा. अ. ए., पृ. 348
2. ना. प्र. प., 1, 3, पृ. 311-14
3. नाहर, पू. च., जै. ले. सं. 1, पृ. 213-14
4. वही, पृ. 13
5. आई. ए., 6, पृ. 55-56

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विंसरा ने कलश के नाप से मोरकरा गांव के घाणक तेल का चतुर्थ भाग महावीर मन्दिर के निमित्त दिये जाने की व्यवस्था थी। इसकी साक्षी महाजन सभा के प्रतिनिधियों ने दी थी।[1] नाडलाई के एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि चाहमान वंशीय रायपाल के दो पुत्र रुद्रपाल और अमृतपाल ने जैन साधुओं के लिए प्रति घाणी दो पलिका तेल दिये जाने की घोषणा की थी। इस कार्य में ग्राम या महाजन सभा के प्रमुख सदस्यों की साक्षी ली गई थी जिनका अभिलेख में नामोल्लेख है। इनसे ग्राम या महाजन सभा के संगठन पर भी प्रकाश पड़ता है। महाजन सभा के सदस्य विभिन्न जातियों और व्यवसायों से मनोनीत किए जाते थे। गांव से सम्बन्धित अत्यन्त साधारण व्यवस्था के लिए भी ग्राम सभा की अनुमति आवश्यक होती थी।[2] वि. सं. 1233 के लालराई से प्राप्त अभिलेख में प्रत्येक रहट से उपज का कुछ भाग शान्तिनाथ की यात्रा निमित्त ग्राम पंचकुल के समक्ष अनुदान रूप में दिए जाने का उल्लेख है।[3]

राज्य की ओर से महाजन सभा को जनप्रतिनिधि संस्था के रूप में मान्यता प्राप्त थी। राज्य पदाधिकारी प्रायः इनमें उपस्थित रहते थे और इनके सदस्य के रूप में गौरवान्वित होते थे। वि. सं. 1172 के सेवाड़ी अभिलेख से ज्ञात होता है कि बलाधिप यशोदेव महाजन सभा और राजा द्वारा सम्मानित था।[4] उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाजन और ग्राम सभाएं अत्यन्त प्रभावशाली प्रशासनिक संस्थाएं थीं। उनका स्थानीय शासन में विशिष्ठ स्थान होता था।

---

1. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 212-13
2. वही, इस सम्बन्ध में नाड़लाई से प्राप्त वि. सं. 1195 और 1198 के अभिलेख भी दृष्टव्य हैं। हमारे अध्ययन काल के तुरन्त पश्चात् के वि. सं. 1352 के जूना अभिलेख के अनुसार सामन्तसिंह के अधिकारियों ने स्थानीय महाजन सभा की अनुमति से कुछ अनुदान दिया था (नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 244)। इसी प्रकार इसके 19 वर्ष बाद वि. सं. 1371 में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा जालौर का घेरा डाले जाने पर महाजन सभा ने नगर को दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का आश्वासन दिया था और कान्हड़दे को तुरुष्कों से युद्ध जारी रखने की सलाह दी थी (कान्हड़दे प्रबन्ध, 4, श्लोक 125-135)।
3. इ. आई., 11, पृ. 49
4. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 227

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों से प्रतीत होता है कि उपर्युक्त सभाएं ग्रामों और नगरों की महत्वपूर्ण सार्वजनिक संस्थाएं थीं जिनमें सभी वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व होता था। कार्यकुशलता के लिए ये सभाएं कार्यकारिणी के रूप में प्रायः एक लघु समिति गठित करती थी। इस लघु समिति को 'पंचकुल' की आख्या प्रदान की गई है। विशेष प्रयोजन के लिए अलग समिति का भी संगठन किया जाता था। इस पद्धति का एक उदाहरण महाराजाधिराज रायपाल के समय के वि. सं. 1200 का नाडोल अभिलेख मे प्राप्त होता है। इस अभिलेख में धालोप गांव के आठ खण्डों (वार्डों) में विभाजित किये जाने का उल्लेख है। प्रत्येक खण्ड से दो प्रतिनिधि मनोनीत किए गये थे। उनमें से एक को अध्यक्ष रूप में चुना गया था। इस समिति का कर्तव्य स्वक्षेत्र में सुरक्षा का प्रबन्ध करना था।[1]

ग्राम अथवा नगर के सार्वजनिक कार्यों के सम्पादनार्थ पंचकुले का एक कार्यकारिणी के रूप में 'मंहत' नामक पदाधिकारी की अध्यक्षता में होता था।[2] सामान्यतः अध्यक्ष का नाम अभिलेखों में उत्कीर्ण किया जाता था।[3] पंचकुल को स्थूलतः आधुनिक पंचायत का प्रारम्भिक रूप माना जाता है। अभिलेखों में और साहित्य में प्रायः पंचकुलिकों के साथ तन्नियुक्तक[4] शब्द प्राप्त होता है। यथा सोमदेव के 'नीतिवाक्यामृत' की एक टीका में 'करण' शब्द को पंचकुल का परिचायक निर्देशित करके निम्नलिखित पांच सदस्यों का उल्लेख किया गया है—(1) आदायक (जो आय प्राप्त करे), (2) निबंधक (जो लेखा जोखा रखे), (3) प्रतिबन्धक (मुद्रा अधिकारी), (4) नीवीग्राहक (वित्त सम्बन्धी अधिकारी) और (5) राज्याध्यक्ष (पंचकुल का अध्यक्ष[5])। इस वर्णन के अनुसार पंचकुल का एक सदस्य राज्याध्यक्ष भी होता था। सम्भवतः वह राजा द्वारा मनोनीत किया जाता था। शनैः शनैः राजा का

---

1. इ. आई., 11, पृ. 39-41
2. वही, पृ. 49, 50, 56 व 58
3. सिरोही अभिलेख में अजारी गांव में काकलेश्वर मन्दिर को पंचकुल द्वारा, जिसमें जगददेव और अन्य लोग शामिल थे, कुछ रहट और द्रम्म दान दिये जाने का उल्लेख है। पी.आर.ए.एस., डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 39
4. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 248
5. चौधरी, गु. च., पालिटिकल हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ. 372

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'पंचकुलों' की नियुक्ति में हस्तक्षेप बढ़ता गया।[1] पंचकुल की सदस्य संख्या कभी-कभी पांच से भी अधिक होती थी। सदस्यों को कहीं-कहीं 'वार' या 'वारिक' शब्द से भी सम्बोधित किया जाता था। 'वारिक' शब्द का सम्बन्ध इस समिति के सदस्यों के बारी-बारी से बदले जाने की पद्धति से लगता है। परमार कृष्णराज कालीन वि. सं. 1117 के भीनमाल अभिलेख में धारकूट परिवार जेल के पुत्र किरणादित्य वारिक उसी वर्ष के लिए पंचकुल का सदस्य बना था। इसका अर्थ यह हुआ कि भीनमाल में कार्यकारिणी (पंचकुल) के सदस्यों की प्रति वर्ष नियुक्ति होती थी।[2] इसी स्थान से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में सदस्यों द्वारा दिए गए एक अनुदान का श्रेय भावी सदस्यों को दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समिति का सुनिश्चित समय पर पुनर्गठन हुआ करता था।[3] किन्तु इनका कार्यकाल तय करना सम्भव नहीं है। सियोडनी से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति वि. सं. 1024 में 'वारिक' थे वे वि. सं. 1026 में भी यथावत् बने रहे। इससे उनके कार्य के लम्बे काल का आभास होता है।[4] उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि स्थानीय आवश्यकतानुसार पंचकुल के सदस्यों की संख्या घटती बढ़ती रहती थी और सम्भवतः निश्चित कार्यकाल का भी प्रावधान रहता था।

'वारिकों' का एक पृथक् कार्यालय होता था जिन्हें 'स्थान' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। यहां नगर प्रशासन सम्बन्धी सभी दस्तावेज सुरक्षित रखे जाते थे। पेहोआ अभिलेख से ज्ञात होता है कि पेहोआ नगरी के अश्व व्यवसायियों ने धर्म कार्य के लिये स्वेच्छा से अनुदान संग्रह का निश्चिय किया था। इस निर्णय सम्बन्धी परिपत्र की एक प्रति 'स्थान' में

---

1. (अ) भीनमाल से प्राप्त वि. सं. 1306 और 1336 के अभिलेखों से संकेतित है कि पंचकुल के सदस्यों की नियुक्ति राजा द्वारा ही होती थी।

   (आ) समराइच्चकहा में सार्थवाह चन्दन के घर चोरी हो जाने पर राजा द्वारा पंचकुल की नियुक्ति का उल्लेख है। इसी प्रकार मोहपराजय नाटक में कुमारपाल द्वारा पंचकुल को नियुक्त किए जाने का वर्णन है। (मोहपराजय, 3, पृ. 57)

2. बी. जी., 1, पृ. 472-73

3. वही, पृ. 80

4. इ. आई., 1, पृ. 154, 173 व 179

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रखी गई जिससे भविष्य में इसी के अनुसार चन्दा एकत्र किया जा सके।[1] 'स्थान' के प्रबन्ध के लिए करणिक नामक एक पदाधिकारी (सचिव) नियुक्त किया जाता था।[2] इस पदाधिकारी का कार्य नगर समिति के लेख पत्रों आदि को सुरक्षित रखना और समिति की ओर से आवश्यक पत्रादि लिखना था। उसके अधीन सम्भवतः कई लिपिक रहते थे। 'कोप्तिक' नामक कर्मचारी बाजार से कर वसूल करता था। यह कर नगर समिति की आय का बहुत बड़ा स्रोत था। कभी-कभी केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये गये करों की वसूली भी इस समिति के माध्यम से की जाती थी। 'प्रबन्धचिंतामणि' से ज्ञात होता है कि गुजरात में 'बाहुलोदा' नगर का यात्रा कर, जो 12वीं शताब्दी में लगभग 72 लाख था, नगर समिति द्वारा वसूल किया जाता था। हो सकता है राजस्थान में भी यह कार्य नगर समितियों के माध्यम से किया जाता रहा हो।

पंचकुल संस्था का अधिकार-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। नगर अथवा ग्राम में सुरक्षा और शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिये राजकीय पदाधिकारियों को सहयोग देना भी पंचकुल का एक कर्तव्य होता था। साहित्य में चोरी का पता लगाना, लौकिक न्याय के आधार पर अपराधियों को दण्ड देना, परस्पर विवादों को निपटाना, छोटे मोटे मुकदमें सुनना, दान पत्रों को मान्यता प्रदान करना तथा उन्हें पंजीकृत करना, व्यापारियों को व्यापार करने के लिए अनुमति या स्वीकृति पत्र देना, गांव में खेतों का बंटवारा करना इत्यादि अनेक कार्य पंचकुल द्वारा किये जाने का उल्लेख मिलता है।[3]

पंचकुल के सदस्य मण्डपिका आय में से कुछ धन दान दे सकते थे।[4] घटियाला अभिलेख के अनुसार जिस मन्दिर की व्यवस्था पंचकुल और गोष्ठी के सदस्य मिलकर करते थे वह संस्था भारक कहलाती थी।[5]

पंचकुलिक अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति होते थे। उनमें सैन्य शक्ति के संगठन की क्षमता की अपेक्षा की जाती थी। सपादलक्ष नरेश द्वारा गुजरात

---

1. वही, पृ. 187
2. वही, पृ. 118
3. समराइच्चकहा, पृ. 30, 112, 170; वृहत्कथाकोश, पृ. 30, 121; लेखपद्धति, पृ. 8,9,10,12,16,19,33,50,57; घुरेटी शिलालेख, कार्पस, 8, पृ. 373
4. प्राचीन जैन लेख संग्रह, सं. 319
5. वि. सं. 918 का घटियाला अभिलेख, जे. आर. ए. एस., 1895, पृ. 516

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर आक्रमण किये जाने पर मूलराज ने पंचकुल से सैनिक सहायता प्राप्त करना चाहा था ।[1]

पंचकुलादि की कार्य संचालन पद्धति से तत्कालीन प्रशासन में प्रजातांत्रिक व्यवस्था का आभास मिलता हैं । 'कुवलयमाला' में ग्राम महत्तरों और ज्येष्ठ महत्तरों का उल्लेख हुआ है । मायादित्य की कथा इसका प्रमाण मानी जा सकती है कि उक्त अधिकारियों का कार्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था और वे जीवन की विविध समस्याओं के समाधान के लिए सलाह देते थे ।[2] इस कथा में मायादित्य नामक एक कपटी वणिक, जिसने अपने मित्रों के साथ अनेक बार विश्वासघात किया था, अग्नि में जलकर प्रायश्चित करने के लिये उत्सुक था । उसने ग्राम महत्तरों से सलाह ली । ज्येष्ठ महत्तर ने उसे गंगा की धारा में शरीर त्यागने की सलाह दी । अन्य महत्तरों ने भी इसका अनुमोदन किया । इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रामों में महत्तर और ज्येष्ठ महत्तर होते थे और उनकी सलाह स्वीकार की जाती थी ।[3] वि. सं. 1244 के वीरपुर दानपत्र में भी कहा गया है कि वह दान-पत्र महत्तम केल्हण और पंचकुल की अनुमति से लिखा गया था ।[4]

मण्डपिका

राजस्थान में कर संग्रह करने का कार्य मण्डपिका अथव 'मांडवी' द्वारा सम्पादित किया जाता था ।[5] यह निश्चित नहीं है कि मण्डपिकाएं राजकीय संस्थायें थीं अथवा अर्द्ध राजकीय संस्थायें । तत्कालीन अभिलेखों से इनके रूप पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता । सम्भवत: उक्त संस्थाएं राजकीय नियं-

---

1. प्रबन्धचिंतामणि, पृ. 26, यद्यपि यह उदाहरण गुजरात से सम्बन्धित है तथापि इससे उस समय की व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है । उस काल में गुजरात और राजस्थान की व्यवस्था में विशेष अन्तर नहीं था ।
2. कुवलयमाला, पृ. 63
3. वही
4. ओझा निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 197
5. बी. एन. पुरी ने अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ गुर्जर प्रतिहार (पृ. 113) में मण्डपिका को नगर सभा भवन की संज्ञा दी है जहां पंचकुल के सदस्य बैठ कर अपनी समस्याओं के सम्बन्ध में विचार विमर्श किया करते थे । पुरी का यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता । राजस्थान में मण्डपिका शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से चुंगी घर के अर्थ में हुआ है । अभिलेखों के अध्ययन से यह प्राय: निश्चित है कि मण्डपिकाओं के माध्यम से आयात व निर्यात शुल्क की वसूली की जाती थी ।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्रणान्तर्गत थी। मण्डपिका स्थानीय तथा सार्वजनिक संस्थाओं के लिए राज्य द्वारा निश्चित आयात निर्यात कर एकत्र करती थी। वे विभिन्न प्रशासनिक विभागों के लिए धन कोष निश्चित करती तथा एकत्र धन राशि का उचित बंटवारा भी करती थी। मण्डपिकाएं आभाव्यों की वसूली भी करती थीं जो तलार, बलाधिप आदि स्थानीय पदाधिकारियों को सेवा के बदले में वेतन स्वरूप दिये जाते थे।

नगर तथा ग्रामीण प्रशासन से सम्बन्धित पट्टकिल (वर्तमान पटेल)[1], बलाधिप (सैनिक अधिकारी मण्डपिका की देखभाल के लिए नियुक्त)[2], तलार (नगर कोतवाल)[3], सेलहथ (ग्रामीण क्षेत्र का अधिकारी)[4], रक्षा कर (ग्राम या नगर चौकोदार)[5] पारिग्राहिन् (पेशकार)[6] कोटपाल (दुर्ग का अधिकारी) इत्यादि राजकीय पदाधिकारियों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। किन्तु सन्दर्भों से यह स्पष्ट नहीं है कि पंचकुल, महाजन सभा अथवा ग्राम सभा और उक्त राजकीय पदाधिकारियों में परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध था। अनुमानतः इनमें सहयोग की भावना थी और उनके पारस्परिक सहयोग से ही स्थानीय प्रशासन कार्य संचालित होता था।

महाजन सभा व पंचकुल के अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित श्रेणियों का अस्तित्व भी था। श्रेणियाँ स्वक्षेत्र में कार्य करने वालों को आर्थिक सहायता प्रदान करती थी तथा उद्योग धन्धों की व्यवस्था करती थीं। ये स्वयं अपने नियम बनाती थी और उनका पालन करती थीं। राज्य की ओर से उन्हें मान्यता प्राप्त रहती थी। इस विषय में आर्थिक व्यवस्था विषयक अध्याय में विचार किया गया है।

---

1. इ. आई., 11, पृ. 308
2. जे. पी. ए. एस. बी., 12, पृ. 102
3. द्र. इ. आई., 11, पृ. 47
4. वही, पृ. 59, कान्हडदेप्रबन्ध, 4, 40
5. वही, पृ. 40
6. वही, 26, पृ. 80

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धार्मिक जीवन

भारतीय वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में धर्म की सर्वदा सर्वाधिक महत्ता रही है। 700 से 1200 ई. के राजस्थान का जनजीवन भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं था। देश के इस भाग से प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि यहां प्रमुखतः पौराणिक धर्म का प्रचलन था। मन्दिर, मूर्ति-प्रतिष्ठा एवं आराधना, देवभक्ति, अनुष्ठान, व्रत इत्यादि को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त थी। विचाराधीनकाल में त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) भक्ति का तत्कालीन धार्मिक जीवन में प्रमुख स्थान था। इनके अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, सूर्य इत्यादि अन्य पौराणिक देवताओं एवं शक्ति के विवध रूपों की भी आराधना प्रचलित थी। पूर्वगामी युगों के समान इस काल में लक्ष्मी विष्णु अर्द्धांगिनी तथा पार्वती शिव-भार्या के रूप में आराध्या थी। वाग्देवी सरस्वती की भी पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। शक्ति की चण्डी, अम्बिका, भद्रा, काली, कात्यायिनी आदि रूपों में उपासना भी जन प्रचलित थी। विष्णु के साथ उनके दशावतारों की पूजा भी की जाती थी। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, राम, कृष्ण आदि प्रमुख अवतारों का उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में उपलब्ध है। हमारे अध्ययन काल में सभी वर्गों के लोगों द्वारा लोककल्याण के लिये कार्य करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। यह विचार प्रचलित था कि शुद्धचित्त से कुएं, मन्दिर, जलाशय इत्यादि बनवाने वाले ब्रह्मलोक में स्थान पाते हैं। फलतः इस काल में यज्ञ धर्म के स्थान पर पूर्तधर्म को अधिक महत्व दिया जाने लगा था।

यद्यपि पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों में विभिन्न देवी-देवताओं और तत्सम्बन्धी सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है। तथापि इस विविधता में एकता की भावना भी विद्यमान थी। सामान्यतया यह माना जाता था कि विभिन्न देवी-देवता पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र है तथा ईश्वर अथवा परम सत्य की प्राप्ति अनेक मार्गो द्वारा सम्भव है। सभी मार्ग परमार्थ सत्ता की सम्प्राप्ति में सहायक है। इस दृष्टिकोण से सांस्कृतिक और धार्मिक समन्वय तथा सहिष्णुता की भावना को बल मिला।

विचाराधीनकाल में धार्मिक सहिष्णुता को राजकीय समर्थन भी प्राप्त होता रहा। एक ही वंश के विभिन्न राजा विभिन्न देवी-देवताओं की आराधना करते थे। प्रतिहार शासक देवशक्ति, वत्सराज, द्वितीय नागभट, रामभद्र, प्रथम महेन्द्रपाल, विनायकपाल और द्वितीय महेन्द्रपाल क्रमशः विष्णु, महेश्वर, भगवती, आदित्य, भगवती, आदित्य और महेश्वर के उपासक थे,[1] परन्तु इन

---

1. इ. आई., 14, पृ. 182

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नरेशों ने सभी देवी-देवताओं को एक ही परमेश्वर के विभिन्न विग्रहों के रूप में ही अंगीकृत किया था। प्रथम भोज यद्यपि भगवती का भक्त था तथापि उसने अपने अन्तःपुर में नरकद्विष (विष्णु) के मन्दिर का श्रद्धासहित निर्माण करवाया था।[1] द्वितीय महेन्द्रपाल ने शैव होते हुए भी वटयक्षिणी देवी के मन्दिर के निर्वाह के लिए खरपरपद्रक ग्राम दान दिया था।[2] उसके महासामन्त और प्रान्तीय शासक माधव ने इन्द्रादित्य के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था। उसने इस मन्दिर के दैनिक व्यय के लिए भी एक ग्राम दान रूप में देने की घोषणा की थी।[3] उल्लेखनीय है कि इसी के निकट नित्यप्रमोदित्यदेव का मन्दिर भी स्थित था। इन मन्दिरों की व्यवस्था करने के लिए एक पाशुपत मतावलम्बी व्यक्ति को नियुक्त किया गया था।[4]

हमारे अध्ययन काल में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की मूर्तियों का एक ही स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाना और उनकी एक साथ पूजा अत्यन्त सामान्य बातें थीं। इसके अतिरिक्त अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियों की प्रतिष्ठा एक ही मन्दिर में की जाती थी जिससे सभी देवताओं के आराधक पूजा हेतु एक स्थान पर एकत्र हो सकें। हमारे अध्ययनकाल में संहतिवादी प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि सूर्य, ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि देवताओं का एकत्व व्यक्त करने वाली प्रतिमाएं निर्मित की जाती थीं। भवाल, रणपुर, ओसियां, हर्षनाथ तथा किराडू से प्राप्त मूर्तियां इसका प्रमाण हैं। हर्षनाथ का मन्दिर मुख्यतः शैव मन्दिर था परन्तु उसमें सूर्य, ब्रह्मा, शिव और विष्णु की संयुक्त प्रतिमा उपलब्ध है। इसके मध्य विष्णु और सूर्य के सामान्य मुकुट हैं और दोनों तरफ जटायुक्त मुकुट जो शिव और ब्रह्मा के परिचायक हैं। इसके हाथों में पृथक पृथक त्रिशूल और सर्प (शिव परिचायक), चक्र और शंख (विष्णु परिचायक) और पुस्तक तथा कमण्डल (ब्रह्मा परिचायक) हैं।[5] सूर्य को सभी देवताओं के समाहित रूप में प्रयुक्त किया जाता था। भावल, रणपुर, किराडू, ओसियां इत्यादि स्थानों पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सूर्य के उक्त रूप को प्रकट करने वाली प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं। बाडोली और अजमेर में पितामह हरिहर अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक रूप में प्रकट करने वाली मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।[6] ओसियां के दो पंचायतन मन्दिरों में हरिहर

---

1. वही, 18, पृ. 99-114
2. वही, 14, पृ. 187
3. वही।
4. वही।
5. रा. अ. ए., पृ. 367
6. वही, पृ. 368

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की प्रतिमाएं उपलब्ध हैं।[1] इन प्रतिमाओं का अर्द्ध भाग विष्णु है और अर्द्ध भाग शिव। बेदला की हरिहर प्रतिमा में देवता को एक हाथ में चक्र और दूसरे में त्रिशूल धारण किए हुए प्रदर्शित किया गया है।[2] इसी प्रकार की एक प्रतिमा जगत से भी उपलब्ध हुई है।[3]

विचाराधीनकाल में संहतिवादी भावना का प्रमाण तत्कालीन तीर्थस्थलों से भी प्राप्त होता है। तीर्थस्थानों पर प्रायः सभी प्रमुख देवी-देवताओं के मन्दिर होते थे। उदाहरणस्वरूप 'पृथ्वीराज विजय' का पुष्कर तीर्थ सम्बन्धी विवरण उल्लेखनीय है। तदनुसार यद्यपि पुष्कर ब्रह्मा की तपोभूमि माना जाता था तथापि वहां विष्णु और शिव के मन्दिर भी थे। चाहमान शासकों ने पुष्कर झील के तट पर अनेक शिव-मन्दिरों का निर्माण करवाया था।[4] यहां भगवान् विष्णु के वराहरूप की पूजा भी लोकप्रिय थी।

उद्योतनसूरि कृत 'कुवलयमाला' से उस समय के कतिपय देवी-देवताओं के विवरण प्राप्त होते हैं। समुद्र यात्रा पर जाने वाले व्यापारी संकटग्रस्त हो जाने पर नारायण, हर, चण्डिका, दुर्गा, स्कन्द, रेवन्त, बुद्ध इत्यादि की प्रार्थना करते थे।[5] पुत्र प्राप्ति हेतु लोग प्रायः स्कन्द, गोविन्द, चन्द्र, त्रिदशेन्द्र, गजेन्द्र (गणेश), नगेन्द्र, अरविन्दनाथ (सूर्य), यक्ष इत्यादि की उपासना किया करते थे।[6]

अब हम आभिलेखिक सामग्री के आधार पर प्रमुख देवी-देवताओं तथा सम्प्रदायों की धार्मिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे।

शैव धर्म

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान में शैव धर्म अत्यधिक लोकप्रिय था। अधिकांश प्रतिहार शासक व्यक्तिगत रूप से शैव थे पर अन्य धर्मों के प्रति अनुदार नहीं थे। दौलतपुरा ताम्रपत्र[7] में वत्सराज को 'परममाहेश्वर' कहा गया है। भोजदेव के वि.सं. 1076 के बांसवाड़ा ताम्रपत्र[8] का प्रारम्भ शिव

---

1. वही, पृ. 367
2. वही।
3. वही, पृ. 368
4. पृथ्वीराजविजय, 1, 35-40, 5, 36-44 इत्यादि
5. कुवलयमाला, पृ. 68
6. वही, पृ. 14
7. इ.आई., 5, पृ. 211
8. वही, 11, पृ. 182

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्तुति से होता है। द्वितीय महेन्द्रपाल के प्रतापगढ़ अभिलेख[1] में वत्सराज और द्वितीय महेन्द्रपाल को परममाहेश्वर कहा गया है। मण्डोर के प्रतिहार शासक भी शिवोपासक प्रतीत होते हैं। मण्डोर से प्राप्त वि.सं. 742 के एक अभिलेख[2] का प्रारम्भ 'ओम् नमः शिवाय' से होता है। बाउक के वि.सं. 894 के मण्डोर अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि शिलुक ने सिद्धेश्वर महादेव के मन्दिर का निर्माण करवाया था। राजौर के मथनदेव ने अपनी माता लच्चुका के नाम पर लच्चुकेश्वर महादेव की मूर्ति की स्थापना करवाई थी।[4] मथनदेव का पिता सावट भी शिवोपासक था।[5] मेवाड़ अपने अनेक शैव मन्दिरों के कारण प्रसिद्ध था, यथा एकलिंग महादेव का मन्दिर। परम्परानुसार इस मन्दिर का निर्माण बप्पा रावल ने करवाया था।[6] मेवाड़ के गुहिल शासक पद्मसिंह द्वारा वर्तमान 'गोगुन्दा' तहसील में 'नरसिंहपुरा' नामक गांव के वल्कलेश्वर महादेव के मन्दिर के हेतु तेलीवाड़े से तेल दान किया गया था।[7] इसी प्रकार अजमेर संभाग के नासून से प्राप्त वि.सं. 887 के एक अभिलेख[8] में ईशानभट्ट के शासनकाल में गोडास्वामी द्वारा शिव मूर्ति स्थापित किये जाने का उल्लेख है।

चाहमान शासकों के शासनकाल में भी शैवधर्म की प्रगति हुई। हर्ष अभिलेख[9] से ज्ञात होता है कि गूवक ने चाहमान कुलदेवता श्री हर्षदेव (हर्षनाथ) के मन्दिर का निर्माण करवाया था। सिंहराज ने इस मन्दिर के निमित्त कुछ गांव प्रदान किये थे। वाक्पति की माता रुद्राणी ने पुष्कर स्थित शिवलिंग पर प्रतिदिन एक सहस्र दीपों के दान की व्यवस्था की थी।[10] सिंहराज की भांति स्वयं वाक्पतिराज भी शैव था। उसने पुष्कर में शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया था जो तृतीय पृथ्वीराज के समय तक

---

1. वही, 14, पृ. 182
2. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ आर्क्यलोजिकल डिपार्टमेण्ट, जोधपुर 1934, पृ. 5
3. इ.आई., 18, पृ. 95
4. वही, 3, पृ. 263
5. रा.श्रू.ए., पृ. 374
6. वही।
7. वरदा, 9, 1, पृ. 55
8. पी.आर.ए.एस., डब्ल्यू.सी., 1920-21, पृ. 56
9. इ.आई., 2, पृ. 119
10. पृथ्वीराजविजय, 5, 37

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्यमान था ।[1] अजयराज ने एक शिव मूर्ति की स्थापना की थी ।[2] 'हरकेलिनाटक'[3] तथा 'पृथ्वीराजविजय'[4] के अनुसार चतुर्थ विग्रहराज शैव था । अलवर से प्राप्त वि.सं. 1239 के एक अभिलेख में रानी केलच्चदेवी द्वारा अनंगसूदन शिव के मन्दिर का निर्माण करवाये जाने का उल्लेख है ।[5] द्वितीय पृथ्वीराज की रानी सुहवादेवी ने मेवाड़ में मेनाल स्थान पर सुहवेश्वर शिवालय का निर्माण करवाया था ।[6]

शाकम्भरी के चाहमान शासकों की भांति नाडोल, किराडू, जालौर व सांचोर के चाहमानों की शाखाओं के शासकों ने भी शैव धर्म को पर्याप्त प्रश्रय दिया । आशाराज के चण्डलेश्वर के मन्दिर का निर्माण करवाया था । उसने त्रिपुरुष मन्दिर के निर्वाह के लिए एक ग्राम प्रदान किया था । इसके अतिरिक्त उसने अन्य शिव मन्दिर और धार्मिक आवास बनवाये थे ।[7] आल्हण ने नाडोल में शिव मन्दिर बनवाया था ।[8] नाडोल के दो चाहमान अभिलेखों में शिव आस्पोलेश्वर अथवा आस्लेश्वर[9] और शिवजेन्द्र राजेश्वर[10] मन्दिरों के निर्माण का विवरण मिलता है । कतिपय अन्य अभिलेखों में पाली के अन्तर्गत आउवा के कामेश्वर महादेव[11] मन्दिर तथा नाडोल के सोमेश्वर शिवालय[12] का उल्लेख हुआ है ।

जालौर के चाहमान शासक कीर्तिपाल की पुत्री रूदलदेवी तथा उदयसिंह ने जालौर में शैव मन्दिरों का निर्माण करवाया था ।[13] मदनपुर के एक

---

1. वही, 5, 43
2. वही, 5, 183
3. उल्लेखनीय है कि इस नाटक के अन्त में भगवान शिव मनुष्य रूप में प्रकट होकर चतुर्थ विग्रहराज को आशीर्वाद प्रदान करते हैं ।
4. पृथ्वीराजविजय, 8, 55
5. सोमानी, रामवल्लभ, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज़ टाइम्स, पृ. 178
6. अ.चौ.डा., पृ. 74 पाद टिप्पणी, 56
7. इ.आई., 9. पृ. 77
8. वही ।
9. वही, 11, पृ. 40
10. वही ।
11. वही, 11, पृ. 68-69
12. वही, पृ. 26
13. अ.चौ.डा., पृ. 260

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

चाहमान अभिलेख में शिवमूर्ति स्थापना का उल्लेख हुआ है। प्रतीत होता है शिवराधना चन्द्रशेखर त्र्यम्बक त्रिपुरान्तक आदि नाम से की जाती थी।[1]

परमार शासकों ने भी शैव धर्म को राजाश्रय प्रदान किया था। सम्भवतः उनके कुलदेवता शिव ही थे। चित्तौड़ के समिद्धेश्वर मन्दिर का निर्माण परमार नरेश भोज ने करवाया था।[2] शेरगढ़ के एक अभिलेख[3] की सूचनानुसार उदयादित्य ने भगवान् सोमनाथ के कोशवर्द्धन स्थित मन्दिर के लिए दान दिया था। आबू शाखा के परमार शासक देवराज के वि.सं. 1059 के रोपी ताम्रपत्र[4] से ज्ञात होता है कि चन्द्रग्रहण के अवसर पर उसने सिद्धेश्वर मन्दिर के प्रमुख शैवाचार्य आउरकाचार्य को भूमि प्रदान की थी। धारावर्ष के वि.सं. 1220 के कायदरा-अभिलेख[5] में केशेश्वर महादेव के मन्दिर का उल्लेख हुआ है। हाथल ताम्र अभिलेख में दोवोत्थान एकादशी को शैवधर्माचार्य भट्टारक वीसलउग्रदमके को भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। वि.सं. 1212 के थकराड़ा अभिलेख[6] से ज्ञात होता है कि अनगंपालदेव ने सिद्धेश्वर-मन्दिर के निमित एक हल भूमि दान की थी। परमारों की वागड़ शाखा के शासक धनिक ने उज्जैन के महाकाल मन्दिर के सन्निकट धनेश्वर मन्दिर का निर्माण करवाया था।[7] इसी प्रकार माण्डलिक नामक व्यक्ति ने पांशुलाखेटक (पाणहेरा) नामक स्थान पर मण्डलेश्वर महादेव के मन्दिर का निर्माण करवाया था।[8] माण्डलिक ने स्वपुण्यार्जन हेतु कुछ भूमि भी दान दी थी। चामुण्डराज भी शैव था। उसने मण्डलेश्वर मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया था। जालौर से प्राप्त वि. सं. 1174 के एक अभिलेख[9] में परमार वीसल की रानी मेलरदेवी द्वारा सिन्धुराजेश्वर मन्दिर के लिए सुवर्णकलश अर्पित किए जाने का उल्लेख है।

चित्तौड़ से प्राप्त कुमारपाल चौलुक्य के एक अभिलेख का प्रारम्भ शिव स्तुति से हुआ है।[10] उसने वि. सं. 1207 में समिद्धेश्वर मन्दिर के दर्शन किए थे और शिवालय के निर्वाहार्थ ग्राम दान किया था।

---

1. ए. एस. आर., 20, न. 9, 10, 11
2. ना. प्र. प., 3, पृ. 1-18
3. इ. आई., 23, पृ. 135-36
4. वही, 22, पृ. 196-198
5. आई. ए., 56, पृ. 51
6. वही, पृ. 225
7. इ.आई., 21, पृ. 41
8. ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1916-17, पृ. 2
9. आई.ए., 42, पृ. 41
10. इ.आई., 2, पृ. 422

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजाओं के अतिरिक्त प्रशासनिक अधिकारियों, धनाढ्यों एवं सामान्य लोगों ने भी मंदिर-निर्माण, मन्दिर पुनर्संस्कार और प्रतिमा स्थापन कार्य करवाये थे। झालरापाटन के वि. सं. 1143 के एक अभिलेख[1] की सूचनानुसार परमार उदयादित्य के शासनकाल में तेली पटेल जनक ने एक शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसने मन्दिर में दीपदान के लिए चार पल तेल और एक मोदक प्रति वर्ष देने का संकल्प भी किया था। कुमारपाल चौलुक्य के एक चित्तौड़ अभिलेख[2] में उसके दण्डनायक सज्जन द्वारा समिद्धेश्वर मन्दिर को एक घाणक तेल दिये जाने का उल्लेख हुआ है। किराडू से प्राप्त वि.सं. 1235 के एक चाहमान अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि महाराजपुत्र मदन ब्रह्मदेव के शासनकाल में तेजपाल की पत्नी ने तुरुष्कों द्वारा शिवालय प्रतिभा को खण्डित किये जाने के उपरान्त नई मूर्ति स्थापित करवाई थी। उक्त अभिलेख में यह भी सूचना प्राप्त होती है कि मदन ब्रह्मदेव ने पूजा के लिए दो विशोपक एवं दीपदानार्थ तेल दिये जाने की व्यवस्था भी की थी। वि.सं. 1253 के बड़ा दीवड़ा (डूंगरपुर) गांव के शिवालय-मूर्ति-अभिलेख के अनुसार द्वितीय भीमदेव के शासनकाल में महत्तम एल्हा के पुत्र वैजा द्वारा नित्यप्रमोदित्यदेव मन्दिर में मूर्ति स्थापित करवाई गई थी।[4]

कल्याणपुर से प्राप्त सातवीं शताब्दी के एक अभिलेख का प्रारम्भ भगवान शिव की स्तुति से होता है। तदुपरान्त सूचित किया गया है कि महाराज पद्द्र के शासनान्तर्गत एक धर्म प्राण व्यक्ति ने पर्याप्त धनराशि व्यय करके वहां शिव-सदन का निर्माण करवाया था।[5] कदछी के समय (7वीं 8वीं शदी) के इसी स्थान से प्राप्त एक अभिलेख के प्रारम्भ में शिव की स्तुति की गई है। अभिलेखानुसार वोणी नामक भद्र महिला ने एक शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसने मन्दिर के पुनर्संस्कारादि के निमित्त चालीस द्रम्म प्रदान किये थे।[6]

कतिपय शासकों द्वारा महाशिवरात्रि पर्व पर दानादि धार्मिक कृत्य किये जाते थे। वि.सं. 1172 के सेवाडो अभिलेख में चाहमान कटुकराज द्वारा

1. जे.पी.ए.एस.बी., 10, पृ. 241-43
2. इ.आई., 2, पृ. 422
3. आई.ए., 42, पृ. 42
4. ओझा, गो.ही., डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 51
5. इ.आई., 35, पृ. 55
6. वह, पृ 57

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh

शिल्पज्ञ थल्लक को शिवरात्रि के दिन 8 द्रम्म प्रति वर्ष दिये जाने की घोषणा का उल्लेख है।[1] किराडू से प्राप्त वि.सं. 1209 के एक अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि आल्हणदेव ने शिवरात्रि को पशुवध निषेध का आदेश प्रज्ञापित किया था। इस आज्ञा का उल्लंघन करने वाले साधारण नागरिक से पांच द्रम्म और राजसम्बन्धी से एक द्रम्म दण्ड लिये जाने की व्यवस्था की गई थी। उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शिवरात्रि पर्व का विशेष महत्त्व माना जाता था।

राजस्थान में शिव की 'अर्धनारीश्वर' रूप में भी उपासना की जाती थी। 'अर्धनारीश्वर' मूर्ति में दक्षिणांग भगवान शिव का और वामांग शिवा (पार्वती) का होता है।[3] छोटी सादड़ी के वि.सं. 547 के एक अभिलेख में अर्धनारीश्वर का उल्लेख हुआ है।[4] खण्डेले से प्राप्त वि.सं. 701 के अभिलेख[5] में अर्धनारीश्वर-मन्दिर निर्मित किये जाने का उल्लेख है।

ताण्डव नृत्य मुद्रा में शिव की द्विभुजी प्रतिमाएं राजस्थान में उपलब्ध हुई हैं। भगवान शिव और पार्वती की संयुक्त प्रतिमाएं अजमेर और सीकर के संग्रहालयों में संरक्षित हैं। सीकर संग्रहालय में सुरक्षित एक महत्वपूर्ण प्रतिमा में शिवपार्वती को आलिंगनबद्ध मुद्रा में प्रदर्शित किया गया है।[6] बघेरा से शिव-पार्वती की अनेक मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। यहां से प्राप्त एक प्रतिमा में आलिंगनबद्ध शिव और उमा को नन्दी पर बैठे हुए दिखाया गया है। इस मुद्रा में शिवपार्वती की खड़ी मूर्ति भी प्राप्त हुई है। योगीश्वर रूप में भी शिव का तक्षण किया जाता था जैसा कि बघेरा से प्राप्त वि.सं. 1232 के एक अभिलेख से संकेतिक है। उक्त मूर्ति चाहमान नरेश तृतीय पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय की प्रतीत होती है।[7] दुर्गगण के राज्यकाल में वापट ने झालरापाटन में चतुर्मुख शिव के मन्दिर का निर्माण करवाया था।

हमारे अध्ययनकाल में राजस्थान में शैव मत के प्रायः सभी प्रमुख सम्प्रदाय विद्यमान थे यथा शैव सिद्धान्त, लकुलीश-पाशुपत, कापालिक और

1. वही, 11, पृ. 30
2. वही, पृ. 44
3. रा.थ्रू.ए., पृ. 377
4. इ.आई., 30, पृ. 122
5. रिसर्चर, 2, पृ. 17
6. रा.थ्रू.ए., पृ. 376
7. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कालमुख। इनमें लकुलीश पाशुपतमत का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है। विश्वम्भरशरण पाठक ने श्रीकण्ठ नामक 'व्यक्ति' को पाशुपत सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना है।[1] शैवागमों से इसकी पुष्टि होती है परन्तु इनमें श्रीकण्ठ की पहिचान शिव से की गई है। अभिलेखों में इस धर्म के प्रवर्तक और प्रथम आचार्य लकुलीश बताये गये हैं। सामान्यतया लकुलीश मतावलम्बी आचार्यों को पाशुपताचार्य कहा गया है। पुराणों में लकुलीश को भगवान शिव का अवतार बताया गया है।[2] लकुलीश के कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य चार शिष्य हुए जिनसे पाशुपत सम्प्रदाय की शाखा, प्रतिशाखाएं गोत्र इत्यादि बने। पाशुपत अनुयायी द्वैतवादी हैं। उन्होंने पांच सिद्धांतों को स्वीकार किया—(1) कार्य (2) कारण (3) योग (4) विधि और (5) दुखान्त। इन सिद्धान्तों (पंचार्थिक) की परवर्ती भाष्यकारों ने अपने-अपने विचारानुसार प्रतिपादित किया।[3]

लकुलीश मत के आचार्य यौगिक क्रियाओं में दक्ष माने जाते थे। सातवीं शताब्दी के झालरापाटन का वराह मूर्ति अभिलेख लकुलीश 'ईशानमुनि' का उल्लेख करता है।[4] प्रतिहार शासक भोज ने प्रभासराशि नामक पाशुपताचार्य को गोष्ठियों के निमित्त कुछ धन दिया था। इस तथ्य का उल्लेख हर्ष संवत् 299 के कामा अभिलेख में हुआ है। यह महत्वपूर्ण और विचारणीय तथ्य है कि चामुण्डा और विष्णु के मन्दिरों की व्यवस्था का दायित्व भी शैवाचार्य को सुपुर्द किया गया था।[5]

मेवाड़ में लकुलीश मत अत्यन्त लोकप्रिय था। एकलिंग मन्दिर के मठाधीश राज्य में प्रभावशाली थे। परम्परागत मान्यतानुसार हारीतराशि नामक लकुलीश मुनि ने बप्पा को मेवाड़ राज्य प्राप्त करने में सहायता दी थी। वि.सं. 1028 के एक एकलिंग-अभिलेख[6] में लकुलीश का उल्लेख अवतार के रूप में हुआ है। इस अभिलेख में कुशिक शाखा के कतिपय योगियों का नामोल्लेख है। वे शरीर पर भस्म लेपन करते, वल्कल वस्त्र धारण करते और जटाजूट रखते थे। अभिलेख के अन्त में सुपुजितराशि सद्योराशि, विनिश्चितराशि इत्यादि योगियों का उल्लेख हुआ है।

---

1. ना.प्र.प., 63, अं. 3-4
2. वायुपुराण अध्याय 33, लिंग पुराण अध्याय 24
3. सोमानी, रामवल्लभ, ऐतिहासिक शोध संग्रह, पृ. 127-40
4. ए.एस.आई., 2, पृ. 266
5. इ.आई., 24, पृ 331
6. बी.आई., 2, पृ. 69-72

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पालड़ी से प्राप्त वि.सं. 1173 के एक अभिलेख में लकुलीश की उत्पत्ति विषयक परम्परागत विवरण के अतिरिक्त उनके सम्प्रदायक आचार्यों के नाम भी प्राप्त होते हैं। पालड़ी के शिवालय का निर्माण वल्कल के एक शिष्य शिवभक्ति ने करवाया था।[1] चीरवा से प्राप्त वि.सं. 1330 के अभिलेख में एक योगी शिवराशि का उल्लेख हुआ है। उसे 'पाशुपततपस्विपतिः' कहा गया है।[2]

मेवाड़ के मेनाल और माण्डलगढ क्षेत्र में पाशुपत मत के शिवालयों का विवरण मिलता है। लोहारी के भूतेश्वर शिवालय के वि.सं. 1211 के एक अभिलेख में पाशुपताचार्य विश्वेश्वर द्वारा सिद्धेश्वर मन्दिर के मण्डप निर्माण का विवरण है।[3] मेनाल मठ के वि.सं. 1226 के एक अभिलेख के अनुसार ब्रह्ममुनि द्वारा शैव मठ का निर्माण करवाया गया था।[4] इसी प्रकार धौड़ के वि.सं. 1229 के एक अभिलेख में प्रभासराशि द्वारा शैव मठ बनवाये जाने का उल्लेख हुआ है।[5] प्रचलित धारणा है कि प्रारम्भ में मेनाल के आचार्य चाहमान शासकों के राजगुरु होते थे। हमारे अध्ययनकाल के बाद भी यह क्षेत्र इस मत से अत्यधिक प्रभावित रहा, जैसा कि यहां से प्राप्त 16वीं शताब्दी तक के अभिलेखों से प्रमाणित है।

शेखावटी में हर्षनाथ का शिवालय पाशुपत सम्प्रदाय का केन्द्र था। हर्षनाथ के वि.सं. 1030 के अभिलेख में अनन्तगोत्र के शैव साधुओं का उल्लेख हुआ है जो कुशिक शाखा से सम्बन्धित थे। अभिलेख की 22वीं पंक्ति में गुरु विश्वरूप को 'पंचार्थलाकुलाम्नाये' बताया गया है। उपरान्त 'आजन्मब्रह्मचारी दिगमल वसनः संयतात्मातपस्वी' अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। यह साधक की नग्नता की ओर संकेत है। अभिलेख में पाशुपतव्रत में पूर्णतः निष्ठावान अल्लट के एक शिष्य भावद्योत का भी उल्लेख है।[6] नासून[7] और धानोप[8] अभिलेखों में भी शैवाचार्यों की चर्चा है। अथूर्णा क्षेत्र के मण्डलेश्वर शिवालय में परमार राजा चामुण्डराज द्वारा वि.सं. 1136 में

---

1. इ.आई., 30, पृ. 10
2. वियाना ओरियण्टल जर्नल, 21, पृ. 155-62
3. ए.आर.आर.एम., अजमेर, 1923, पृ. 1
4. वी.वि., 1, पृ. 389
5. ए.आर.आर.एम., अजमेर, 1929, पृ. 2
6. इ.आई., 2, पृ. 123
7. आई.ए., 59, पृ. 21
8. वही, 50, पृ. 175

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थापित लकुलीश प्रतिमा से प्रमाणित है कि इस क्षेत्र में लकुलीश मत प्रचलित था ।[1]

आबू के वि. सं. 1265 के एक अभिलेख में एक पाशुपताचार्य का उल्लेख हुआ है । अभिलेख में शान्ता ब्रह्मचारिणी का नामोल्लेख है ।[2] इससे संकेतित है कि पाशुपत सम्प्रदाय की दीक्षा महिलाएं भी लेती थीं । शैवाचार्य कुटुकाचार्य की शिष्या वैणा का उल्लेख कल्याणपुर अभिलेख में हुआ है ।[3]

मारवाड़ के बाड़मेर विषय के अन्तर्गत चौहटन शिवालय के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि 11 वीं शताब्दी में निर्मित एक लकुलीश मन्दिर का जीर्णोद्धार वि. सं. 1365 में हुआ था ।[4] झालावाड़ विषय में इन्द्रगढ़ से प्राप्त वि. सं. 767 के एक अभिलेख में पाशुपत मत के योगी विनीतराशि और दानराशि के नाम प्राप्त होते हैं ।[5]

उपर्युक्त अभिलेखों के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि राजस्थान के कई भागों में लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय लोकप्रिय था । इसकी पुष्टि साहित्यिक ग्रंथों से भी होती है ।[6]

लकुलीश की प्रतिमाओं में शिव को पद्मासनासीन प्रदर्शित किया जाता है । उनके सिर के बाल घुंघराले बनाये जाते हैं । उन्हें एक हाथ में विजोरा-थल तथा दूसरे में लकुल धारण किए हुए दिखाया जाता है । लकुलीश ऊर्ध्वरेता थे, अतएव उनकी प्रतिमा पर लिंग स्पष्टतः बना रहता है । लकुलीश मन्दिर और शिव मन्दिर में बहुत समानता होती है । अन्तर मात्र यह होता है कि लकुलीश मन्दिर में मुख्य द्वार पर लकुलीश की मूर्ति होती है ।

लकुलीश प्रतिमाओं में कहीं-कहीं दो के स्थान पर चार हाथ प्रदर्शित होते हैं । इसके उदाहरण झालावाड़-कोटा क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं । कनसुवां के

---

1. ओझा, बांसवाड़ा राज्य का इतिहास, पृ. 34
2. वरदा, 8, 1, पृ. 10
3. इ. आई., 35, पृ. 57
4. ओझा, गो. ही., जोधपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ. 47
5. इ. आई., 32, पृ. 113
6. अभिलेखों में वर्णित आचार्यों के अतिरिक्त वामहधज नामक पाशुपताचार्य के ग्रन्थ मिले हैं । इनका विवेचन अगरचन्द नाहटा ने 'राजस्थान भारती' में किया है । समकालीन जैन गन्थों में भी राजस्थान में पाशुपत धर्म के प्रचलन का विवरण मिलता है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
लकुलीश मन्दिर में चतुर्भुज लकुलीश प्रतिमा उपलब्ध है।[1] बाडौलीके शिवालय में गन्धर्व किन्नरियों से युक्त चतुर्बाहु लकुलीश प्रतिमा मिली है। इनके अतिरिक्त लकुलीश की मूर्तियां अजमेर संग्रहालय, चित्तौड़ के सूर्य-मंदिर, कुम्भश्याम के मन्दिर आदि स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि हमारे अध्ययनकाल में राजस्थान के जन-जीवन को पाशुपत शैव धर्म ने अत्यधिक प्रभावित किया था। राजस्थान के विभिन्न भागों में शैव साधुओं के रहने के व साधना करने के लिए मठ बने हुए थे। शिव मन्दिरों में पूजा तथा अन्य आवश्यक व्यवस्था करने के लिए भी शैवाचार्यों को नियुक्त किया जाता था।[2]

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों में कापालिकों का अनेकत्र उल्लेख हुआ है। इनके इष्टदेव भैरव भगवान् शिव का रूप माने जाते हैं। साधारणत: कापालिक वाममार्गी होते हैं। वे सुरापान, मांसभक्षण इत्यादि करते हैं तथा सिर पर जटाजूट, गले में रुद्राक्ष माला, शरीर पर श्मशान भस्म एवं हाथ में नरकपाल धारण करते थे।[3] घौड़ के वि. सं. 1229 के सोमेश्वर अभिलेख के अनुसार भट्टारक प्रभासराशि ने नित्यप्रमोदित्य मन्दिर के निकट देश-विदेश से आए कप्पिल तपस्वियों के लिए एक मठ का निर्माण करवाया था।[4] कप्पिल का तात्पर्य कापालिक से है। शैव धर्मान्तर्गत कापालिक सम्प्रदाय वाममार्गी माना जाता है। इसमें भैरव की सन्तुष्टि हेतु सुरा और नरबलि का प्रचलन था। वे वीभत्स और क्रूर कर्मी होते थे और अपनी साधना प्रकृति तथा आचरण के कारण भयप्रद व असामाजिक माने जाते थे।[5]

---

1. उल्लेखनीय है कि मन्दिर में वि. सं. 795 का एक अभिलेख भी प्राप्त होता है।
2. इ. आई., 11, पृ. 116
3. रामानुज (ब्रह्मसूत्र, 2,2,35-36 भाष्य) के विचारानुसार कापालिक छः मुद्रिकाओं द्वारा परम ब्रह्म का चिन्तन करके मुक्ति पाने में विश्वास करते हैं। छः मुद्राए हैं– (1) कण्ठिका (2) रुचक (3) कुण्डल (4) शिखामणि (5) भस्म तथा (6) यज्ञोपवीत। इन्हें विधिवत् धारण करने से मानव आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है।
4. ए. आर. आर. एम., अजमेर, 1929, पृ. 2
5. बील, रेकार्ड्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ. 55-56; भवभूति, मालतीमाधव, 5; सोडउल कृत उदयसुन्दरी कथा, पृ. 61 और यशपाल कृत मोह-पराजय, 4, 23

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कालमुख मत के अनुयायी कापालिकों के समान होते थे। वे उनसे भी अधिक अतिवादी होते थे। उन्हें 'शिव पुराण' में 'महाव्रतधर' कहा गया है। यद्यपि अभिलेखों में इनका उल्लेख नहीं मिलता तथापि अन्य साक्ष्य से स्पष्ट है कि शैव धर्मान्तर्गत यह सम्प्रदाय आलोच्यकाल में प्रचलित था।

वैष्णव धर्म

हमारे अध्ययनकाल में राजस्थान के शैव धर्म के समान वैष्णव अथवा भागवत धर्म को भी लोकप्रियता प्राप्त थी। वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार गुप्तकाल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा था।[1] अधिकांश गुप्त शासकों के अभिलेखों व मुद्राओं पर उन्हें 'परमभागवत' कहा गया है। उनका राज चिन्ह विष्णु-वाहन गरुड़ था।[2] वैष्णव धर्म का प्रभाव तत्कालीन स्थापत्य और साहित्य पर भी पड़ा। मौखरि-वर्द्धन युग में राजाओं के प्रायः शैव होने के बावजूद वैष्णव धर्म का प्रवाह निर्बाध गति से चलता रहा।[3] पूर्वमध्यकाल में भी वैष्णव धर्म की लोकप्रियता पूर्ववत् बनी रही। समसामयिक अभिलेखों, विशेषतः दानशासनों से संकेतित है कि राजस्थान में अनेक वैष्णव देवालयों तथा विष्णु की विविध रूपी प्रतिमाओं का निर्माण होता था।[4]

हमारे अध्ययनकाल के वैष्णव अभिलेखों से विष्णु, उनके अवतारों तथा लोकप्रिय रूपों यथा नारायण, हरि, माधव, वासुदेव, कैटभरिपु, मुरारि, आदिवराह (वराह) इत्यादि विषयक सूचना प्राप्त होती है। अनेक अभिलेखों का प्रारम्भ 'नमोनारायणाय' अथवा 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' वैष्णव

---

1. द्र. गोयल, एस. आर. ए. हिस्टरी ऑफ द इम्पीरियल गुप्तज़, पृ. 135 अ.
2. वही, पृ. 139
3. हर्षचरित, सर्ग, 8, पृ. 236
4. घोसुण्डी अभिलेख (इ. आई., 14, पृ. 25) से राजस्थान में वैष्णव धर्म के प्रारम्भिक रूप का संकेत प्राप्त होता है। इस अभिलेख से संकर्षण-वासुदेव की मान्यता और वैदिक यज्ञों के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है। वि. सं. 480 के गंगधार अभिलेख (गु. इ., पृ, 74-76) से ज्ञात होता है कि विश्ववर्मा के मंत्री मयूराक्ष ने एक विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया था। छठी शताब्दी के चितौड़ के दो खण्डित अभिलेखों (इ. आई., 34, पृ. 55-57) में मनोहर स्वामी अर्थात् विष्णु के मन्दिर का उल्लेख हुआ है। अपराजित के सातवीं शताब्दी के अभिलेखानुसार (इ. आई., 4, पृ. 31) वराहसिंह की पत्नी यशोमती ने कैटभरिपु (विष्णु) मन्दिर बनवाया था।

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मंत्रों से हुआ है। चाटसू प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गुहिल-नरेश बालादित्य ने मुरारि (विष्णु) का मन्दिर बनवाया था। मेवाड़ के गुहिलों की भांति चाटसू के गुहिल शासक प्रधानतया शिव और विष्णु भक्त थे।[1] वि. सं. 872 के एक बुचकला अभिलेख में विष्णु मूर्ति की स्थापना का संकेत है।[2] बाउक के वि. सं. 894 के जोधपुर-अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में विष्णु की उपासना लोकप्रिय थी। अभिलेख का प्रारम्भ 'ॐ नमो विष्णवे' मंत्र से होता है। अभिलेखकार भगवान् विष्णु को जगत् का सृष्टा और पालक कहता है। कामना की गई है कि निर्गुण और सगुण रूप विष्णु भक्तों की रक्षा करें।[3] इससे प्रतीत होता है कि विष्णु की निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में आराधना की जाती थी। आहड़ से प्राप्त वि. सं. 1001 के आदिवराह अभिलेख में विष्णु के अवतार आदिवराह की वन्दना की गई है और साथ ही विष्णु के लिए आदिवराह, जनार्दन, कैटभरिपु आदि नामों का प्रयोग हुआ है।[4] 'पांचरात्रावधि' के उल्लेख से आहड़ क्षेत्र में वैष्णव विचारधारा के प्रचलन का ज्ञान होता है। वि. सं. 1003 के एक प्रतापगढ़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रतिहार शासक भोजदेव का पूर्वक देवशक्ति विष्णु का उपासक था। अभिलेख में उसे 'परमवैष्णव' कहा गया है।[5] प्रतिहार कालीन दौलतपुरा ताम्रपत्र से इसकी संपुष्टि होती है।[6] वि. सं. 1010 की सारणेश्वर प्रशस्ति में वराह मन्दिर से सम्बन्धित गोष्ठिकों की नामतालिका दी गई है। इसमें मन्दिर के निर्वाह के लिये की गई समुचित व्यवस्था का भी उल्लेख है। इस देवालय में वराहमूर्ति की स्थापना वि. सं. 1010 में की गई थी। गुहिल शासक अल्लट और उसके पिता दोनों 'वराह' अवतारोपासक थे।[7] मण्डोर (जोधपुर) से प्राप्त दसवीं शताब्दी के एक अभिलेख का प्रारम्भ 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' से हुआ है। अभिलेख की पांचवीं पंक्ति में 'सदा भक्तश्च केशवे' अभिव्यक्ति से इस क्षेत्र में विष्णु की उपासना का प्रमाण मिलता है।[8] दसवीं शताब्दी के कामा से प्राप्त एक अभिलेख में कहा गया है

---

1. इ. आई., 12, पृ. 13-17
2. वही, 9, पृ. 198-200
3. वही, 18, पृ. 97
4. ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1913-14, पृ. 2
5. इ. आई., 14, पृ. 182
6. वही, 5, पृ. 208
7. बी आई., 2, पृ. 67-68
8. ए. एस. आई., 1909-10

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि शिव, विष्णु तथा चामुण्डा के मन्दिर के प्रबन्धक के रूप में पाशुपत सम्प्रदाय के शैवाचार्य की नियुक्ति की गई थी।[1] वि. सं. 1083 के नागदा अभिलेख का प्रारम्भ 'ॐ नमो पुरुषोत्तमाय' मन्त्र से हुआ है।[2] इससे प्रकट है कि मेवाड़ में लकुलीश शैव और शाक्त धर्म के साथ साथ भागवत धर्म का भी प्रचलन था। कुमारपाल चौलुक्यकालीन एक चितौड़ अभिलेख के मंगलाचरण में वराह की स्तुति की गई है। इस अभिलेखानुसार कुमारपाल के एक पदाधिकारी सोमेश्वर ने चित्तौड़ में वराह का मन्दिर निर्मित करवाया था तथा मन्दिर की व्यवस्था हेतु दूनाड़ा नामक ग्राम दान दिया था।[3]

गुप्त सम्राटों की भांति अधिकांश परमार शासक वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने गरुड़ को राजचिन्ह रूप में अपनाया था।[4] परमारों की आबू शाखा का शासक पूर्णपाल विष्णु का अनन्य भक्त था। वि. सं. 1181 के एक गिरवर अभिलेख का प्रारम्भ 'ॐ नमों नारायणाय' मन्त्र से हुआ है। अभिलेख के द्वितीय श्लोक में 'मुरारि' का उल्लेख हुआ है।[5] इसी प्रकार इस वंश का राजा प्रतापसिंह विष्णु भक्त प्रतीत होता है। उसके पटनारायण प्रस्तर अभिलेख में पुरुषोत्तम की वन्दना की गई है।[6] इसी क्षेत्र में चन्द्रावती से वराहावतार की एक भव्य प्रतिमा मिली है।[7] पटनारायण देवालय से लगभग चार मील पूर्व मूंगथला (सिरोही के निकटस्थ) में मधुसूदन मन्दिर अवस्थित है। इससे वि. सं. 1245 का परमार धारावर्ष कालीन अभिलेख प्राप्त हुआ है।[8]

बारहवीं शताब्दी के एक मण्डोर अभिलेख के मंगलाचरण में विष्णु तथा लक्ष्मी की वन्दना की गई है। इस अभिलेख में चाहमान शासक सहजपाल द्वारा दान दिये जाने का वर्णन है।[9] इस वंश का शासक अर्णोराज यद्यपि शैवधर्मानुयायी था तथापि उसने पुष्कर में वराह का मन्दिर बनवाया था।[10]

---

1. इ. आई., 24, पृ. 329
2. वरदा, 6, 1, पृ. 5
3. ए. आर. आर. एम., अजमेर, 1931
4. भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज़, पृ. 242
5. पी. आई. एच. सी., 1961, पृ. 62
6. आई. ए., 45, पृ. 78
7. ए. एस. आई. आर., 2, पृ. 269-70
8. ए. एस. आई., 1906-07, पृ. 209
9. वही, 1909-10, पृ. 102-03
10. दे., श्री लेक्चरस ऑन अजमेर एण्ड वन ऑन पुष्कर, पृ. 136

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बिजोलिया से प्राप्त वि. सं. 1226 के एक अभिलेख से भी इस क्षेत्र में वैष्णव धर्म का प्रभाव आभासित है।[1]

इस काल में विष्णु तथा उनके अवतारों और लोकप्रिय रूपों की अनेक प्रतिमाएं निर्मित हुई। मूर्ति निर्माण शास्त्रीय विधि तथा धार्मिक परम्परानुसार होता था। यथा चतुर्भुजी मूर्ति शंख, चक्र, गदा और पद्म युक्त प्रदर्शित की जाती थी। ओसियां के एक मन्दिर के गर्भगृह से सभामण्डप की ओर निकले हुए दो स्तम्भों पर विष्णु की दो गरुड़ासीन चतुर्भुज प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। इनमें से एक अपने हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए है किन्तु दूसरी के दो हाथों में हल एवं मूसल है, शेष दो हाथ खाली हैं। इनका मस्तक पन्चफणी सर्प से आच्छादित है। ये प्रतिमाएं स्पष्टतः वासुदेव एवं संकर्षण की हैं। स्थापत्य शैली की दृष्टि से यह मन्दिर नवीं-दसवीं शताब्दी का हो सकता है।[2]

डीडवाना से विष्णु की योग मुद्रा में एक अत्यन्त भव्य मूर्ति उपलब्ध हुई है जिसमें निचले दो हाथ पर एक दूसरे पर रखे हैं और उपर के दो हाथों में वैजयन्तीमाला है।[3] आठवीं-नवीं शती की शेषशायी विष्णु मूर्तियां कोटा और हर्षनाथ से प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार ग्यारहवीं शती की विष्णु प्रतिमाएं सम्प्रति राजपूताना संग्रहालय अजमेर में विद्यमान हैं।[4] ग्यारहवीं शती की एक खड़ी विष्णु मूर्ति बधेरा से उपलब्ध हुई है।[5] इसी स्थान से गरूडासीन लक्ष्मीनारायण और विष्णु की मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। चौदह हस्तयुक्त विष्णु मूर्ति विशेषतः उल्लेखनीय है। आठ हाथों वाली त्रैलोक्य मोहन की एक ऐसी मूर्ति भी प्राप्त हुई है जिसके दाये हाथों में चक्र, खड्ग, मूसल और परशु हैं तथा बायें हाथों में शंख, धनुष, गदा और पाश प्रदर्शित किये गये हैं। राजस्थान से विष्णु अवतारों में वराह और नृसिंह की प्रतिमाएं अधिक संख्या में मिली हैं। त्रिमुख विष्णु को वराह और नृसिंह रूपों में प्रदर्शित किया है। त्रिमुख विष्णु की प्रतिमा हर्षनाथ के मन्दिर से प्राप्त हुई है।[7] आहड़ से प्राप्त ऊर्ध्वांकित शिल्प प्रतिमा में मत्स्य और कूर्म अवतारों को प्रदर्शित किया गया है।[8]

---

1. इ. आई., 26, पृ. 90
2. भाण्डारकर, आर. जी., वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ. 52
3. पी. आई. एच. सी., 1960, पृ. 501
4. रा. थ्रू. ए., पृ. 369
5. वही।
6. रिसर्चर, 1, 1, पृ. 25
7. यह सम्प्रति अब सीकर संग्रहालय में रखी हुई है।
8. यह प्रतिमा अब उदयपुर के संग्रहायल में रखी है।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान में कृष्णाराधना के प्रचलन के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है। कृष्ण लीलाओं का चित्रण मण्डोर से प्राप्त एक तक्षण पट्ट पर किया गया है।[1] अपराजित के वि. सं. 1010 के अभिलेख से विदित होता है कि मेवाड़ में कृष्णोपासना प्रचलित थी।[2] बालादित्य के चाटसू अभिलेख से तत्सम्बन्धी सूचना मिलती है।[3] कामा (भरतपुर) और ओसियां (जोधपुर) से प्राप्त कलाकृतियों में कृष्ण लीला का चित्रण है।[4] नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर में कृष्ण का दैत्यों से युद्ध, पूतनावध, माखनचोरी, नन्द यशोदा द्वारा बलराम और कृष्ण को ले जाते हुए, आदि दृश्यों का प्रदर्शन है।[5] किराडू और सादड़ी में भी कृष्ण की प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं।[6]

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान से रामावतार की कोई प्रतिमा प्राप्त नहीं हुई है। परन्तु राम भक्ति के प्रचलन में सन्देह नहीं किया जा सकता। तत्कालीन साहित्य से इसकी पुष्टि होती है। द्वितीय पृथ्वीराज और तृतीय पृथ्वीराज को राम का अवतार बताया गया है।[7] इसी प्रकार अन्य अवतारों के रूप में विष्णु भक्ति के प्रमाण मिलते हैं। बटेरा से प्राप्त एक दरवाजे के कोने पर मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह और वामन अवतारों को प्रदर्शित किया गया है।[8] 'ललितविग्रहराज' नाटक में विष्णु और उनके दस अवतार—कूर्म, मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि की प्रार्थना है।[9]

समाज में वैष्णव धर्म सम्बन्धी समारोहों और त्यौहारों का प्रचलन था। अभिलेखों से आषाढ़ शुक्ल एकादशी (देवशयन एकादशी) और कार्तिक शुक्ल एकादशी (देवोत्थान एकादशी)[10] के महत्व पर प्रकाश पड़ता है। इन तिथियों पर भूमि, कुएं आदि के दान दिये जाने के उदाहरण मिलते हैं। अलबरूनी ने भी देवशयनी एकादशी, कृष्ण जन्माष्टमी, देवोत्थान एकादशी,

---

1. ए. एस. आई., 1905-06, पृ. 135
2. इ. आई., 4. पृ. 29
3. वही, 12, पृ. 13
4. रा. श्रू. ए., पृ. 372
5. आई. एच. क्यू., पृ. 350
6. रा. श्रू. ए., पृ. 373
7. अ. चौ. डा., पृ. 259
8. रा. श्रू. ए., पृ. 373
9. आई. ए., 20, पृ. 210
10. वही, 1941, पृ. 193-94, ई. आई., 13, पृ. 208

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामनवमी, इत्यादि वैष्णव त्यौहारों का विवरण दिया है।[1] इसका समकालीन भारतीय साहित्य से भी समर्थन होता है।

ब्रह्मा

हमारे अध्ययनकाल में राजस्थान में यद्यपि विष्णु और शिव की तुलना में ब्रह्मा की लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम थी तथापि समसामयिक मन्दिरों तथा मूर्तियों से तत्सम्बन्धी जन अभिरूचि का सहज अनुमान होता है। पुष्कर ब्रह्मा की पवित्र तपोभूमि माना जाता है। प्राचीनकाल में यहां ब्रह्मा के मन्दिर थे। खेड़ (जोधपुर संभाग) में भी ब्रह्मा का एक प्राचीन मन्दिर है।[2] बीठू (पाली जिला) में सावित्री और ब्रह्मा के एक प्राचीन मन्दिर के भग्नावशेष विद्यमान है।[3] सातवीं शताब्दी में बसन्तगढ़ में ब्रह्मा के एक मन्दिर का निर्माण हुआ था।[4] ओसियां,[5] सेवाडी[6] (दोनों जोधपुर संभाग में) बसद[7] (प्रतापगढ़) सिरोद[8] (कोटा) और बिजोलिया[9] (मेवाड़) से ब्रह्मा की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। अनुमानतः इन नगरों में ब्रह्मा की उपासना की जाती थी। वि. सं. 1239 के हरसोर से उपलब्ध एक अभिलेख से वहां ब्रह्मा के मन्दिर के होने का प्रमाण मिलता है।[10] नाडोल में त्रिपुरुष का प्रसिद्ध मन्दिर था। चाहमान अभिलेखों में राजाओं द्वारा इस मन्दिर को दिये गये दानों का उल्लेख हुआ है।[11]

ध्यातव्य है कि सामान्यतया ब्रह्मा की विशेष प्रतिष्ठा 'त्रिदेव' के एक सदस्य के रूप में थी-स्वतंत्र रूप में नहीं। अर्थात् ब्रह्मा की मूर्तियां प्रायः विष्णु और शिव के साथ निर्मित होती थीं। 'कुवलयमाला' में यद्यपि विभिन्न देवी-देवताओं का नामोल्लेख हुआ है तथापि उसमें ब्रह्मा को सम्मिलित नहीं

---

1. ग्यारहवीं शती का भारत, पृ. 196
2. जैन, के. सी., एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ. 525
3. अ. चौ. डा., पृ. 258
4. ए. एस. आर., 1906-07, पृ. 175
5. वही, 1908, पृ. 114
6. पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी., 1908, पृ. 53
7. ओझा, गौ. ही., प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास, पृ. 48
8. पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी., 1905, पृ. 47
9. वही, पृ. 58
10. जैन, के. सी., एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, पृ. 608
11. ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1937, पृ. 6

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया गया है ।[1] जिनेश्वर कृत 'कथाकोष' में भी ब्रह्मा का उल्लेख केवल एक स्थान पर हुआ है ।[2]

सूर्य—

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों से विदित होता है कि राजस्थान के तत्कालीन समाज में सूर्य पूजा का भी प्रचलन था । तत्कालीन राजस्थान के प्रायः सभी क्षेत्रों में सूर्यदेव के मन्दिरों तथा प्रतिमाओं की उपलब्धि से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश के इस भाग में सूर्योपासकों की पर्याप्त संख्या रही होगी ।[3] इस सन्दर्भ में पिण्डवाड़ा से प्राप्त सूर्य की खड़ी मूर्ति, वासा का चक्र युक्त सूर्य-मन्दिर एवं रोहरा, नितोरा, हनादर, हाथल इत्यादि के सूर्य-मन्दिर विशेषतः उल्लेखनीय हैं । बर्माण का सूर्य मन्दिर कला की दृष्टि से अत्यन्त भव्य था । वि.सं. 1099 में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ था ।[4] प्रतिहार शासक रामभद्र सूर्योपासक था । उसने अपने पुत्र का नाम मिहिर (सूर्य) भोज रखा था ।[5]

वि. सं. 898 में चण्डमहासेन (सम्भवतः प्रतिहार शासक भोज का सामन्त) ने धौलपुर के निकट एक सूर्य मन्दिर का निर्माण करवाया था ।[6] वि. सं. 999 के प्रतापगढ़ अभिलेखानुसार[7] मेवाड़ नृपति तृतीय खुम्माण के पुत्र द्वितीय भर्तृपट्ट ने इन्द्रराजादित्यदेव सूर्य मन्दिर के निर्वाह निमित्त पल्लासकूपिका गांव का बबूलिका नामक भू-क्षेत्र भेंट किया था ।[8] यहीं से प्राप्त एक अन्य अभिलेख[9] से ज्ञात होता है कि प्रतिहार सम्राट विनायक पाल सूर्योपासक था ।

---

1. कुवलयमाला, 2, 14, 68, 149, 256
2. कथाकोष, पृ. 41
3. गौ. ही. ओझा के मतानुसार 600 से 1400 ई. के मध्य प्राचीन सिरोही क्षेत्र में कोई ऐसा गांव नहीं था जहां सूर्य मन्दिर या सूर्य प्रतिमा नहीं थी (सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 26) ।
4. पी.आर.ए.एस., डब्ल्यू.सी., 1916-17, पृ. 71-72
5. इ.आई., 18, पृ. 99-114
6. जेड़. डी. एम. जी., 40, पृ. 38
7. इ. आई., 14, पृ. 187
8. इन्द्रराजादित्यदेव मन्दिर प्रतापगढ़ से 6 मील दूर धोटार्सी गाव में था । इसका निर्माण द्वितीय महेन्द्रपाल के सामन्त चाहमान इन्द्रराज ने करवाया था ।
9. इ. आई., 14, पृ. 182

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भीनमाल सूर्योपासना का महत्वपूर्ण केन्द्र था । यहां का जगतस्वामी सूर्य-मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध था । भीनमाल से प्राप्त वि. सं 1117 के एक एक अभिलेख के मंगलाचरण में सूर्य-स्तुति की गई है ।[1] इस लेख की नवीं और ग्यारहवीं पंक्तियां भी सूर्योपासना से सम्बन्धित हैं । जगतस्वामी मंदिर के निमित्त एक ब्राह्मण ने वि. सं. 1123 में एक स्वर्ण कलश भेंट किया था ।[2] परमार शासक पूर्णपाल के काल में रानी लाहिणी ने बसन्तगढ़ के सूर्य मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया था ।[3] पोकरण स्थित बालकनाथ मंदिर के कीर्ति स्तम्भ अभिलेख[4] का प्रारम्भ 'ॐ नमः सूर्याय' से हुआ है । इसी मन्दिर के एक भाग पर स्थानक सूर्य मूर्तियां उत्कीर्ण हैं । इसकी मूर्ति में भगवान् अंशुमाली के हाथों में कमल तथा घुटनों तक वनमाला लटक रही है । आमेर के वर्तमान सूर्य मन्दिर से प्राप्त वि. सं. 1011 के एक अभिलेख से ग्यारहवीं शती में इस मन्दिर की स्थिति प्रमाणित होती है ।[5] शक्तिकुमार के वि. सं. 1034 के आहड़ अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने मत्तट नामक अक्षपट्टलिक के अनुरोध पर सूर्य मन्दिर के लिए प्रति वर्ष 14 द्रम्म दान दिये जाने की आज्ञा दी थी ।[6]

चाहमान शासकों ने भी सूर्योपासना को प्रोत्साहित किया था । सिंहराज के काल में दुर्गराज (स्थानीय प्रशासक) ने रणादित्य (सूर्य) की पूजा हेतु दान की व्यवस्था की थी ।[7] वि. सं. 1013 में थांवला (पुष्कर क्षेत्र में स्थित) के तथा सन्निकटीय लोगों ने भी उक्त मन्दिर के निमित्त दान दिया था ।[8] अल्हण और कीर्तिपाल शैव धर्मानुयायी होते हुए भी सूर्य देव की पूजा करते थे । कीर्तिपाल के वि. सं. 1218 के एक अभिलेख के अनुसार उसने तमतोम विनाशक और सर्वपाप विमोचक भगवान रश्मिमाली की आराधना करने के पश्चात् दान दिया था ।[9] अल्हण के नाड़ोल से प्राप्त वि. सं. 1218 के एक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उसने श्रावण शुक्ल महाचतुर्दशी के पर्व पर सूर्य की आराधना की थी ।[10]

---

1. बी. जी., 1, पृ. 472
2. वही, 1, पृ. 473-74
3. इ. आई., 9, पृ. 14
4. शोध पत्रिका, 22, 2, पृ. 67
5. रा. अ. ए., पृ. 383
6. आई. ए., 39, पृ. 191
7. इ. आई., 35, पृ. 239
8. वही, पृ. 244
9. वही, 9, पृ. 68
10. वही, पृ. 64

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भारत में कुषाणकाल से ही सूर्य मूर्तियां निर्मित होने लगी थीं। विचाराधीनकाल में राजस्थान से विभिन्न स्थानों से सूर्य अर्चाएं उपलब्ध हुई हैं। ओसियां के सच्चियामाता मन्दिर के सन्निकट एकाकी मन्दिर के द्वार-बिम्ब पर चतुर्भुज सूर्य की पद्मासन मुद्रा में एक मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें देवता को उपरले दोनों हाथों से गले में पड़े एक सर्प को पकड़े हुए प्रदर्शित किया गया है।[1] ओसियां से दो प्राचीन सौर देवालय स्थापत्य एवं मूर्तिकला की श्रेष्ठता के परिचायक है।[2] ओसियां के सुप्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर की ताक में रेवन्त अश्वारूढ़ दिखाए गए हैं। उनके साथ एक श्वान है तथा पीछे अनुचर हैं।[3] ओसियां से प्राप्त सूर्य प्रतिमाओं की वेषभूषा पर कुषाण कला का प्रभाव परिलक्षित होता है। यहां की एक सूर्य प्रतिमा में देवता को कुषाण वेशभूषा और घुटने तक जूते पहने हुए प्रदर्षित किया गया हैं। यहां सूर्य के पुत्र रेवन्त और शनि की मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। मण्डोर की बावड़ी से प्राप्त वि. सं. 742 के एक पाषाण अभिलेख[4] में शिवार्चना का उल्लेख है, परन्तु स्वयं पाषाण पर सूर्य प्रतिमा का अंकन है। जोधपुर संभाग के बेड़ा, पोकरण किराडू, बीठू, पाली इत्यादि क्षेत्रों से भी सूर्य की अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।[5] इसी प्रकार हर्षनाथ और बघेरा से भी सूर्य प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं। बघेरा से प्राप्त सूर्य की खड़ी मूर्ति वस्त्राच्छादित और आभूषणों से अलंकृत है।[6] कला की दृष्टि से यह अत्युत्कृष्ट है।

सूर्योपासना नवग्रहों और नक्षत्रों से विशिष्टरूपेण सम्बन्धित है। अजमेर संग्रहालय में एक ऐसा फलक है जिस पर सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।[7] अढ़ाई-दिन के झोपड़े के उत्खनन से प्राप्त एक प्रस्तर पट्ट पर सात नक्षत्र-मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तर-फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति तथा विसाखा अंकित हैं। साथ ही काल, प्रभात, प्रातः, मध्यान्ह, अपरान्ह आदि का देव रूप में अंकन किया गया है।[8] प्रतिमाओं पर इन सभी देवताओं के नाम भी अंकित हैं।[9]

---

1. ए. एस. आर., 1909, पृ. 110
2. वही, 1908, 09, पृ. 101-115
3. वही, पृ. 106
4. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेण्ट, जोधपुर 1935, पृ. 5
5. अ. चौ. डा. पृ. 265
6, रा. अ. ए., पृ. 383
7. रिसर्चर, 1, पृ. 20
8. वही, 2, पृ. 12
9. इस फलक को बारहवीं शती का माना जाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकालीन राजस्थान में सूर्य पूजक काफी संख्या में रहे होंगे। सूर्य का सम्बन्ध अन्य प्रमुख देवताओं से भी था। उदाहरणस्वरूप शैव धर्म में सूर्य को शिव की अष्टमूर्तियों में से एक माना गया है। वैष्णव मत में उन्हें 'विष्णु त्रिविक्रम' कहा गया है। पुराणों में सूर्य विष्णु की दाईं आंख कहे गये हैं। 'साम्ब पुराण' में विष्णु को श्वेत द्वीप, महेश्वर को कुश द्वीप और सूर्य को शाक द्वीप में निवास करने वाला बताया गया है। 'भविष्य पुराण' के विवरण से विदित होता है कि सूर्य मूर्ति की पूजार्थ शाक द्वीपी या मग ब्राह्मण निर्दिष्ट थे। ओसियां के सूर्य मन्दिर में भी मग ब्राह्मण (भोजक) सूर्य की पूजा करते थे।

शक्ति-पूजा

भारत में शक्ति (देवी) पूजन के प्रमाण सैन्धव काल से ही प्राप्त होते हैं। राजस्थान के सैन्धव नगर कालीबंगा से देवी पूजन के चिन्ह उपलब्ध नहीं होते, किन्तु कालान्तर में शनै शनै देश के अन्य भागों की भांति राजस्थान में भी वैष्णव, शैवादि मतों की लोकप्रियता के साथ शक्ति पूजा का प्रचार-प्रसार हुआ। गुप्तकाल में शाक्त मत अन्य मतों की भांति जनप्रिय हो गया था। पूर्वमध्यकालीन राजस्थान में शक्ति पूजा के प्रमाण अभिलेखों, मन्दिरों तथा मूर्तियों के रूप में प्राप्त होते है। रैढ़ उत्खनन से मातृदेवी की अनेक मृण्-मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जो उस युग में शक्ति पूजा के प्रचलन की परिचायक हैं।[1] साम्भर के उत्खन्न में प्राप्त पुरावशेषों से शक्ति उपासना का संकेत मिलता है।[2] नगर से प्राप्त महिषासुर मर्दिनी की एक कुषाणकालीन लघु मृण्मूर्ति भारतीय मूर्तिकला के लिए राजस्थान की अनुपम देन है। आर. सी. अग्रवाल के मतानुसार महिषासुर मर्दिनी-पूजन कुषाणकाल में आरम्भ हो चुका था और सम्भवत: देवी के इस रूप की आराधना राजस्थान से ही अन्यत्र फैली थी।[3] देवी उपासना की परिचायिका दुर्गा एवं पार्वती की कई गुप्तकालीन मृण्मूर्तियां साम्भर तथा रैढ़ से प्राप्त हुई हैं।

पांचवी शती से हमें शक्ति पूजा के अभिलेखीय प्रमाण प्राप्त होने लगते हैं। गंगधार (झालावाड़ के निकट) के मालव संवत् 480 के एक अभिलेख[4] में विष्णु की पूजा के अतिरिक्त मातृका-भवन निर्माण का उल्लेख

---

1. पुरी, के.एन., रैड उत्खनन वृत, पृ. 26 और आगे
2. मरु भारती, 3, 1, पृ. 23
3. वही।
4. फ्लीट, गुप्त इन्स्क्रि., पृ. 74-76

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुआ है। मालव संवत् 547 के भ्रमर माता (छोटी सादड़ी उदयपुर संभाग) अभिलेख का मंगलाचरण असुरसंहारिणी शूलधारिणी दुर्गा की आराधना से सम्बन्धित है।[1] कामा की एक गुप्तकालीन मूर्ति में शिव पार्वती परिणय भाव अत्यन्त विलक्षण रूप से अभिव्यक्त हुआ है।[2] सूरतगढ़, रंगमहल, हनुमानगढ़ इत्यादि स्थलों से गुप्तकालीन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।[3] गोढ-मंगलौद (जोधपुर संभाग) से प्राप्त सातवीं शती के एक अभिलेख में वागीश्वरी सरस्वती की प्रार्थना की गयी है। तत्पश्चात् यह अभिलेख दाहिमा ब्राह्मणों की कुलदेवी 'दधिमती' के भवन का उल्लेख करता है। इस भवन का निर्माण गोष्ठियों द्वारा करवाया गया था।[4] आबू के निकट वसन्तगढ़ से प्राप्त वर्मलात के वि. सं. 682 के अभिलेख में क्षेमकरी दुर्गामाता 'क्षेमार्या' की वन्दना की गयी है। क्षेमार्या सुस्वास्थ्य की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती थी।[5] सामोली (मेवाड़) के वि. सं. 703 के एक अभिलेख से विदित होता है कि वटपुर से आये हुए व्यापारियों के एक समूह ने अरण्यवासिनी देवी के मन्दिर का निर्माण करवाया था।[6] वसुन्दर (डूंगरपुर के समीप) नामक स्थान पर वसुन्दरा (वसुन्धरा) देवी का मन्दिर है। इस स्थान से सातवीं शती का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है।[7] इस लेख का प्रारम्भ देवी वन्दना से होता है। जोधपुर में मण्डोर रेलवे स्टेशन की एक वापी के निकट अष्टमातृका सहित गणेश की मूर्तियां प्रतिष्ठापित हैं। आर. सी. अग्रवाल ने इन प्रतिमाओं का समय सातवीं शती का उत्तरार्द्ध माना है। मातृका मूर्तियों में शिशुविहीन मातृकाओं की स्थानक मुद्रा तथा उनके हाथों की संख्या विशेष उल्लेखनीय है।[8]

हमारे अध्ययनकाल में भी राजस्थान में शक्ति पूजा की प्राचीन परम्परा अबाध गति से प्रचलित रही। वि. सं. 900 के दौलतपुरा ताम्रपत्र[9] में

---

1. द्र, ए. एस. आई., 1929-30, पृ. 187
2. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1919, पृ. 65
3. गोयेत्स, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट, 1954, पृ. 26 सम्प्रति ये बीकानेर संग्रहालय में सुरक्षित हैं।
4. इ. आई. 11, पृ. 299
5. वही, 9, पृ. 189-92, द्र., राव, गोपीनाथ, एलिमैण्टस ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ. 342
6. इ. आई., 20. पृ. 97-99
7. ओझा, गौ. ही., डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 18-19
8. द्र., मरुभारती, 3, 1, पृ. 23
9. इ. आई., 5, पृ. 208

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रतिहार सम्राट नागभट, भोज तथा महेन्द्रपाल आदि के लिए 'भगवती भक्त' उपाधि का प्रयोग हुआ है। ताम्रपत्र के ऊपर स्थानक मुद्रा में चतुर्भुजी देवी की आकृति उत्कीर्ण है। देवी के दोनों ओर चरणों के पास एक सिंह अंकित है! देवी के ऊर्ध्व दाहिने हस्त में लिंग, निम्न दाहिने हस्त में मणिमाल, निचले वामहस्त में पात्र तथा उपरले वामहस्त में गणेश प्रदर्शित हैं। सम्भवत: उक्त प्रतिहार शासक इसी देवी के उपासक थे। उन्होंने शैवोपासक होते हुए भी इस देवी की आराधना कर धार्मिक समन्वय का उदाहरण प्रस्तुत किया। अर्ना (जोधपुर संभाग) के प्राचीन देवालय के शिलालेख का प्रारम्भ 'ॐ ॐ नमो भगवती नन्दा' से हुआ है। लेख में हिमवन्तवासिनी नन्दा देवी के निमित्त एक ब्राह्मण द्वारा भवन निर्मित करवाये जाने का उल्लेख हुआ है।[1] वि. सं. 918 के घटियाला अभिलेख (जोधपुर संभाग) के समीप जैन देवी अम्बिका का अंकन है।[2] ध्यातव्य है कि अभिलेख माताजी की साल से प्राप्त हुआ है। साम्भर से प्राप्त संवत् 998 के एक पाषाण लेख का प्रारम्भ 'श्री गणेशाय नम:' से हुआ है। तत्पश्चात् सरस्वती की स्तुति है। उसे आनन्ददायिका और अज्ञान विनाशनी कहा गया है।[3] वि. सं. 1003 के एक अभिलेख में प्रतिहार नरेश द्वितीय महेन्द्रपाल द्वारा घोटार्सी (प्रतापगढ़ के समीप) स्थित वटयक्षिणी देवी के मन्दिर निमित्त एक ग्राम दान का वर्णन है।[4] वि. सं. 1028 के एक एकलिंग अभिलेख में सरस्वती की वन्दना की गई है।[5] उनवास (हल्दीघाटी क्षेत्र, उदयपुर) के एक अभिलेख का प्रारम्भ सरस्वती वंदना से हुआ है। इस स्थान पर दसवीं शती ई. के देवालय के भग्नावेष विद्यमान हैं।[6] इसी प्रकार किणसरिया (जोधपुर संभाग) के निकट 'केवायमाता' देवालय के वि. सं. 1056 के अभिलेख में कात्यायनी और काली देवी की स्तुति है।[7] सादड़ी स्थान के एक जैन मन्दिर में तीर्थंकर देव के एक ओर कमलासीना अम्बिका को ललितासन में विराजमान प्रदर्शित किया गया है।[8] जगत से प्राप्त इन्द्राणी और आबानेरी से प्राप्त महिषासुर-

---

1. ओझा, गौ. ही., जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ. 28 इस शिलालेख का काल 9-10 वीं शती माना जाता है।
2. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1907, पृ. 34
3. आई. ए., 58, पृ. 234 यह अभिलेख जोधपुर संग्रहालय में सुरक्षित है।
4. इ. आई., 14, पृ. 183-84
5. डी. एच. एन. आई., 2, पृ. 1171
6. वरदा 7, 4, पृ. 9
7. इ. आई., 22, पृ. 59
8. जर्नल ऑफ बोम्बे यूनिवर्सिटी, 1940, पृ. 165

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मर्दिनी की मूर्तियां लोगों में शक्ति के विविध रूपों की लोकप्रियता का प्रमाण हैं।[1]

राजस्थान में चाहमानों और परमारों के शासनकाल में भी शाक्त धर्म का महत्व पूर्ववत् बना रहा। वि. सं. 749 के एक लेख में संकरायमाता के मन्दिर का अग्रिम भाग स्थानीय गोष्ठियों द्वारा बनवाये जाने का विवरण प्राप्त होता है।[2] शाकम्भरी के चाहमानों की कुलदेवी आशापुरी थी।[3] द्वितीय विग्रहराज ने आशापुरी देवी का मन्दिर भड़ौंच में भी निर्मित करवाया था।[4] सोमेश्वर तथा तृतीय पृथ्वीराज जैसे नरेशों के सिक्कों पर 'आशावरी' शब्द का उत्कीर्ण होना इस देवी की विशेष स्थिति प्रमाणित करता है।[5] द्वितीय दुर्लभराज के किणसरिया अभिलेख में एक शाक्त मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है।[6] इन्द्रराज चाहमान वटयक्षिणी का उपासक था।[7] रेवासा में जीणमाता और बाली में बहुघृणा का पता क्रमशः वि. सं. 1162[8] और 1200[9] के अभिलेखों से लगता है। आबू पर्वत शाक्त धर्म का प्रमुख केन्द्र और अर्बु-देश्वरी का निवास माना जाता था।[10] मण्डोर की अष्टमातृका प्रतिमाएं दुर्गा को चतुर्भुजा वैष्णवी, द्विबाहु महेश्वरी, चतुर्भुजा ब्रह्माणी, द्विबाहुमातृका, द्विबाहु इन्द्राणी, अष्ट भुजा चामुण्डा आदि विभिन्न रूपों में प्रदर्शित करती है।[11]

परवर्ती विधानानुसार सभी प्रमुख देवों की आराधना शक्ति अर्चना से की जाती थी। विश्व के पालक विष्णु की शक्ति 'श्री' या लक्ष्मी मानी गयी हैं। सावित्री और सरस्वती का सम्बन्ध ब्रह्मा से माना जाता था। शिव की शक्ति दुर्गा या भगवती मानी गयी है।

---

1. रिसर्चर, 1, पृ. 43
2. वरदा, 2, पृ. 64
3. पृथ्वीराज विजय, 4, 84
4. वही, श्लोक 50-53
5. द्र., टामस, क्रानिकिल्स ऑफ द पठान किंग्स ऑफ डेल्ही, पृ. 59, 63, 64, 70
6. इ. आई., 12, पृ. 59
7. वही, 14, पृ., 184
8. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1909-10, पृ. 52
9. इ. आई., 11, पृ. 33
10. सरकार, डी. सी., द शाक्तपीठ, भूमिका, पृ. 20 और 22
11. अ. चौ. डा., पृ. 263

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारे अध्ययनकाल में जैन धर्मावलम्बी भी चण्डिका की अर्चना करने लगे थे। जैनों ने उसे प्रतिरक्षक देवी के रूप में स्वीकार कर लिया था।[1] परन्तु उन्होंने देवी के उग्र रूप के स्थान पर ललिता रूप की अर्चना की। उन्होंने उसे सच्चिका (सचिया) माता कहा। मारवाड़ क्षेत्रान्तर्गत सच्चिका (सचिया) देवी को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त थी। सच्चिया माता के सुविख्यात ओसियां मन्दिर में गर्भगृह के बाहर के तीन प्रधान ताकों में चामुण्डा, महिषमर्दिनी तथा शीतला देवियों की मूर्तियां प्रतिष्ठित की गई थीं। अन्तिम ताक में महिषमर्दिनी के सन्निकट वि. सं. 1234 का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। इस अभिलेखानुसार सच्चिया माता देवालय में चण्डिका, शीतला, सच्चिया, क्षेमकरी प्रभृति देवियों तथा क्षेत्रपाल भैरव की अर्चाए प्रतिष्ठित की गई थी।[2] स्पष्टतया सच्चिका देवी का सम्बन्ध चण्डिका, महिषमर्दिनी और भैरव से था। वि. सं. 1236 के एक अन्य ओसियां अभिलेख से सच्चिया माता का ओसियां ग्राम से सम्बन्धित होना निर्विवाद है।[3]

ओसियां शिलालेखों तथा मूर्ति शिल्प से संकेतित है कि महिषमर्दिनी ही वस्तुतः सच्चिया माता है। इस अवधारणा की पुष्टि जैन ग्रंथ उपकेशगच्छ पट्टावली से होती है।[4] जैन धर्म में प्रवेश करने के कारण देवी महिषमर्दिनी ने उग्र रूप का परित्याग कर सच्चिका (सत्य वृत्ति) रूप धारण कर लिया।

मारवाड़ के मालाणी क्षेत्र के जूना स्थल में भी सच्चिया माता का मन्दिर था। इस देवालय से उपलब्ध वि. सं. 1236 के अभिलेख[5] में इसके निर्माण का विवरण प्राप्त होता है। इसके अनुसार ऊकेसगच्छ से सम्बन्धित सत्यशील और क्षमागुण से युक्त एक साध्वी ने अपने और दूसरों के कल्याण के लिए सच्चिका देवी की प्रतिष्ठा करवाई थी।

---

1. वही, पृ. 264
2. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 198
3. वही, 1, पृ. 198
4. द्र. पट्टावलीसमुच्चय, 1, आई. ए., 19 में उक्त पट्टावली का अनुवाद दिया गया है।

   हमारे अध्ययनकाल के बहुत बाद का (वि. सं. 1655 का) एक अन्य अभिलेख सच्चिया माता के मन्दिर से प्राप्त हुआ है (एन्वल रिपोर्ट ऑफ द आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेण्ट, जोधपुर, 21, पृ. 10)
5. प्राचीन शिलालेख संग्रह, 1942, पृ. 2।

   हरिभद्र सूरि ने महाकाली, विद्या तथा चण्डिका का पूजन अष्टमी, नवमी और चतुर्दशी तिथियों के दिन करने का प्रावधान किया है (समराइच्चकहा, पृ. 358 और 457)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अन्य देवगण : गणेश

गणेश को विनायक, गणाधिप, एकदन्त, लम्बोदर, गजानन्द इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जाता है ।[1] पौराणिक आख्यानों के अनुसार गणपति शिव के द्वितीय पुत्र हैं, जो विघ्नों को दूर करते तथा जीवन को मंगलमय करते हैं। पंचायतन पूजा में गणेश को विष्णु, शिव, सूर्य तथा दुर्गा के बाद स्थान दिया गया है, यद्यपि शुभकामनाओं में उनकी अर्चना सर्वप्रथम की जाती है।

राजस्थान में गणेश पूजन की परम्परा हमारे अध्ययनकालीन ग्रंथों से प्रमाणित होती है। समसामयिक अभिलेखों से गणेश भक्ति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। खण्डेले से प्राप्त वि. सं. 864 के एक अभिलेख में गणपति का उल्लेख है।[2] कक्कुक के घटियाला अभिलेख का प्रारम्भ विनायकवंदन से होता है। घटियाला स्तम्भ के शीर्ष पर चतुर्दिक् मुख किए हुए गणपति की चार मूर्तियां उत्कीर्ण की गई हैं। घटियाला के एक अन्य अभिलेख में विनायक से सर्वत्र सिद्धि की कामना की गई है।[3] चौलुक्य जयसिंह सिद्धराज के साम्मर अभिलेख का मंगलवाक्य 'श्रीगणेशायनमः' है।[4] परमार पूर्णपाल के वि. सं. 1102 के भण्डूण्ड अभिलेख के प्रारम्भ में 'गणेशायनमो' उत्कीर्ण है।[5] जींदराव (मालानी क्षेत्रान्तर्गत, खिचूंद के निकट) के कीर्ति स्तम्भ अभिलेख (वि. सं. 1234) का प्रारम्भ 'ॐ नमो गणपतये' मंगलपद से हुआ है।[6] वि. सं. 1236 के फलोदी से प्राप्त एक अभिलेख का मंगलपद 'ॐम ॥ सिधिविनायक प्रसादात्' है।[7] वि. सं. 1272 के मंगलाणा अभिलेख में कार्य सिद्धि हेतु अविघ्नेश्वर (गणेश) की अर्चना की गयी है।[8]

विचाराधीनकालीन राजस्थान से गणेश की नृत्य मुद्रा में प्रतिमाएं उपलब्ध हुई है। इस मुद्रा विशेष में गणेश प्रतिमाएं हर्ष और आबानेरी से प्राप्त हुई हैं। जोधपुर के निकट मण्डोर के एक प्रस्तर खण्ड पर छः मातृकाओं, गणेश और भगवान् शिव को नृत्य मुद्रा में अंकित किया गया है।[9] कोटा

1. अमरकोश, स्वरादि खण्ड, श्लोक 38
2. विश्वम्भरा, 2, 4, पृ. 17
3. इ. आई., 9, पृ. 279
4. वही, पृ. 280
5. जे. बी. बी. आर. ए. एस., 23, पृ. 78
6. सोमानी, रामवल्लभ, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज़ टाइम्स, पृ. 180
7. जे. पी. ए. एस. बी. 12, पृ. 93
8. इ. आई., 12, पृ. 58
9. जे. आई. एच., 38, पृ. 501

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संभाग से प्राप्त दसवीं शताब्दी की दो विशाल नर्तक-गणेश प्रतिमाएं भी उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम है काकरनी ग्राम की दशभुजी[1] प्रतिमा तथा दूसरी है गांगोबी की चतुर्भुजी गणेश प्रतिमा।[2] झालरापाटन से प्राप्त चतुर्भुजी नर्तक-गणेश प्रतिमा के नीचे उभय पार्श्व में दो मूषक भी दिखाए गए हैं।[3] दसवीं शताब्दी की सुखासन मुद्रा में एक अन्य चतुर्मुखी गणेश मूर्ति बयाना के पास नगला छेला स्थान से प्राप्त हुई है। इसके दो अधोहस्तों में से दाहिने में लेखनी तथा बाएं में मोदक और ऊर्ध्व दाहिने हाथ में परशु एवं बायें में सनाल कमल है। मूर्ति में सर्प का यज्ञोपवीत है तथा वक्ष पर 'श्रीवत्स' चिह्न अंकित किया गया है। उसके चरणों के पास मूषक भी उत्कीर्ण है।[4] नीलकण्ठ (राजौर) नामक स्थान से भी अष्ट हस्त वाले गणेश की प्रतिमा प्राप्त हुई है।[5]

स्कन्द-कार्तिकेय

स्कन्द कार्तिकेय भी शिव-पार्वती के पुत्र माने गये हैं। देवताओं की सेना का नायकत्व करने के कारण वह महासेन नाम से भी प्रख्यात हुए। 'कुवलय-माला' में हिन्दू धर्म के लोकप्रिय देवताओं में स्कन्द का परिगणन हुआ है।[6] हमारे विचाराधीनकाल के अभिलेखों में यद्यपि स्कन्द पूजा सम्बन्धी सन्दर्भ अनुपलब्ध हैं, तथापि स्कन्द अर्चाओं से तत्सम्बन्धी स्थिति का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। कोटा संग्रहालय में स्कन्द-कार्तिकेय की एक प्रतिमा विद्यमान है।[7] जोधपुर संभाग में बुचकला से भी स्कन्द कार्तिकेय की मूर्ति उपलब्ध हुई है।[8] आबानेरी से आठवीं शताब्दी की स्कन्द की स्थानक मूर्ति प्राप्त हुई है। इस मूर्ति के सन्निकट स्कन्द के वाहन मयूर को भी प्रदर्शित किया गया है।[9] इसी स्थान की एक अन्य मूर्ति में त्रिमुखी स्कन्द मयूरासीन है।[10] इसी प्रकार की नवीं शताब्दी की एक स्कन्द प्रतिमा नकटी माता के

---

1. रिसर्चर, 7-9, पृ. 77
2. वही।
3. वही। यह सम्प्रति झालावाड़ संग्रहालय में सुरक्षित है।
4. वही, पृ. 34
5. जैन, के. सी., एन्श्येण्ट सिटीज़ एण्ड टाउन्स् ऑफ राजस्थान, पृ. 544
6. रा. ग्रू. ए., पृ. 392
7. वही।
8. इ. आई., 9, पृ. 198-200
9. रिसर्चर, 12-13, पृ. 15-19
10. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मन्दिर से भी प्राप्त हुई है।[1] नीमाज (पाली जिला) से तीन मस्तक वाले स्कन्द की मूर्ति प्राप्त हुई है।[2] छोटी खाटू (नागौर जिला) की एक वापी में पत्थर पर षड्भुजी कार्तिकेय नृत्य मुद्रा में उत्कीर्ण किए गए हैं।[3]

रेवन्त

पौराणिक परम्परानुसार रेवन्त सूर्य पुत्र है।[4] 'कुवलयमाला' के अनुसार सामुद्रिक मार्ग से व्यापार करने वाले व्यापारी संकटकाल में अन्य देवताओं के साथ रेवन्त की भी आराधना करते थे।[5] 'पृथ्वीराजविजय' में रेवन्त, सुग्रीव, कर्ण तथा वैवस्वत आदि का उल्लेख सूर्य के रूप में हुआ है।[6] हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान में रेवन्त की मूर्तियां विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। इन मूर्तियों में सामान्यतः रेवन्त को अश्वासीन दिखाया गया है। वह दाहिने हाथ में मदिरा पात्र तथा बांयें हाथ में लगाम पकड़े हुए हैं। देवता के सम्मुख एक व्यक्ति जलपात्र लिये प्रदर्शित किया गया है। घोड़े के पैरों के बीच एक कुत्ता है। यदा कदा श्वान को शकूर पर आक्रमण करता हुआ भी दिखाया गया है। अश्वारोही रेवन्त के पीछे एक अनुचर का प्रदर्शन है। रेवन्त की मूर्तियां चित्तौड़ के समीप नगरी, जोधपुर के निकट ओसियां, भरतपुर के निकट मलाहा, सीकर में स्थित हर्षगिरि के मन्दिर एवं अजमेर जिले में सावर ग्राम आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं।[7]

रेवन्त की भांति अश्वनीकुमारों की भी सूर्य के युग्म-पुत्रों के रूप में पूजा की जाती थी। राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों से अश्वनीकुमारों की प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं।[8] अजमेर संग्रहालय में यम की प्रतिमाएं भी सुरक्षित हैं। अतः यहां यम की भी आराधना की जाती होगी। इनके अतिरिक्त कामदेव (मदन, अनंग या मधुमथन) की पूजा भी प्रचलित थी। चैत्रमास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी मदन त्रयोदशी के नाम से जानी जाती थी। इस तिथि पर मदन की पूजा की जाती थी।

---

1. वही।
2. वही।
3. वही।
4. विष्णु पुराण, 3,2, 2-7
5. कुवलयमाला, 19, 68
6. रिसर्चर, 12-13, पृ. 19 पर उद्धृत
7. वही, पृ. 18-24
8. जे. आई. एच., 41, पृ. 227-28

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन धर्म

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान में जैन सूरियों और साधुओं के सतत प्रयास के फलस्वरूप जैन धर्म का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हुआ और जैन धर्मानुयायियों की संख्या में वृद्धि हुई। राजस्थान में विचाराधीनकाल में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों का प्रचलन था। बयाना से प्राप्त वि.सं. 1100 के एक अभिलेख में जैन श्वेताम्बर सूरि माहेश्वर का उल्लेख है।[1] चित्तौड़ से प्राप्त वि. सं. 1207 के एक अभिलेख में दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रमुख जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति का उल्लेख है।[2] यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि राजस्थान के नरेश और पदाधिकारी प्रमुखतया हिन्दू थे फिर भी उन्होंने जैन धर्म के प्रति परम्परागत सहिष्णु भाव और उदार दृष्टिकोण अपना कर इसकी समुन्नति में योगदान किया। इस काल में अनेक गच्छों की स्थापना हुई और इस क्षेत्र के अनेक प्रमुख नगरादि जैन धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बने। वर्षावास के अवसर पर इन केन्द्रों में सभाओं और गोष्ठियों का आयोजन होने लगा। इससे शिक्षा-साहित्य की अभिवृद्धि और धर्म का प्रचार हुआ। जैन विद्वान हरिभद्रसूरि के प्रयासों से चित्तौड़ जैन धर्म के मुख्य केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। उनके प्रवचनों से लोग अत्यधिक प्रभावित हुए। हरिभद्रसूरि ने अनेकांतजयपताका, धर्मबिन्दु प्रभृति ग्रंथों की रचना कर उनके माध्यम से जैन सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। इसके उपरान्त वि. सं. 835 में उद्ययोतनसूरि ने 'कुवलयमाला' और सिद्धर्षिसूरि ने वि. सं. 962 में 'उपमितिभवप्रपंच' कथा की रचना की।

प्रतिहार प्रशासन कालान्तर्गत जैन धर्म की प्रगति हुई। स्वयं प्रतिहार शासकों ने जैन धर्म को प्रश्रय प्रदान किया। प्रथम नागभट का जैन साधु यक्षदेव से प्रगाढ सम्बन्ध था।[3] वत्सराज के शासनकाल में अनेक जैन उपदेशकों द्वारा जैन धर्म की प्रगति के लिये काम किया गया।[4] उसी समय ओसियां (जोधपुर संभाग) में महावीर स्वामी का मन्दिरनिर्मित हुआ।[5] द्वितीय नागभट के काल में बप्पभट्टि अत्यधिक प्रभावशाली जैन सूरि थे। उन्हें जैन साहित्य में द्वितीय नागभट के मित्र और आध्यात्मिक गुरू के रूप

---

1. आई. ए., 14, पृ. 8-10
2. इ. आई., 2, पृ. 421-424
3. रा. श्रू. ए., पृ. 420
4. वही।
5. ए. एस. आई., 1908-09, पृ. 108

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में प्रतिष्ठित किया गया है।[1] इस समय अनेक जैन 'प्रासादों' का निर्माण हुआ। मिहिरभोज के शासनकाल में बप्पभट्टि के शिष्य नन्नसूरि और गोविन्द सूरि का इस क्षेत्र में विशेष सम्मान था।[2] प्रतिहारों की मण्डोर शाखा के नरेशों ने भी जैन धर्म को समुचित आश्रय प्रदान किया था। कक्कुक यद्यपि ब्राह्मण धर्मानुयायी था तथापि उसने रोहिंसकूप में जैन मन्दिर का निर्माण करवाया और इसके प्रबन्ध का उत्तरदायित्व गोष्ठिकों को सौंपा।[3]

जैनाचार्यों से प्रभावित होकर चाहमान शासकों ने भी इस धर्म को समुचित संरक्षण प्रदान किया। प्रथम पृथ्वीराज ने रणथम्मौर के एक जैन मन्दिर को स्वर्ण छत्र अर्पित किया था।[4] उसके पुत्र अजयराज ने अजमेर के पार्श्वनाथ मन्दिर को स्वर्ण कलश अर्पित करने की घोषणा की थी। उसने श्वेताम्बर मुनि धर्मघोष और एक दिगम्बर मुनि के बीच हुई धर्म चर्चा में निर्णायक पद ग्रहण किया था।[5] अजयराज के पुत्र अर्णोराज ने धर्मघोष सूरि को अपनी राजसभा में सम्मान दिया और जिनदत्तसूरि को अजमेर में जैन मन्दिर का निर्माण करवाने के लिए अनुमति प्रदान की।[6] चतुर्थ विग्रहराज ने जैनों के आग्रह पर एकादशी को जीव हत्या निषेध सम्बन्धी राजाज्ञा प्रसारित की थी।[7] बिजोलिया अभिलेख (वि. सं. 1226) के अनुसार द्वितीय पृथ्वीराज ने बिजोलिया में पार्श्वनाथ मन्दिर की व्यवस्था हेतु मोराझरी गांव दान दिया था।[8] उसके पितृव्य सोमेश्वर ने भी उक्त मन्दिर के लिए रेवना ग्राम दान किया था।[9] तृतीय पृथ्वीराज ने जैन धर्माचार्यों को न केवल राजाश्रय प्रदान किया प्रत्युत वह जिनपतिसूरि और पद्मप्रभा के बीच हुए शास्त्रार्थ में निर्णायक भी बना था।[10]

नाडोल शाखा के चाहमानों ने भी जैन धर्म के प्रति उदार नीति का अनुसरण किया जिससे मारवाड़ संभाग में जैन धर्म की लोकप्रियता बढ़ी।

---

1. रा. ग्रू. ए., पृ. 416
2. जैन, के. सी., जैनिज्म इन राजस्थान, 1963 पृ. 19
3. इ. आई., 9, पृ. 277-80
4. अ. चौ. डा., पृ. 43
5. खरतरगच्छपट्टावली, पृ. 16
6. अ. चौ. डा., पृ. 61-62
7. केटलाग ऑफ द पामलीफ एम. एस. एस. इन द पट्टन भण्डारज प. 370
8. इ. आई., 26, पृ. 84
9. वही।
10. खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली, पृ. 25-33

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुमारपाल चौलुक्य के सामन्त अश्वराज चाहमान ने जैन धर्म को स्वीकार करके इसके प्रसार के लिए प्रयत्न किए। उसने मास की कुछ विशेष तिथियों को जीव हत्या निषेध सम्बन्धी आदेश प्रसारित किया था।[1] सेवाड़ी से प्राप्त वि. सं. 1167 के अभिलेख से विदित होता है कि अश्वराज ने चार गांवों के प्रत्येक रहट्ट से एक हारक जौ जैन मन्दिर निमित्त देने की व्यवस्था की थी।[2] नाडलाई से प्राप्त वि. सं. 1189 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि रायपाल के पुत्रद्वय (रुद्रपाल और अमृतपाल) ने जैन मन्दिर के निमित्त दो पल्लिका तेल दान की व्यवस्था की थी।[3] उसके काल के कुछ अन्य अभिलेखों में भी जैन तीर्थंकर नेमिनाथ और महावीर के मन्दिरों को दिये गये दान का उल्लेख हुआ है।[4] कुमारपाल चौलुक्य के सामन्त महाराज आलणदेव ने जैन धर्म प्रचार को प्रोत्साहित किया था। उसने प्रत्येक माह की अष्टमी, एकादशी को अपने प्रदेश में जीवहिंसा निषेध की आज्ञा प्रसारित की थी।[5] वि. सं. 1217 में कीर्तिपाल ने अपने अधीनस्थ प्रत्येक गांव से दो द्रम्म नाडलाई के जिन महावीर को दिलवाये जाने का निर्णय किया था।[6] आल्हणदेव के वि. सं. 1228 के दान शासन से ज्ञात होता है कि उसने षडेरकगच्छ के जैन मन्दिर को 'नड्डूलतलपद शुल्कमण्डपिका' से प्रति माह पांच द्रम्म दिये जाने का आदेश दिया था।[7] आल्हणदेव के पुत्र केल्हणदेव ने भी जैन धर्म की उन्नति में योगदान दिया था। केल्हण के शासनकाल में मूलनायक को एक हल भूमि दान की गई थी।[8] एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके द्वारा भगवान् शांतिनाथ के उत्सव के लिए दान दिया गया था।[9] केल्हण के कतिपय अन्य अभिलेखों से भी जैन मन्दिरों और उपासरों के लिए दान दिये जाने पर प्रकाश पड़ता है।[10]

---

1. जैन, के. सी., जैनिज्म् इन राजस्थान, पृ. 20
2. इ. आई., 11, पृ. 29
3. वही, पृ. 35
4. वही 9, पृ. 159; 12, पृ. 38
5. वही, 12, पृ, 43
6. वही, 9, पृ. 66-70
7. वही, पृ. 63
8. वही, 11, पृ. 46-47
9. वही, पृ. 49-50
10. वही, पृ. 51, 52

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जालौर शाखा के चाहमानों के शासनकाल में भी जैन धर्म की प्रगति हुई। उनकी राजधानी जालौर के वि. सं. 1239 के अभिलेखानुसार श्रीमाल के श्रेष्ठि यशोवीर ने एक मण्डप का निर्माण करवाया था।[1] यहीं के एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ के कुमारपाल चौलुक्य द्वारा निर्मित मन्दिर का पुनर्संस्कार वि. सं. 1242 में भण्डारी यशोवीर ने करवाया था।[2] उक्त निर्माण कार्य चाहमान समरसिंह के आदेशानुसार किया था। जालौर से हमारे अध्ययनकाल के उपरान्त के भी ऐसे अनेक अभिलेख प्राप्त हैं जिनमें जैन मन्दिरों को दिये गए दान का उल्लेख है।[3]

परमार शासकों द्वारा भी जैन धर्म प्रसार में योग दान किया गया था। वि. सं. 1026 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि परमार कृष्णराज के समय सिरोही क्षेत्र के एक ग्राम में जैन मन्दिर का निर्माण हुआ था।[4] वि. सं. 1254 के झाड़ोली अभिलेख से ज्ञात होता है कि परमार रानी श्रृंगार-देवी ने स्थानीय महावीर मन्दिर की व्यवस्था हेतु भूमि प्रदान की थी।[5]

हस्तिकुण्डी के राष्ट्रकूटों के शासनकाल में मारवाड़ क्षेत्र में जैन धर्म अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। हस्तिकुण्डी से प्राप्त वि. सं. 973 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि विदग्ध ने एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया था।[6] कामयक, बयाना, त्रिभुवनगिरि तथा मेवाड़ के गुहिलों ने भी जैन धर्म को प्रश्रय दिया था। भर्तृपट्ट ने गुहिल विहार का निर्माण करवाया था और आदिनाथ की मूर्ति स्थापित करवाई थी।[7] अल्लट के एक जैन मन्त्री ने आघाट में जैन मन्दिर बनवाया था।[8] कोटा क्षेत्र में शेरगढ़ ग्राम में ग्यारहवीं शताब्दी में तीन विशाल जैन मूर्तियों का निर्माण करवाया गया था।[9] अटरु, कृष्ण विलास और रामगढ़ में पूर्वमध्यकालीन जैन मन्दिरों के भग्नावशेष

---

1. वही, पृ. 53-54
2. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1908-09, पृ. 55
3. वही।
4. ए. पी. जे. एल. एस., सं. 486
5. वही, सं. 311
6. इ. आई., 10, पृ. 24
7. रा. अ. ए., पृ. 421
8. वही।
9. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्त हुए हैं। जैसलमेर संभाग में विक्रमपुर जैन धर्म का प्रमुख स्थान था। लोद्रवा और जैसलमेर में प्राचीन जैन मन्दिरों के अवशेष आज भी उपलब्ध हैं।[1]

चौलुक्य शासकों ने भी जैन धर्म को समुचित संरक्षण प्रदान किया। राजस्थान का एक विस्तृत भाग चौलुक्यों के अधीन था जयसिंह सिद्धराज यद्यपि शैव मतानुयायी था तथापि उसने जैन धर्मावलम्बियों का विशेष सम्मान किया। उसके काल में वि. सं. 1182 में दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बर मुनि देवसूरि के बीच धर्म गोष्ठी का आयोजन हुआ था जिसमें श्रृद्धालुजन सुदूर क्षेत्रों से आकर एकत्र हुए थे।[2] जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र सूरि के प्रभाव में जैन धर्म का अत्यन्त उत्साही अनुयायी बन गया था।[3] उसने जैन धर्म के प्रसार के लिए अनेक पग उठाये। उसने अपने राज्य में जीव हत्या निषिद्ध घोषित कर दी थी। 'द्वयाश्रयमहाकाव्य'से ज्ञात होता है कि पाली क्षेत्र में ब्राह्मणों को यज्ञ में धान की आहूति से संतुष्ट होना पड़ता था और साधुओं के लिए अजिन प्राप्त करना कठिन हो गया था।[4] उसके काल में अनेक जैन धर्मशास्त्र-भण्डारों की स्थापना की गयी और जैन प्रासादों का निर्माण हुआ। वि. सं. 1200 के एक अभिलेख से विदित होता है कि उसने जालौर में भी एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया था।[5]

हमारे अध्ययनकालीन अभिलेखों में विभिन्न जैन गच्छों का उल्लेख हुआ हैं। इसे जैन धर्म की लोकप्रियता का द्योतक माना जा सकता है। आबू से प्रारम्भ हुए वडगच्छ का उल्लेख वि. सं. 1143[6] और वि, सं. 1215[7] के अभिलेखों में हुआ है। वडगच्छ का प्रभाव सिरोही और मारवाड़ क्षेत्र में भी था। यद्यपि खरतरगच्छ का प्रारम्भ गुजरात से हुआ था तथापि राजस्थान में भी इस गच्छ के अनुयायियों की संख्या उल्लेखनीय थी। राजस्थान के

---

1. वही।
2. जैन, के. सी., जैनिज्म इन राजस्थान, पृ. 24
3. वही।
4. वही।
5. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी, 1908-09, पृ. 55
6. वही, पृ. 52
7. नाहर, पू. च., जै. ले.सं., 1, पृ. 206

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेखों में सारध-पूर्णमीया,[1] उपकेश,[2] नागपुरिय,[3] कामयक,[4] पिप्पेल[5] आदि गच्छों का उल्लेख है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गुहिल, प्रतिहार, चाहमान, परमार, राष्ट्रकूट तथा चौलुक्य शासनान्तर्गत राजस्थान के प्रत्येक क्षेत्र में जैन धर्म की पर्याप्त लोकप्रियता थी। राजपूत शासक हिन्दू धर्मावलम्बी होते हुए भी जैन धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण अपना कर इस धर्म को प्रोत्साहित करते थे।

विधि चैत्य आन्दोलन का सूत्रपात चित्तौड़ के हरिभद्रसूरि (700-770 ई.) ने किया। उनका उद्देश्य जैन संघ तथा जैन साधुओं के जीवन में व्याप्त बुराइयों को दूर करना और जैन धर्म में नवचेतना का संचार करना था। इसके लिये उन्होंने जैन धर्म का युक्ति-युक्त पालन करने पर बल दिया। उन्होंने निग्रन्थों व जैन साधुओं का एक स्थान पर ठहरना, किसी राजा, व्यक्ति अथवा चल अथवा अचल सम्पत्ति से सम्बन्ध जोड़ना तथा बाह्य कर्म-काण्ड आदि में रुचि लेना जैन धर्म के नियमों के विरुद्ध बतलाया। उनके उपदेश सम्पूर्ण मानव जाति के लिए थे। उनका कथन था कि जैन धर्म में जातिगत, वर्गगत एवं आर्थिक गरीब और अमीर के भेदभाव को स्थान नहीं है। उन्होने यतित्व, तपस्या, त्याग, आत्म-नियन्त्रण और पवित्रता का उपदेश दिया। हरिभद्रसूरि द्वारा चलाया गया यह आन्दोलन उनकी मृत्यु के पश्चात उनके शिष्य उद्योतनसूरि और सिद्धर्षिसूरि के नेतृत्व में आगे बढ़ा। उनके अतिरिक्त खरतरगच्छ के आचार्यों ने इस आन्दोलन को गति देने में बहुत हाथ बंटाया। इस विषय में जिनेश्वरसूरि और उनके शिष्य जिनवल्लभ के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उन्होंने इस आन्दोलन को 'विधि मार्ग' की संज्ञा दी और स्थान-स्थान पर विधिचैत्यों का निर्माण करवाया। जिनवल्लभ ने चित्रकूट (चित्तौड़) को अपना मुख्य केन्द्र बनाया। उन्होंने अपने सरल जीवन, तपस्या, ज्ञान व उपदेशों से जनता को जैन धर्म के प्रति आकर्षित किया। मरु कोट्ट, नरवर, नागौर, चित्तौड़ आदि स्थानों पर विधिचैत्यों की स्थापना की गई। इन चैत्यों में विधि मार्ग के मूल सिद्धान्तों को शिलाओं

---

1. जैन, के. सी., जैनिज्म इन राजस्थान, पृ. 59
2. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., पृ. 198
3. यह गच्छ नागौर से आरम्भ हुआ था।
4. आई. ए., 14, पृ.8
5. ए. पी. जे. एल. एस., पृ. 97

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर उत्कीर्ण करवाया गया।[1] मालवा के शासक नरवर्मा ने, जो उस समय चित्तौड़ का स्वामी था, एक मण्डपिका से प्रतिदिन दो पारुत्थ देने की व्यवस्था की थी जिससे नगर के दो विधिचैत्यों का प्रबन्ध किया जाता था।[2]

जिनवल्लभ का देहांत वि. स. 1167 में हुआ। उनके बाद उनके शिष्य जिनदत्तसूरि ने विधिचैत्य विचारधारा का प्रचार किया। उन्होंने अपने उपदेशों के लिए अपभ्रंश भाषा का उपयोग किया। इससे वह सामान्य वर्ग के लोगों को प्रभावित करने में अधिक सफल हुए। उन्होंने चित्तौड़, नागौर, नरभट्ट और कन्यानयन (उत्तरी बागड़), अजमेर, बिक्रमपुर (जैसलमेर), त्रिभुवनगिरि (आधुनिक थानगढ़, जो करौली से 24 मील दूर स्थित है), व्याघ्रपुर (दक्षिणी बागड़) आदि स्थानों का भ्रमण कर वहां जैन धर्म का प्रचार किया। उनके शिष्य जिनचन्द्रसूरि और उनके बाद उनके शिष्य जिन-पतिसूरि ने भी विधि मार्ग आन्दोलन को गति देने में बड़ा सहयोग दिया। हमारे अध्ययनकाल के अन्त तक इस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होने लगा था और जैन धर्मानुयायियों की संख्या में वृद्धि हो गई थी। यद्यपि अब भी जैन धर्म के अनुयायियों में वैश्य जाति के ही लोग अधिक थे तथापि अब अन्य जातियों के भी अनेक जनों ने जैन धर्म स्वीकार किया। हरिभद्रसूरि स्वयं ब्राह्मण जातीय थे। भण्डारी या भण्डागारिक जैन अपने को नाडोल राज्य की चाहमान शाखा के संस्थापक लक्ष्मण के वंशज मानते हैं। सोनी वैश्य जाति का, जो जैन धर्म मानती है, उद्गम राजपूतों से हुआ माना जाता है। बारहवीं शताब्दी में राजस्थान निवासी ब्राह्मण प्रायः मांसाहारी थे।[3] आज वे सभी शाकाहारी हैं। सम्भवतः जैन धर्म के प्रभाव के कारण ही ऐसा हुआ है। जैन आचार्यों के सम्पर्क और प्रभाव में आने के परिणाम-स्वरूप बहुत से राजपूत राजा और सामन्त भी अहिंसावादी हो गये।[4]

बौद्ध धर्म

जब चीनी यात्री ह्वेनसांग लगभग वि. सं. 697 में राजस्थान आया था तब उसने बौद्ध धर्म को इस प्रदेश में अवनतिशील अवस्था में पाया था। गुर्जर देश की राजधानी भीनमाल के संदर्भ में वह लिखता है—'यहां की बस्ती घनी है, परन्तु यहां विधर्मियों (वैदिक धर्म के अनुयायियों) की संख्या बहुत है और बौद्धों को अल्प। यहां एक ही संघाराम (बौद्ध मठ) है जिसमें

1. अ. चौ. डा., पृ. 252-53 पर उद्धृत।
2. आई. एच. क्यू., 26, पृ. 224
3. इ. आई., 11, पृ. 44
4. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हीनयान सम्प्रदाय के एक सौ भिक्षु रहते हैं जो स्वर्वास्तिवादी है।[1] सम्भवतः चीनी यात्री बैराठ नगर भी पहुंचा था। इसके सम्बन्ध में वह लिखता है कि इस स्थान के निवासी बौद्ध धर्म का सम्मान नहीं करते। वहां आठ संघाराम थे किन्तु सभी प्रायः उजड़े हुए थे।[2]

हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान में बौद्ध धर्म सम्भवतः राजस्थान के झालरापाटन और कोटा क्षेत्र में ही सीमित रह गया था। शेरगढ़ से प्राप्त वि. सं. 847 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि नागवंशी देवदत्त ने कोशवर्द्धन पर्वत के पूर्व में एक बौद्ध मन्दिर और मठ बनवाया था।[3] यह उसके बौद्ध धर्मानुयायी होने का संकेत है। 'कुवलयमाला' में यदा कदा बौद्ध भिक्षुओं का उल्लेख हुआ है।[4] सम्भवतः लगभग नवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म राजस्थान से लगभग पूर्णतः विलुप्त हो गया था।

---

1. बील, रेकार्डस ऑफ वेस्टर्न वर्लड, 2, पृ. 270
2. वही, 1, पृ. 179
3. आई. ए., 14, पृ. 45-46
4. कुवलयमाला, पृ. 13, 14, 68 आदि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामाजिक जीवन

हिन्दू समाज का मूल आधार वर्ण और जाति व्यवस्थायें रही हैं। आज भी ये प्रभावी रूप से समाज में विद्यमान हैं। हमारे अध्ययनकाल के प्रारम्भ तक हिन्दू समाज का विभाजन चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (जिनका आधार गुण और कर्म[1] माना गया था) तक ही सीमित नहीं रह गया था। अब समाज विभिन्न जातियों और उपजातियों में विभाजित हो गया था। इन जातियों और उपजातियों की उत्पत्ति के अनेक कारण थे। इनमें एक प्रमुख कारण था जीविकोपार्जन की विधि। विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों से सम्बन्धित वर्गों ने कालान्तर में विभिन्न जातियों का रूप धारण कर लिया। इसके अतिरिक्त हिन्दू समाज में विदेशियों के स्वीकार, अन्तर-जातीय विवाहों, सीमावर्तीजनों के आर्यकरण आदि अन्य कारणों से भी हिन्दू समाज का विभिन्न जातियों व उपजातियों में विभाजन हुआ। जाति भेद के विकास के साथ जातियों में ऊंच-नीच की भावना उत्पन्न हुई। हम यहां पहले वर्ण और जाति भेद की व्याख्या करेंगे और तदुपरान्त विचाराधीन काल की जातियों पर विशेषकर अभिलेखीय सामग्री के आधार पर प्रकाश डालेंगे।

वर्ण अवधारणा मूलतः सांस्कृतिक थी। सिद्धान्ततः इससे व्यक्ति की नैतिक तथा बौद्धिक योग्यता का आभास होता था। स्मृतिकारों ने वर्णों के सामाजिक कर्त्तव्यों पर बल दिया है न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर। इसके विपरीत जाति व्यवस्था जन्म तथा आनुवंशिकता पर बल देती है। इसमें कर्त्तव्यों के पालन पर जोर न देकर विशेषाधिकारों पर बल दिया गया है।[2] धर्म शास्त्रों व स्मृतियों के अनुसार वेदाध्ययन करना, यज्ञ करना एवं दान देना ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के आवश्यक कर्त्तव्य थे। वेदाध्ययन, यज्ञ करवाना तथा दान लेना ब्राह्मणों के, युद्ध करना एवं जन रक्षा क्षत्रियों के तथा कृषि कर्म पशुपालन एवं व्यापार करना वैश्यों के विशेषाधिकार माने गये थे।[3] शूद्रों का कर्त्तव्य द्विजातियों की सेवा करना माना गया है।[4]

राजस्थान से प्राप्त किसी भी अभिलेख का उद्देश्य वर्ण धर्म का वर्णन करना नहीं था। इनमें केवल शासन और दान के प्रसंग में वर्णों की चर्चा

---

1. भगवद्गीता, 4, 13
2. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ. 119
3. गौतम. 10/1-3, द्र. वसिष्ठ 2/13-19, मनु 1/88-90
4. आपस्तम्ब 1/1/1/7-8

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। जोधपुर से 52 कि.मी. की दूरी पर स्थित ओसियां के एक जैन मन्दिर से प्राप्त वि.सं. 1013 के अभिलेख में चार वर्णों का उल्लेख है।[1] ब्राह्मणों का समाज में आदर व सम्मान था। वे धर्म-कर्म, शिक्षा-दीक्षा, शासन आदि में समाज का पथ-प्रदर्शन करते थे। उनकी विद्वता, बुद्धि, शुद्ध आचरण, विशाल हृदय और लोकोत्तर व्यवहार कुशलता आदि गुणों से अन्य सभी वर्ग प्रभावित थे।[2] चाहमान राजा पृथ्वीपाल के पुत्र रत्नपाल के वि.सं. 1176 के सेवाड़ी ताम्रपत्र से गुन्दमुच्छ (गुंदकूर्च्च) निवासी ब्राह्मणों की विद्वता व अध्ययनशीलता की जानकारी मिलती है। गुन्दमुच्छ के ब्राह्मणों की इस दान पत्र में वर्णित कीर्ति इस प्रकार हैं—वे चारों युगों में पूज्य तथा इतिहास प्रसिद्ध थे। वे षड्कर्मी, जपी, अध्ययनशील और अनुष्ठान करने वाले थे। वे पुराण, रामायण, महाभारत षड्दर्शन एवं याज्ञवल्क्य, कात्यायन, भृगु, अंगिरा व मार्कण्डेय की स्मृतियों के ज्ञाता तथा अवस्थ्य, अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, सौत्रामणि, पशुबन्ध, चातुर्मास्य आदि यज्ञों के, जिनसे पाप ग्रंथियां खुलती है, कर्त्ता थे। वे वेदों और वेदांगों में पारंगत थे। उनकी प्रसिद्धि पूर्ण चन्द्र के सदृश थी, आदि।[3] गुन्दमुच्छ के ब्राह्मण सभी प्रकार के करों से मुक्त थे।[4] ब्राह्मणों को कर मुक्त करने का उदाहरण हमारे अध्ययनकाल के तुरन्त बाद भी मिलता है। वि.सं. 1290 में आबू के राजा सोमसिंह ने ब्राह्मणों को कर मुक्त करने की घोषणा की थी।[5] तत्कालीन ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की समाज में मान्यता की पुष्टि समकालीन विदेशी यात्रियों द्वारा भी होती है। अरब यात्री मसूदी दसवीं शताब्दी में भारत आया था। उसने ब्राह्मणों को सभी जातियों में श्रेष्ठ बतलाया है।[6] अल्बरूनी ने भी भारतीय समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता मानी है। वह लिखता है कि ब्राह्मण अन्य जातियों की भांति राजा की सेवा करने के लिए बाध्य नहीं थे।[7] अबुजैद ने भी धर्म और विज्ञान में रत ब्राह्मणों का उल्लेख किया है।

---

1. नाहर, पू.च., जै.ले.सं., 1, पृ. 192
2. वशिष्ठ 1/10/41
3. इ.आई., 11, पृ. 308
4. वही।
5. वही, 8, पृ. 211
6. हिस्टरी ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इटस ओन हिस्टोरियन्स, अनु. इलियट एण्ड डाउसन, 1, पृ. 19
7. साउच, अल्बरूनीज़ इण्डिया, 1, पृ. 101; 2, पृ. 149

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारे अध्ययनकाल में समाज में चार वर्णों का उल्लेख मात्र औपचारिकता रह गया था। वस्तुतः प्रत्येक वर्ण जातियों व उपजातियों के रूप में अनेक भेद व उपभेद उत्पन्न हो गये थे जिनकी समाज में प्रतिष्ठा समान नहीं थी। यह प्रवृत्ति सूत्रकाल में ही दृष्टिगत होने लगी थी। भारत के उत्तर व दक्षिण में रहने वाले ब्राह्मणों के रीति-रिवाज, आचार-विचार आदि में अन्तर थे। वे एक दूसरे की निन्दा तक करते थे। 'स्मृतिकाल' के आरम्भ में ब्रह्मावर्त के ब्राह्मण वंग, अंग और ओड्र में निवास करने वाले ब्राह्मणों से श्रेष्ठ माने जाते थे। कभी-कभी तो पूर्वी क्षेत्र में रहने वाले ब्राह्मणों को मलेच्छ तक कह दिया जाता था। इसी प्रकार अन्तर्वेदी के ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से श्रेष्ठतर समझे जाते थे। राजस्थान में श्रीमाली ब्राह्मण और गुजरात में नागर ब्राह्मणों का समाज में अन्य ब्राह्मणों से अधिक सम्मान था। हमारे अध्ययनकाल में श्रीमाल या भीनमाल धर्म व संस्कृति का केन्द्र था और यहां के विद्वान ब्राह्मण अपने पण्डित व विशुद्ध आचार-विचार के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध थे।[1] 'कान्हड़देप्रबन्ध' का लेखक पद्मनाभ, जो स्वयं विशलनगरा ब्राह्मण था, श्रीमाल ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा करता है। उसने श्रीमाल को चाहमानों की ब्रह्मपुरी कहा है।[2] 'कान्हड़देप्रबन्ध' से श्रीमाली व विशलनगरा ब्राह्मणों के विषय में विस्तृत जानकारी होती है। लक्ष्मीधर द्वारा लिखित 'विरुद्धविधिविध्वंस' से मालूम होता है कि सोमेश्वर चाहमान के दो मन्त्री, स्कन्द और उसका लड़का सोढ़, गुजराती नागर ब्राह्मण थे।[3] 'स्कन्द पुराण' में पंच गौड़ और पंच द्रविड़ों का उल्लेख मिलता है।[4] द्वितीय भीमदेव के पाटन अभिलेख में रायकवाल ब्राह्मणों का विवरण दिया है।[5] सकराय माता अभिलेख से दायमा ब्राह्मणों का ज्ञान होता है।[6] इसी प्रकार वि. सं. 982 के पुष्कर अभिलेख में ब्राह्मणों की पुष्कर या पुष्करणा जाति की जानकारी होती है।[7] इनका खान-पान, रहन-सहन और आचार-विचार अन्य ब्राह्मणों से भिन्न थे।[8] ब्राह्मणों का एक अन्य वर्ग

---

1. रा. ग्रू. ए., पृ. 443-44
2. पद्मनाभ, कान्हड़देप्रबन्ध, 3, श्लोक 25
3. विरुद्धविधिविध्वंस, 3, पृ. 488
4. श्लोक 2-3
5. आई. ए., 11, पृ. 71
6. इ. आई., 11, पृ. 303
7. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1909-10, पृ. 59
8. रा. ग्रू. ए., पृ. 444-45

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भोजक या मग[1] कहलाता था। यद्यपि वे मूलतः विदेशी थे फिर भी कर्म, आचार-विचार व धर्म के कारण इनकी गिनती ब्राह्मणों में की जाती थी। वि. सं. 918 के घटियाला अभिलेख[2] में इनका उल्लेख किया गया हैं। मारवाड़ में यह जाति शाकद्वीपीय के नाम से भी जानी जाती है। ये ओसवालों पर आश्रित रह कर जीवन निर्वाह करते हैं। जैन मन्दिरों में सेवा पूजा करने के कारण इन्हें सेवक भी कहा जाता है। ओसियां के सच्चिया माता के मन्दिर से उपलब्ध वि. सं. 1236 की एक प्रशस्ति में एक भोजक के कार्यों का वर्णन है एवं पारिश्रमिक रूप में उसे सच्चिका देवी के कोष्ठागार से दो अंजलि मूंग और कर्ष प्रतिदिन दिये जाने की व्यवस्था का उल्लेख है।[3] मग और भोजक ब्राह्मणों का मूल व्यवसाय ज्योतिष था। ज्योतिषी ब्राह्मणों का समाज व राज्य में सम्मान था। दान देने के समय ज्योतिषियों को साक्षी रूप में आमन्त्रित किया जाता था। अमृतपालदेव के वि. सं. 1242 के अभिलेख में ज्योतिषी यशदेव और ज्योतिषी आमदेव को साक्षी रूप में बुलाया गया था।[4] मग और भोजक ब्राह्मण विशेषतः सूर्य की उपासना करते थे। वे जैन देवी-देवताओं की पूजा भी करते थे।

विचाराधीनकाल में राजस्थान के पड़ोसी प्रदेशों से ऐसे अभिलेख प्राप्त हुए है जिनमें ब्राह्मणों की आवस्थिक, पुरोहित, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, मिश्र, दीक्षित, त्रिपाठी इत्यादि शाखाओं का बोध होता है।[5] राजस्थान में प्राप्त अभिलेखों में अनेक स्थानों पर ब्राह्मणों के नाम के पहले पण्डित,[6] ठक्कर,[7] पुरोहित,[8] भट्ट[9] आदि सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग मिलता है।

---

1. विस्तृत विवरण हेतु द्र. अरोड़ा, राजकुमार, हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल डेटा फ्राम द भविष्य पुराण, 1972, पृ. 32 अ.
2. इ. आई., 9, पृ. 279
3. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 198
4. ओझा निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 197
5. जे. ए. ओ. एस., 7, पृ. 25; इ. आई., 14, पृ. 204, 205 207, 208; वही, 4, पृ. 98
6. (I) वि. सं. 1143 का झालरापाटन अभिलेख, जे. पी. ए. एस. बी. 10, पृ. 241
   (II) वि. सं. 1212 का थकरड़ा अभिलेख, ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1915-16, पृ. 3
7. वि. सं. 1242 का वीरपुर दानपत्र, ओझा निबन्ध संग्रह, 2, पृ.1 96
8. वि. सं. 1003 का प्रतापगढ़ अभिलेख, इं. आई. 14, पृ. 182
9. झालरापाटन से प्राप्त वि. सं. 746 का अभिलेख, वही, 5, पृ. 181

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण जाति में अनेक गोत्र, प्रवर और शाखायें होती थीं। 'बोधायन श्रौत-सूत्र' के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि वसिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य आठ गोत्र ऋषि हैं। इस श्रोतसूत्र में यह भी उल्लिखित है कि गोत्रों की संख्या सहस्रों और लक्षों में है परन्तु प्रवर केवल 49 है।[1] हमारे अध्ययनकाल में ब्राह्मणों के भरद्वाज[2], कश्यप[3], कात्यायन[4], वसिष्ठ[5], लोहायन[6], शांडिल्य[7], कृष्णात्रेय[8], गौतम[9], पराशरे[10], अत्रि[11], चन्द्रात्रेय[12], वाजसनेय[13] इत्यादि गोत्रों का उल्लेख विभिन्न दानपत्रों तथा शिलालेखों में हुआ है। कहीं कहीं अभिलेखों में गौत्र के साथ शाखा व प्रवर का भी उल्लेख मिलता है। वि. सं. 1076 के बांसवाड़ा ताम्रपत्र में लिखा है—ब्राह्मण भाइलाय वांमन सुताय वशिष्ठसगोत्राय वाजिमाध्यदिन शाखाथैक प्रवरायच्छिच्छा च्छानविनिर्गतपूर्व्व।[14] इसी प्रकार दुर्लभराज चौलुक्य के वि. सं. 1067 के दानपत्र में भी शाखा व प्रवर उल्लिखित हैं।[15] गोत्र एवं प्रवरों की व्यावहारिक

---

1. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ. 286
2. वि.सं. 1242 का वीरपुर दानपत्र, ओझा निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 196
3. दौलतपुरा ताम्रपत्र, इ. आई., 5,पृ. 208
4, वही।
5. वि.सं. 1076 का बांसवाड़ा ताम्रपत्र, आई. ए., 41, पृ. 201
6. वि. सं. 1069 का दुर्लभराज का ताम्रपत्र, 'मरु भारती' अप्रेल, 1965, 2, पृ. 50
7. वि. सं. 1102 का भण्डुण्ड अभिलेख, जे. बी. बी. आर. ए. एस., 23, पृ. 78
8. अर्नें का अभिलेख, एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, पुरातत्व विभाग, जोधपुर 1936, पृ. 7
9. वि. सं. 1243 का पुष्कर अभिलेख, ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1919-20 पृ. 3
10. वि. सं. 1241 का खिचूंद अभिलेख, सोमानी, पृथ्वीराज चोहान एण्ड हिज़ टाइम्स, पृ. 180
11. वि. सं. 1102 का भण्डुण्ड अभिलेख, जे. बी. बी. आर. ए. एस. 23, पृ. 78
12. कल्याणपुर अभिलेख, इ.आई., 30, पृ. 1-7; मरु भारती, 1957,4, पृ. 32-33
13. वही।
14. आई.ए., 41, पृ. 210; इ.आई., 11, पृ. 182
15. इ.आई., 36, पृ. 95

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महत्ता थी। सगोत्र कन्याओं से विवाह निषिद्ध माना जाता था। मृतक का धन निकटतम सगोत्र सम्बन्धी को मिलता था। श्राद्ध में सगोत्र ब्राह्मणों को यथा सम्भव आमन्त्रित नहीं किया जाता था। इसी प्रकार सप्रवर कन्या से भी विवाह निषिद्ध था। उपनयन संस्कार में मेखला में एक, तीन या पांच गांठें होती थी जो बच्चे के प्रवर ऋषि की संख्या की द्योतक होती थी।[1]

मुसलमानों के भारत में आने से ब्राह्मणों में स्थानीय व संकुचित भावनायें प्रबल होने लगी। ब्राह्मण हिन्दू संस्कृति के पोषक व संरक्षक माने जाते थे। उन्होंने अब जाति की शुद्धि पर अधिक बल देना शुरू किया। हमारा अध्ययनकाल कलिवर्ज्यों[2] का युग था। हिन्दू धर्म की प्राचीन उदारता कम होने लगी तथा अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाने लगे। समुद्र यात्रा करने वाले ब्राह्मण से उसके प्रायश्चित कर लेने के बाद भी सम्बन्ध करना निषिद्ध घोषित किया गया। विवाह, भोजन और सामाजिक सम्पर्क के नियमों को अधिकाधिक कठोर और जटिल बना दिया गया। शूद्रों के घर भोजन करना ब्राह्मणों के लिए वर्जित हो गया। जाति व्यवस्था का उल्लंघन करने वालों को दण्डित किया जाता था। ऐसी परिस्थिति में जातियों और उपजातियों में वृद्धि स्वाभाविक थी। खान-पान आदि में कठोर नियमों का पालन करने वाले और इस विषय में कुछ सरल मार्ग अपनाने वाले ब्राह्मणों में स्वतः भेद हो गया। जो ब्राह्मण किन्हीं कारणों से मुसलमानों के सम्पर्क में आये वे अन्य ब्राह्मणों द्वारा हीन दृष्टि से देखे जाने लगे।[3] राजस्थान के ब्राह्मण अपने को पूर्वी भारत के ब्राह्मणों से श्रेष्ठतर मानते थे, क्योंकि वहां के कुछ ब्राह्मण मांसाहारी भी होते थे। इस पार्थक्य से राजस्थान के ब्राह्मणों का बाह्य सम्पर्क कम हो गया। इससे उनकी बौद्धिक प्रगति को आघात पहुंचा।[4]

अध्यापन, पौरोहित्य (यजमानी या जजमानी) तथा प्रतिग्रह सामान्यतः ब्राह्मणों की जीविका के मुख्य साधन थे। यज्ञ, अनुष्ठान आदि धार्मिक कार्य ब्राह्मणों द्वारा किये जाते तथा सम्पन्न कराये जाते थे। ब्राह्मणों द्वारा अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, सौत्रामणि, पशुबन्ध, चातुर्मास्य इत्यादि यज्ञ किये जाने का उल्लेख रत्नपाल के वि.सं. 1176 के सेवाड़ी ताम्रपत्र में मिलता

---

1. विस्तृत अध्ययन के लिए दे., काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ. 284-288
2. वही, 2, पृ. 981
3. सचाऊ, 1, पृ. 134-35
4. रा.ग्रू.ए., पृ. 444-45

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है।[1] इसी प्रकार चौलुक्य द्वितीय भीमदेव के गुहिलवंशी सामन्त महाराजाधिराज अमृतपालदेव के वि.सं. 1242 के दानपत्र में ठाकुर शोभा को यज्ञकर्ता कहा गया है।[2] अमृतपालदेव के उपर्युक्त दानपत्र में विदित होता है कि उसने सूर्यग्रहण के पर्व पर अपने माता पिता के एवं अपने कल्याण के हेतु भारद्वाज गोत्र के रायकवाल जाति के ब्राह्मण ठाकुर शोभा के पुत्र मदन को 'पटपंचाशत मंडल' के गातोड़ ग्राम का ल्हसाडिया नामक एक अरहट, दो हलवाह भूमि तथा धान का खेत दान दिया था।[3] आल्हणदेव के वि.सं. 1218 के नाडोल ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उसने श्रावण शुक्ला चतुर्दशी के पर्व पर ब्राह्मणों व गुरुजनों को दान दिया था।[4] दुर्लभराज के वि.सं. 1069 के दान पत्र से विदित होता है कि तन्त्रपाल क्षेमराज ने भीनमाल मण्डल में क्षत्रियपद्र नामक गांव ब्राह्मण गोविन्द के पुत्र नलका को दान में दिया था।[5] राजस्थान से और भी ऐसे अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं जिनमें ब्राह्मणों द्वारा दान प्राप्त किये जाने का उल्लेख है।[6]

ब्राह्मणों द्वारा धमार्थ बावड़ी इत्यादि निर्माण करवाये जाने के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। मण्डोर से प्राप्त एक अभिलेख में वर्णन है कि ब्राह्मण चणक के पुत्र माधू ने बावड़ी का निर्माण करवाया था।[7] वि.सं. 1102 के भण्डुण्ड अभिलेख में परमार राजा पूर्णपाल के समय में 22 ब्राह्मणों और एक क्षत्रिय ने मिलकर भूण्डिपद्र गांव में एक बावड़ी का निर्माण करवाया था।[8] ब्राह्मण पुरोहितों का कार्य करते थे इसका संकेत वि.सं. 1209 के किराडू-अभिलेख से मिलता है।[9]

---

1. इ.आई., 9, पृ. 308
2. ओझा, निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 196
3. वही
4. इ.आई., 9, पृ. 64
5. 'मरु भारती', 1965, 2, पृ. 50
6. (i) यथा चाहमान केल्हण के तीन ताम्रपत्र वि.सं. 1233 का बामनेरा ताम्रपत्र व अन्य दो तिथिविहीन लेख, इ.आई. 13, पृ. 206
   (ii) भोजदेव का वि.सं. 1076 का बासवाड़ा ताम्रपत्र, आई.ए., 41, पृ. 201
7. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट, पुरातत्व विभाग, जोधपुर, 1934, पृ. 55
8. जे. बी. बी. आर. ए. एस., 23, पृ. 78
9. इ. आई. 11. पृ. 44

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण राजकीय प्रशस्तियों व अभिलेखों के लेखक तथा उत्कीर्णक होते थे। वि.सं. 693 के कसवां (सिरोही) से प्राप्त अभिलेख का लेखक ब्राह्मण शिवगुप्त था।[1] वि.सं. 1003 के प्रतापगढ़-अभिलेख का लेखक पुरोहित त्रिविक्रमनाथ था।[2] परमार शासक पूर्णपाल के वि.सं. 1099 के अभिलेख का रचयिता ब्राह्मण हरि का पुत्र मार्तसमन था।[3] थकरड़ा (डूंगरपुर) से प्राप्त महाराज सूर्यपालदेव (प्रतिहार शासक) के वि.सं. 1212 के अभिलेख का रचयिता पण्डित श्रीधर का पुत्र पण्डित मईध था।[4]

अपेक्षया कम पढ़े लिखे ब्राह्मण अपनी जीविका स्वस्तिवाचन अथवा मन्दिरों में पूजा करके अर्जित करते थे।[5] स्पष्टतः सभी ब्राह्मण बुद्धिमान अच्छी स्मृति वाले एवं धैर्यशील नहीं होते थे। बहुतों में वेदाध्ययन करने की क्षमता ही नहीं थी। अध्यापन, पौरोहित्य तथा प्रतिग्रह वृत्तियां सभी ब्राह्मणों की सामर्थ्य व स्वभाव के अनुकूल नहीं थी। अतः बहुत से ब्राह्मण इन तीन वृत्तियों के अतिरिक्त अथवा इनके बजाय जीविका के अन्य साधन भी अपनाते थे। धर्मशास्त्रों में इसके लिए अनुमति दी गई है। गौतम ने लिखा है यदि ब्राह्मण शिक्षण (अध्यापन) पौरोहित्य एवं प्रतिग्रह या दान से अपनी जीविका न चला सकें तो वे क्षत्रियवृत्ति (युद्ध एवं रक्षण कार्य) अपना सकते हैं। यदि वह भी सम्भव न हो तो वे वैश्य-वृति से जीविका कमा सकते हैं।[6] हमारे अध्ययनकाल में भी ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रिय तथा वैश्य वृतियों के पालन करने के उदाहरण मिलते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि गुहिल, मण्डोर के प्रतिहार, चाहमान और परमार प्रारम्भ में ब्राह्मण थे, कालान्तर में क्षात्रधर्म पालन करने पर वे क्षत्रिय कहलाये।[7] ब्राह्मण राजकीय नौकरियों में भी लगे थे। परमारों के शासनकाल में सान्धिविग्रहिक और दूतक के पदों पर प्रायः ब्राह्मणों की नियुक्ति होती थी। परमार देवपाल का सान्धिविग्रहिक महापण्डित बिल्हण था।[8] द्वितीय सीयक के हरसोल-दानपत्र में ठकुर

---

1. वही, 36, पृ. 47
2. वही, 14, पृ. 176
3. वही, 9, पृ. 11
4. वही, 46, पृ. 225
5. वही, 33, पृ. 140
6. गौतम 6/6-7
7. भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, पृ. 19, रा. ध्रू. ए. पृ, 447 दे. आगे।
8. इ. आई, 9, पृ. 103-20

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
विष्णु का दूतक के पद पर कार्य करना प्रमाणित है।[1] गुजराती नागर ब्राह्मण स्कन्द व उसका पुत्र सोढ चाहमानों के मंत्री थे।[2] ब्राह्मण यदा कदा ग्राम व्यवस्था में भी हाथ बंटाते थे। नाडोल से प्राप्त वि.सं. 1198 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि धालोप ग्राम को ब्राह्मणों के आठ वार्डों में विभाजित किया था। प्रत्येक वार्ड से दो ब्राह्मण प्रतिनिधियों को लिया जाता था। गांव में शांति व कानून की व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व इन्हीं ब्राह्मण प्रतिनिधियों पर था।[3] चीरवे के अभिलेख[4] में वर्णित तातेड जाति के ब्राह्मण 'तलार' पद और सैनिक सेवा में दक्ष थे। पल्लीवाल ब्राह्मण पौरोहित्य में दक्ष माने जाते थे।

ब्राह्मणों द्वारा वैश्य वृत्ति अपनाये जाने के उदाहरण भी राजस्थान के अभिलेखों में मिलते है। तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के वि. सं. 1234 के बाडले (अजमेर के निकट) अभिलेख से ज्ञात होता है कि कौशिक गोत्र के यशोराज के पुत्र (या पौत्र) द्वारा वाणिज्य से उपार्जित धन से एक वापी का निर्माण करवाया गया था।[5] 'शृंगारमन्जरीकथा' में ब्राह्मण महादेव द्वारा सिंहल द्वीप में व्यापार-व्यवसाय द्वारा अर्थोपार्जन कर पुनः स्वदेश लौटने का उल्लेख है।[6]

हमारे अध्ययनकाल में ब्राह्मणों द्वारा कृषि करने के प्रमाण भी अभिलेखों में हैं। भूतपूर्व भरतपुर राज्य से प्राप्त (जो प्रतिहार साम्राज्य में सम्मिलित था) वि. सं. 962 के कामा अभिलेख में आठ अनुदानों का वर्णन हैं जो सभी वि. सं. 843-44 से लेकर 962-63 के बीच स्थानीय देवता शिव के नाम पर दिये गये थे। छठे आलेख में कहा गया है कि उद्भट नाम एक व्यक्ति ने अपने अधीनस्थ गांव में तीन हलों से जोती जाने योग्य भूमि, जिसे पहले सहल्ल, जज्ज और अन्य ब्राह्मण जोतते थे और जिसे बाद में एडुवाक नामक हलिक ने जोता, दान कर दी थी।[7] परमार, चाहमान, चौलुक्य शासक व उनके सामन्त ब्राह्मणों को प्रायः हलबाह भूमि, खेत आदि दान देते थे तथा गोचर भूमि की सुविधा प्रदान करते थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा

---

1. वही, 19 पृ. 243
2. विरुद्धविधिविध्वंस, 3, पृ. 488
3. इ. आई., 11, पृ. 38-39
4. वियाना ओरियण्टल जर्नल, 21, पृ. 155-162
5. अ. चौ. डा., पृ. 107
6. शृंगारमन्जरीकथा, पृ. 28
7. इ. आई. 45, पंक्तियां 19-20

 CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digitized by eGangotri Siddhanta Gyaan Kosha Vidyanigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता है कि बहुत से ब्राह्मण कृषि तथा पशु पालन भी करते थे। बाणमेरा से प्राप्त वि.सं. 1220 के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि महाराजपुत्र कुमार सिंह के पुत्र अजयसिंह ने ब्राह्मण संधीरण के पुत्र नारायण को अपने गांव कोरट्टा में एक भूमि क्षेत्र प्रदान किया था।[1] द्वितीय भीमदेव चौलुक्य के गुहिलवंशीय सामन्त अमृतपालदेव के वि. सं. 1242 के पूर्वोदधृत ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि अमृतपालदेव ने ब्राह्मण यज्ञकर्ता ठाकुर शोभा के पुत्र मदन को षटपंचाशत मण्डल के गातोड़ ग्राम का लहसडिया नामक एक रहट, दो हलवाह भूमि तथा धान का खेत दान दिया था।[2] आबू के धारावर्ष परमार के वि. सं. 1237 के हाथल ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि शैवधर्म के आचार्य भट्टारक वीसलउग्रदमके को साहिलवाड़ा ग्राम तथा गोचर भूमि की सुविधा दी गई थी।[3] ब्राह्मणों का कृषि कर्म अपनाना स्यात् आपद् धर्म था परन्तु दानपत्रों में 'भुज्जमामनस्य कर्षतातः कर्षयतौ' ऐसा उल्लेख मिलता है।[4] 'कर्षत' शब्द से हल जोतने का तात्पर्य है। एक अभिलेख में वर्णन मिलता है कि एक राजा ने ब्राह्मणों से कृषि कर्म त्यागने और वेदाध्ययन में समय व्यतीत करने के लिए प्रार्थना की थी—"यो विप्रान मितान हलि कलयतः कार्श्येन वृतरलं वेद सांगम पाठयत् कलिगल ग्रस्ते धात्रीतले[5]।" ऐसा प्रतीत होता है कि विचाराधीन काल में ब्राह्मणों को जीविकोपार्जन के हेतु षडकर्म के अतिरिक्त अन्य साधनों का अवलम्बन करना आवश्यक हो गया था।

नाडोल, जालौर, चन्द्रावती, गोड़वाड आदि स्थानों में, जहां जैन प्रभाव अधिक था, ब्राह्मणों को हीन दृष्टि से देखा जाने लगा था और उनके चरित्र व्यवसाय आचार-विचार आदि पर टीका टिप्पणी की जाने लगी थी।[6] ब्राह्मणों का दावा था कि उन्हें अधिक से अधिक देशनिष्कासन का दण्ड दिया जा सकता है, वे मृत्यु दण्ड से मुक्त हैं। जैन उनके इस दावे को नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी कि कोई व्यक्ति केवल यज्ञोपवीत पहिनने व यज्ञ करने से ही ब्राह्मण नहीं हो जाता। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता उनकी विद्वता, शुद्ध आचरण तथा व्यवहार कुशलता से आंकी जानी चाहिए। ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले कर्मकाण्डों व उनकी अस्पृश्यता सम्बन्धी विचारों की जैन

---

1. वही, 13, पृ. 206
2. ओझा, निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 196
3. आई. ए. 43, पृ.193-94
4. इ. आई., 20, पृ. 131; आई.ए., 16, पृ.208
5. वही, 21, पृ. 278-82
6. द्र. जिनेश्वर, कथाकोष, कथा संख्या 32

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कटु आलोचना करते थे।[1] परन्तु जैनों का प्रभाव स्थानीय व सीमित था। वस्तुतः हमारे अध्ययनकाल में ब्राह्मणों का समाज में उच्च स्थान बराबर बना रहा।

राजपूत

विचाराधीनकाल में अथवा इसके कुछ समय पूर्व एक नयी जाति का उदय हुआ। यह जाति 'राजपूत' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्राचीन क्षत्रियों के समान देश के वर्णाश्रम धर्म तथा हिन्दू संस्कृति की रक्षा करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। 'ललितविग्रहराज' के अनुसार चतुर्थ विग्रहराज अपने मित्रराजाओं, ब्राह्मणों, देवस्थानों और तीर्थों की तुर्कों से रक्षा करना अपना विशेष कर्त्तव्य मानता था।[2] यद्यपि कर्त्तव्य की दृष्टि से यह जाति क्षत्रिय ही थी तथापि इसे प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान मान लेना उचित नहीं होगा। राजपूत जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत है।[3] जैसे ही इस जाति की प्रधानता समाज में स्वीकृत होने लगी धर्माधिकारियों, विद्वानों और भाटों ने इसका सम्बन्ध सूर्य, चन्द्र, अग्नि इत्यादि हिन्दू देवताओं से जोड़ दिया। परन्तु यूरोपीय तथा कुछ स्थानीय विद्वानों ने उनकी उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार राजपूत जाति का प्राचीन वैदिक क्षत्रियों से कोई सम्बन्ध नहीं था। वे उन्हें यूची, शक, हूण, गुर्जर

---

1. रा. थ्रू. ए., पृ. 445
2. आई. ए., 20 पृ. 210
3. इस समस्या पर द्र. ओझा, गो. ही., राजपूताने का इतिहास 1, पृ.41-76
   वैद्य, सी. वी., हिस्टरी ऑफ मेडिवल इण्डिया, 2, पृ. 7-64
   जेम्स टॉड, एना. एन्टी. राज. 1, पृ. 68-98
   बनर्जी, ए. सी., राजपूत स्टडीज़, अ. प्रथम
   भाण्डारकर, डी.आर., गुहिलोत्स्, जे.पी. ए.एस. बी., 1999, पृ. 176
   गुर्जर्स, जे. बी. बी. आर. ए. एस., 21, पृ. 405
   मजूमदार, आर. सी., द गुर्जर प्रतिहारज़, जे. डी. एल., 10 पृ. 1-76
   भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज़ पृ. 8-20
   रायचौधरी, जी. सी., गुहिलोत्स् ओरिजन्स, डी.आर. भाण्डारकर वॉल्यूम् 31-316
   शर्मा, दशरथ, परमारों की उत्पत्ति, राजस्थान भारती, वर्ष, 3, 2 गुर्जर शब्द का अर्थ, मरु भारती, 8, 2, पृ. 46 ओरिजन ऑफ प्रतिहारज, पूना ओरियण्टलिस्ट, 2; अ. चौ. डा., पृ. 1-26

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदि विदेशी जातियों की सन्तान मानते हैं। टॉड, क्रूक, भाण्डारकर आदि इस मत के पोषक हैं। इनके विपरीत सी. वी. वैद्य राजपूतों को विशुद्ध क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं। ओझाजी ने मध्यम मार्ग अपनाया है। उनकी मान्यता है कि राजपूतों की नसों में क्षत्रिय रक्त तो प्रवाहित था ही, परन्तु इसके साथ ही कुषाण, शक, हूण आदि अनार्य जातियां भी इनमें घुलमिल गई थी। दशरथ शर्मा व कुछ अन्य विद्वानों ने प्राचीन अभिलेखों के आधार पर कुछ राजपूतों को ब्राह्मणवंशी स्वीकार किया। वि. सं. 918 के घटियाला अभिलेख से ज्ञात होता है कि मण्डोर के प्रतिहार ब्राह्मण हरिचन्द्र की सन्तान थे।[1] हलायुध ने अपने ग्रंथ 'पिंगलसूत्रवृति' में परमार मुन्ज को 'ब्रह्मक्षत्रकुलीन' कहा है।[2] अर्बुद मण्डल के परमार अग्नि में आस्था रखने वाले वसिष्ठ ब्राह्मण थे जिन्होंने शत्रुओं का संहार करने के हेतु शस्त्रों का प्रयोग किया। इसका उल्लेख वि. सं. 1099 के वसन्तगढ़ अभिलेख में मिलता है।[3] वि. सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख में चाहमानों को वत्स-गोत्रीय ब्राह्मण बताया गया है।[4] सूण्डा[5] व अचलेश्वर[6] अभिलेखों में क्रमशः जालौर और चन्द्रावती के चाहमानों को ब्राह्मण बताया गया है। वि. सं. 1034 के आटपुर अभिलेख में गुहिलों को 'विप्रकुल' का बताया गया है।[7] वि. सं. 1331 के आबू अभिलेख[8] में रावल समरसिंह को तथा वि. सं. 1342 के उसी स्थान से प्राप्त अभिलेख[9] में गुहिलवंशी बापा रावल को ब्राह्मण माना गया है। गोपीनाथ शर्मा ने कुम्भलगढ़ प्रशस्ति की द्वितीय पट्टिका के पद्यांश के आधार पर आग्रह किया है कि गुहिलवंशी बापा रावल आनन्दपुर के ब्राह्मण वंश से सम्बन्धित था।[10] बापा के उपरान्त भर्तृपट्ट को भी चाटसू अभिलेख[11] में 'ब्रह्मक्षत्री'[12] (वह जिसे ब्राह्मण से क्षत्रियत्व प्राप्त

---

1. इ. आई., 9, पृ. 277-81
2. पिंगलाचार्यकृत छन्दशास्त्र, अ. 4, श्लोक 19 की टीका
3. इ. आई., 9, पृ. 11-12
4. वही, 26, पृ. 80
5. वही, 9, पृ. 70-77
6. जे. ए. एस. बी., 50, पृ. 48; बी. आई., 5, पृ. 83-87
7. इ. आई. 39, पृ. 191
8. प्राकृत और संस्कृत अभिलेखों का संग्रह, पृ.75
9. इ. आई. 16, पृ. 347
10. पी. आई.एच.सी. 1951 पृ.367-72
11. इ. आई.,12, पृ.10
12. 'ब्रह्मक्षत्र' शब्द की व्याख्या के लिये दे., पाठक, बी. एस. एन्श्येण्ट हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, पृ. 112,146,165-169

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हुआ) कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि महाराणा कुम्भा के काल तक गुहिलों को ब्राह्मणवंशी स्वीकार किया जाता था।

राजपूतों की उत्पत्ति में एक तत्त्व गणजातियों का भी प्रतीत होता है। मालव, आर्जुनायन, मद्रक, यौधेय आदि अनेक गणजातियां, जो भारत में लगभग 400 ई. तक विद्यमान थीं, अचानक राजनीतिक रंगमंच से लुप्त हो जाती हैं। उनके विलोप व राजपूतों के अविर्भाव में मात्र दो तीन शती का अन्तर है। अतः यह अनुमान निस्सार नहीं कहा जा सकता कि 'राजपूत' जाति के आविर्भाव में इन गण जातियों का भी योगदान था। यौधेयों की जोहिया राजपूतों के रुप में पहिचान इस प्रसंग में उल्लेख्य है।

यहां उक्त मतों का सविस्तार विश्लेषण आवश्यक नहीं है। सारांशतः हम यह कहेंगे कि शक, पह्लव, हूण आदि विदेशी बड़ी संख्या में आये और शनैः शनैः भारतीय समाज में विलीन हो गए। वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सके। भारत की युद्धजीवी जातियों ने इन विदेशी आक्रांताओं को दबाया और मूलतः समानधर्मी होने से अपने में मिला लिया। समाज में स्वतः ही यह धारणा बन गयी थी कि सभी युद्ध जीवी जन क्षत्रिय हैं। अतः आवश्यकता केवल इस बात की थी कि विदेशी जन वैदिक धर्म और परम्परा को अपना लेते। वस्तुतः उनके भारतीयकरण की प्रक्रिया बहुत पहले से ही आरम्भ हो गई थी। शकों ने भारतीय नरेशों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। प्रथम रूद्रदामा ने अपनी पुत्री का विवाह सातवाहन राजकुमार से किया था।[1] उनके विवाह सम्बन्ध दक्षिण के इक्ष्वाकुओं से भी हुए थे। एक उत्तर भारतीय अभिलेख में महादेवी प्रभुदामा का उल्लेख मिलता है। दशरथ शर्मा ने उसे समुद्रगुप्त की पत्नी माना है।[2] समुद्रगुप्त के अन्तःपुर में कुषाणादि परिवारों की राजकुमारियां थी।[3] यशःकर्ण चेदि हूण राजकुमारी से उत्पन्न हुआ था।[4] राजस्थान में हमारे अध्ययनकाल में हरियादेवी नामक हूण कन्या का विवाह गुहिलवंशी अल्लट के साथ हुआ था जैसाकि वि. सं. 1034 के शक्तिकुमार के अभिलेख से स्पष्ट है।[5] क्षात्रधर्म अपनाने वाले ब्राह्मणों का क्षत्रियों में विलोप और भी सहज था क्योंकि दोनों समान

---

1. जूनागढ़ प्रशस्ति एवं कन्हेरी अभिलेख के सम्मिलित साक्ष्य के आधार पर यह माना जाता है।
2. पी.आई.एच.सी., 1956, पृ.146-48
3. कार्पस, 3, पृ.6
4. आई.ए., 39, पृ. 191
5. वही।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जीवन पद्धति एवं धर्म के अनुयायी थे। अतः यह धारणा सत्य प्रतीत होती है कि नवोदित राजपूत जाति में विदेशी जातियों, ब्राह्मणों, गणजातियों व क्षत्रियों इन सभी तत्वों का सम्मिश्रण था।

हमारे अध्ययनकाल में राजपूत विभिन्न कुलों में विभाजित हो गये थे। उन्होंने अपने पुरोहितों के गोंत्रों को अपना लिया था। यथा, मेवाड़ के गुहिलवंशियों के तीन भिन्न-भिन्न गोत्रों का पता चलता है। मेवाड़ के गुहिल-वंशियों का गोत्र 'वैजवाप' था[1] जबकि वि. सं. 1243 के पुष्कर से प्राप्त सती स्तम्भ अभिलेख से स्पष्ट होता है कि ठाकुर कोल्हण गुहिलवंशी और गौतम गोत्री था।[2] काठियावाड़ के गोहिल भी गौतम गोत्री कहलाते थे।[3] गुहिलवंशी विजयसिंह के मध्यप्रदेश के दमोह से प्राप्त शिलालेख में उसे विश्वामित्र गोत्री कहा गया है।[4] इसी प्रकार चौलुक्य मानव्य गोत्रीय भी थे और भारद्वाज गोत्रीय भी।[5] इस गोत्रवैभिन्य का कारण यह प्रतीत होता है कि राजपूतों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के आधार पर माने गए थे। अलग अलग प्रदेशों में बसने पर तत्क्षेत्रीय पुरोहितों के गोत्र धारण करना प्रथा बन गई। मिताक्षरा के अनुसार जिन क्षत्रियों और वैश्यों के स्वयं के गोत्र व प्रवर नहीं होते, उन्हें अपने पुरोहितों के गोत्र व प्रवर अपना लेना चाहिये।[6] सम्भवतः उक्त प्रथा इस शास्त्रीय आदेश के अन्तर्गत विकसित हुई थी। यवन, शक, कुषाण और हूण आदि जातियों ने कालांतर में वैदिक आदर्शों व परम्पराओं को अपना लिया था। प्रथम रूद्रदामा संस्कृत भाषा का विद्वान् था।[7] यवन हेलियोडोरस ने भागवत धर्म का अनुसरण किया था।[8] कनिष्क बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था और हूण मिहिरकुल ने शैव धर्म अपना लिया था।[9] इस प्रकार विदेशियों का शनैः शनैः भारतीयकरण होता गया। 'हरकेलि नाटक' का लेखक भास्कर हूण वंश में उत्पन्न गोविन्द का पौत्र था।[10]

---

1. ओझा, गो. ही., राजपूताने का इतिहास, 1, पृ. 352
2. ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1920-21, पृ. 3
3. ओझा, गो. ही., राजपूताने का इतिहास, 1, पृ. 353 पर उद्धृत
4. वही।
5. वही।
6. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1, 53 पर टीका
7. सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ. 179
8. वही, पृ. 88-89
9. कार्पस, 3, पृ. 142-48
10. आई. ए., 20, पृ. 210

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'कान्हड़देप्रबन्ध' में राजपूत वंशों की सूची में हूणों को भी सम्मिलित किया गया है। इस ग्रंथ में छत्तीस राजपूत कुलों का उल्लेख है। इनमें से कतिपय राजपूत कुलों का विशेष विवरण दिया गया है यथा चौहान, बाघेला, सोलंकी, राठौड़, परमार, बारड़, हूण, हरियड, चावडा, डोडिया, जादव, हूल, निकुम्ब और गोहिल।[1] यह रचना 15 वीं शती के मध्य की है। इस समय परमारों और प्रतिहारों की तुलना में राठौड़ और चौहान अधिक प्रतिष्ठित थे। हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों से भी राजपूत कुलों व शाखाओं की जानकारी होती है। इनमें भाटी,[2] वराह या विराहा, प्रतिहार[3] या पड़िहार, तोमर,[4] मोहिल,[5] बला, जेटवा, दाहिमा, दाहिया,[6] चन्देल[7] आदि सम्मिलित हैं।

वैश्य

परम्परा से वैश्य कृषि, व्यापार और वाणिज्य कर्म करते थे। अनेक क्षत्रियों ने युद्धवृत्ति का परित्याग कर वैश्यवृत्ति अपना ली थी, जिससे उनकी गणना भी वैश्यों में होने लगी थी। वि. सं. 1353 के सामन्तसिंह के जालौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसमें उल्लिखित दान के दाता नरपति के भाई व पिता ओसवाल जातीय सोनी थे[8] जबकि नरपति के पूर्वजों को 'ठक्कुर' कहा जाता था। उन्होंने अहिंसा प्रधान जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, इसलिये कालान्तर में लोगों ने उन्हें ठक्कुर कहना छोड़ दिया था। इसी प्रकार 'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' से ज्ञात होता है कि नाडोल राज्य के संस्थापक

---

1. खण्ड 3 चउपाई संख्या 37-39 पृ. 108
   कान्हडदेप्रबन्ध में प्रदत्त सूची में राजपूतकुलों की संख्या छत्तीस मानी जाती है। परन्तु दशरथ शर्मा ने राजस्थान थ्रू द एजिज़ में चउपाई 38 से आगे उद्धृत की है और वर्णित कुलों की संख्या सोलह मानी है। गोपीनाथ शर्मा ने भी दशरथ शर्मा का अनुसरण किया है। वस्तुतः चउपाई 37 से ही कुलों का उल्लेख आरम्भ हो जाता है। कुलों की संख्या भी केवल चौदह है। देवड़ा कुल का वहां उल्लेख नहीं है।
2. वि. सं. 894 का बाउक का अभिलेख, जे. बी. ए. एस. 1894, पृ. 1
3. वि. सं. 872 का बुचकला अभिलेख, इ. आई., 9, पृ. 199
4. वि. सं. 1030 का हर्ष अभिलेख, जे. ए. एस. बी., 4, पृ. 361
5. वि. सं. 1248 का उस्त्रा देवली अभिलेख, पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी., 1911-12, पृ. 53
6. वि. सं. 1056 का किणसरिया अभिलेख, इ. आई., 12, पृ. 59
7. वि. सं. 1243 का रेवासा अभिलेख, अ. चौ. डा., पृ. 107
8. इ. आई., 11, पृ. 61

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चाहमान लक्ष्मण ने किसी श्रेष्ठी की पुत्री से विवाह किया था। इससे उत्पन्न पुत्र को कोषाध्यक्ष बनाया गया और उन्हें वैश्य कहा गया।[1] राजकीय भण्डारों के अधिकारियों को भण्डारी कहा जाने लगा और वे ओसवाल माने जाने लगे। अग्रवाल, माहेश्वरी, जायसवाल और खण्डेलवालों का भी उद्भव इसी प्रकार क्षत्रियों से ही माना जाता है। शीलादित्य के अभिलेख[2] और 'कुवलयमाला' तथा 'कान्हडदेप्रबन्ध' जैसे ग्रंथों में व्यापार करने वाले लोगों को वैश्य की संज्ञा दी गई है। श्रीमाल, किरातकूप और ओसियां जैसे नगरों की समृद्धि का कारण वैश्य ही थे। परन्तु वैश्यों के कुछ परम्परागत व्यवसाय यथा कृषि और पशुपालन शनैः शनैः शूद्रों ने भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया था।[3] जबकि वैश्य इनसे विमुख होने लगे। सम्भवतः वैश्य इन व्यवसायों का परित्याग इसलिये करने लगे क्योंकि इनमें हिंसा की सम्भावना बनी रहती थी।

वैश्य वर्ण में भी व्यवसाय और स्थान विशेष के आधार पर अनेक जातियां व उपजातियां बन गई थीं। प्राग्वाट,[4] उपकेश,[5] श्रीमाल,[6] धर्कट[7] इत्यादि वैश्य जातियों ने धार्मिक और साहित्यिक जीवन को ठूसर,[8] महेश्वरी[9] व कुछ

---

1. रा. थ्रू. ए., पृ. 439
2. आई. ए., 29, पृ. 189
   महाजन शब्द का प्रयोग हुआ है जो समुदाय या संघ का द्योतक है।
3. बील, बुद्धिस्ट रेकार्ड्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, 1, पृ. 64
4. वि. सं. 1201 का दिलवाड़ा (आबू) अभिलेख, इ. आई., 9, पृ. 151
5. नाहर, जै. ले. सं., 1, पृ. 248
6. वि. सं. 1201 का दिलवाड़ा अभिलेख, इ. आई. 9, पृ. 151
7. वि. सं. 1117 का भीनमाल अभिलेख, बी. जी. 1, पृ. 472 सकराय माता अभिलेख से ज्ञात होता है कि धर्कट परिवार का श्रेष्ठिन् गर्ग गोष्ठिक था। धर्कट जाति जैन और माहेश्वरी दोनों में ही होती है। भीनमाल के पास धरकटगढ़ स्थान से सम्भवतः इस जाति का उदय हुआ। द्र. जैन, के. सी., एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स् ऑफ राजस्थान, पृ. 395
8. हर्ष सम्वत् 201 के खण्डेला अभिलेख में ठूसर वंशीय आदित्यनाग ने अपने माता पिता के पुण्य की वृद्धि के लिए खण्डेले के अर्द्धनारीश्वर मंदिर का निर्माण करवाया था। ठूसर आजकल अपने आपको भार्गव ब्राह्मण मानते हैं, परन्तु ठूसर जातीय दुर्गवर्धन ब्राह्मणों को परितुष्ट करने वाले वणिक के रूप में प्रसिद्ध था। द्र., अकबरनामा, 1, पृ. 617 अकबर का शत्रु हेमूबक्काल भी ठूसर जाति का था।
9. ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1927. पृ. 3

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अन्य वैश्य जातियां प्राचीन वैदिक धर्म के ही अनुयायी बनी रही जबकि अन्य अनेक वैश्य जनों ने जैन धर्म अपना लिया था। 'कविकल्पलता' में वैश्यों को मंत्री पदों पर नियुक्त करने की संस्तुति की गई है। विचाराधीन काल में गुजरात और राजस्थान में वैश्यों को मंत्रियों के रूप में भी नियुक्त किया जाता था। वैश्य जातीय वस्तुपाल और यशोवीर जालौर के शासक उदयसिंह के प्रमुख मन्त्रदाता थे।[1] नाडोल के कटुकदेव का बलाधिप यशोदेव वैश्य जातीय था।[2] वैश्य रामदेव तृतीय पृथ्वीराज चाहमान के काल का प्रसिद्ध मल्ल (पहलवान) था।[3] हमारे अध्ययनकाल के पश्चात् भी यह परम्परा चलती रही। उदाहरणतया शाह वस्तुपाल और तेजपाल प्राग्वाटवंशी वीर धवल के मंत्री थे।[4]

शूद्र

प्राचीन आचार्यों के अनुसार शूद्रों का मुख्य कर्त्तव्य द्विजों की सेवा और सहायता करना था जबकि इनके भरण-पोषण का उत्तरदायित्व द्विजों पर था।[5] यदि शूद्र उच्च वर्णों की सेवा से अपनी या अपने कुटम्ब की जीविका नहीं चला पाता था तो वह बढइगिरी, चित्रकारी, पच्चीकारी और रंगसाजी जैसे उद्योगों द्वारा जीविकोपार्जन करता था।[6] आपत्काल में शूद्र क्षत्रियों एवं वैश्यों का कार्य भी कर सकते थे।[7] 'कथाकोषप्रबन्ध' और 'देशीनाममाला' जैसे मध्यकालीन ग्रंथों में दस्तकारी अथवा खेती में लगी हुई कई जातियों की गणना शूद्रों में की गई है। इनमें कुम्हार, माली, तम्बोली, तेली, नाई, लुहार, खाती, सुनार, ठठेरे, दर्जी, गडरिये आदि मुख्य हैं।[8] जब वैश्यों ने व्यापार-वाणिज्य को अपनी जीविका का प्रधान आधार बना लिया तब शूद्रों ने खेती, पशुपालन और दस्तकारी के पेशे भी अपना लिये। शैव और जैन धर्म के सुधारकों ने शूद्रों के प्रति हीन भाव नहीं अपनाया। इससे शूद्रों की सामाजिक स्थिति में न्यूनाधिक सुधार हुआ। इस समय के कुछ तांत्रिक

---

1. अ. चौ. डा., पृ. 173-74
2. वि सं. 1172 का कटुकराज का सेवाड़ी ताम्रपत्र, इ. आई., 11, पृ. 30
3. अ. चौ. डा., पृ. 277
4. इ. आई., 8, पृ. 208
5. आपस्तम्ब 1-1-1-7-8
6. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ. 148
7. वही।
8. शर्मा, जी.एन., राजस्थान का इतिहास, पृ. 116

 CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri. Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुरु स्वयं शूद्र थे। नवीं शताब्दी के टीकाकार मेधातिथि ने शूद्रों को द्विजों की सेवा से मुक्ति का समर्थन किया है और उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार भी दिया है। उसने शूद्रों के लिए बिना मन्त्रोच्चारण के संस्कारों के पालन करने का प्रावधान भी किया है।[1] आठवीं शती से बारहवीं शती के काल में खेती तथा दस्तकारी में लगे हुए समुदायों की अलग अलग जातियां मानी जाने लगी थीं। शूद्रों को मन्दिरों की व्यवस्था से सम्बन्धित किए जाने के उदाहरण भी मिलते है। उन्हें ग्राम और नगर की सुरक्षा समितियों का सदस्य बनाया जाता था।[2] कभी कभी उन्हें उच्च राजकीय पदों पर भी नियुक्त किया जाता था। चौलुक्य नरेश कुमारपाल ने सज्जन नामक कुम्हार को चित्तौड़ का प्रशासक नियुक्त किया था।[3] एक अभिलेख में उसे 'दण्डाधीश' कहा गया है।

कालान्तर में द्विजों की भांति शूद्रों में भी अनेक उपजातियों का विकास हुआ, यथा मेहर जाति जिसका उल्लेख चाहमान अभिलेखों में हुआ है। हमारे अध्ययनकाल से कुछ परवर्ती ग्रन्थ 'कान्हडदेप्रबन्ध' में अनेक वृत्तिक (पेशेवर) जातियों का उल्लेख हुआ है यथा बांड्, कहर, सुथार, मालो, कुम्महार, लौहार, शिलावट, तम्बोली, दर्जी, घांची, सुनार, भट्टियार और बगनीघड़ा।[4] इन जातियों की गणना सम्भवतः शूद्रों में ही की जाती थी। इन जातियों के आर्थिक क्रियाकलाप सामान्यतः स्थानीय संघों के माध्यम से, जिन्हें श्रेणी कहा जाता था, सम्पन्न होते थे।[5] कांमा से प्राप्त नवीं शती के एक अभिलेख में कुम्भकारों, शिल्पियों और मालियों की श्रेणियों का उल्लेख हुआ है।[6]

यद्यपि समकालीन अभिलेखों और ग्रन्थों में कुछ अन्य जातियों का उल्लेख भी मिलता है तथापि चातुर्वर्ण्य जाति व्यवस्था में इनकी स्थिति अनिश्चित है। इनमें से कुछ जातियों का विवरण अधोलिखित है—

---

1. मेधातिथि, 3, पृ. 156
2. वि.सं. 1250 के एक पाल अभिलेख में एक मेहर द्वारा स्थानीय मंदिर को दान देने का उल्लेख है। इसी स्थान के एक अन्य अभिलेख में मेहरों को स्थानीय सभा में स्थान दिये जाने की चर्चा है।
3. कुमारपालदेव चरित, पृ. 165; वि.सं. 1207 के कुमारपाल के चित्तौड़ अभिलेख में दण्डाधीश सज्जन द्वारा भगवान सिद्धेश्वर के लिए तेल का एक घाणक दान में दिये जाने का उल्लेख है। (इ. आई, 2, पृ. 422)
4. कान्हडदेप्रबन्ध, 2, श्लोक 87-92
5. मजूमदार, कारपोरेट लाइफ इन एन्श्येण्ट इण्डिया
6. इ. आई., 24, पृ. 329

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आभीर

'महाभारत' में आभीर दस्यु एवं म्लेच्छ कहे गए हैं, जिन्होंने पंचनद के युद्ध के उपरान्त अर्जुन पर आक्रमण करके वृष्णि-नारियों का अपहरण कर लिया था।[1] मनु के अनुसार आभीर ब्राह्मण पुरुष एवं अम्बष्ठ कन्या की सन्तान होते है।[2] दण्डी ने अपभ्रंश को आभीरों की भाषा कहा है।[3] कालान्तर में आभीर हिन्दू समाज में घुल मिल गए।[4] रूद्रभूति नामक एक आभीर सेनापति ने रुद्रदामा के पुत्र रुद्रसिंह के शासनकाल में एक कूप बनवाया था।[5] वि.सं. 918 के घटियाला अभिलेख में कहा गया है कि पहले रोहिंसकूप गांव (घटियाला) में विद्वान् अथवा सज्जन नहीं रहते थे क्योंकि यह आभीरों से त्रस्त था।[6]

कायस्थ

पूर्वमध्यकालीन अभिलेखों से 'कायस्थों' की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है। धर्मशास्त्रों और गुप्तकालीन अभिलेखों में कायस्थ लेखकों के रूप में उल्लिखित है।[7] हमारे अध्ययनकाल में लेखकों के रूप में कायस्थों का सर्वप्रथम उल्लेख कनुसुआ अभिलेख में हुआ है। इस प्रशस्ति की रचना णाभिकान्गज नामक कायस्थ ने की थी।[8] गो.ही. ओझा के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय इत्यादि जातियों के जो लोग लेखक या अहलकारी का काम करते थे वे कायस्थ कहलाये। कालान्तर में उनका विकास एक स्वतंत्र जाति के रूप में हुआ।[9] कायस्थ जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने बंगाल के कायस्थों को शूद्र माना है।[10] 'व्यास स्मृति' में कायस्थ नाइयों, कुम्हारों इत्यादि शूद्रों के साथ परिगणित हुए है।[11] इलाहाबाद

1. महाभारत, मौसलपर्व (7/46-63 एवं 8/16-17)
2. मनु 10.15
3. काव्यादर्श 1-36
4. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, 1, पृ. 126
5. इ. आई., 16, पृ. 235
6. वही, 9, पृ. 277 आजकल आभीर को अहीर कहा जाता है। द्र.जे. बी.बी.आर.ए.एस., 21, पृ. 430, 433
7. मिताक्षरा 1/335
8. आई. ए., 19, पृ. 57
9. ओझा, गो. ही., मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 48
10. काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 128 पर उद्धृत
11. व्यासस्मृति. 1/10-11

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तथा पटना उच्च न्यायालयों ने इसको 'द्विज' बताया है।[1] उशना ने कायस्थों की विचित्र उत्पत्ति बताई है। इस मत के अनुसार काक (कौआ) शब्द के 'का', 'यम' के 'य' एवं स्थपति के 'स्थ' अक्षरों से 'कायस्थ' शब्द बना है। 'काक' 'यम' एवं 'स्थपति' शब्द क्रम से लालच, क्रूरता एवं लूट के परिचायक हैं।[2] परन्तु 'भविष्यपुराण' और 'पद्मपुराण' में कायस्थों को क्षत्रियों की सन्तान कहा गया है।[3] वालम कायस्थ क्षत्रिय जाति के हैं जैसाकि सोढ्ढल रचित 'उदयनसुन्दरीकथा' से ज्ञात होता है।[4]

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेख लेखन का कार्य प्रमुखतः कायस्थों ने किया था। अल्लट के वि.सं. 1010 के अभिलेख का लेखक कायस्थ पाल वेल्लक था।[5] वि.सं 1051 के बालेरा दानपत्र को लिखने वाला कायस्थ कांचन था।[6] वि.सं. 1190 के इंगनौड़ा अभिलेख का लेखक कायस्थ कल्हण था।[7] वि.सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख का लेखक कायस्थ कैशव था।[8] कायस्थ कवियों का भी उल्लेख मिलता है। चाहमान दुर्लभराज के वि.सं. 1056 के किणसरिया अभिलेख में गौड़ कायस्थ कवि कल्या का उल्लेख है।[9] वि.सं. 1213 के नाडोल से प्राप्त प्रतापसिंह के ताम्रपत्र में गौड़ कायस्थ पण्डित महिपाल का उल्लेख हुआ है।[10] अनेक अभिलेखों में इन्हें 'ठाकुर' उपाधि से विभूषित किया गया है। नाडोल से प्राप्त वि.सं. 1198 के अभिलेख में ठाकुर पेथड़ का उल्लेख है।[11] नरहड से प्राप्त वि.सं. 1215 के एक अन्य अभिलेख में ठाकुर श्री श्रीचन्द्र का उल्लेख है।[12] नाणा से प्राप्त वि.सं. 1257 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि गौड़ कायस्थ उदयसिंह ने ब्राह्मणों की कपिल में

---

1. काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 128 पर उद्धृत
2. उशना, 35
3. सरकार, गोपालचन्द्र, ए ट्रिटाइज़ आन हिन्दू ला, पृ. 143 पर उद्धृत
4. द्र., 'उदयनसुन्दरीकथा' की भूमिका।
5. बी.आई., 2, पृ. 67-68
6. इ.आई., 10, पृ. 20
7. आई. ए., 6 पृ. 55-56
8. इ.आई., 26, पृ. 84
9. वही, 12 पृ. 59
10. आई. ए. 41, पृ. 203
11. इ. आई., 11, पृ. 39
12. अ. चौ. डा., पृ. 203

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

33 द्रम्म और 6 विंशोपक उसकी व्यवस्थार्थ दिये थे।[9] 'ठाकुर' उपाधि तथा दान से ऐसा आभास होता है कि समाज में अब इनकी स्थिति सम्मान-पूर्ण हो गयी थी। कायस्थ राज्यकार्य में भी भाग लेते थे। बालभ जाति का कायस्थ अथूर्णा के परमार राजा विजयराज का सान्धिविग्रहिक था।[2] उदयपुर में विक्टोरिया हाल से प्राप्त परमार अभिलेखों में रूद्रादित्य और उनके पौत्र महिपाल को 'कायस्थ कुंजर:'कहा गया है।[3]

कालान्तर में कायस्थों में भी उनके निवास स्थानों के आधार पर अनेक क्षेत्रीय उपजातियां बन गयी। उदाहरणार्थ, मथुरा के निवासी माथुर, गौड़ (बंगाल) के निवासी गौड़ कहलाये थे।

अन्त्यज

समाज का निम्नतम वर्ग अन्त्यज माना जाता था। मनु ने शूद्रों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया था। अत्रि ने निम्नलिखित सात अन्त्यजों का उल्लेख किया है–रजक (धोबी), चर्मकार, नट (बांस का काम करने वाला) कैवर्त (मछली मारने वाला), मेद और भिल्ल।[4] 'व्यासस्मृति' में चर्मकार भट, भिल्ल, रजक, पुष्कर, नट, विराट, मेद, चाण्डाल, दाश, श्वपच तथा कोलिक-इन 12 अन्त्यजों की सूची प्राप्त होती है।[5] अलबरूनी ने निम्न 12 अन्त्यजों का उल्लेख किया है—नट, बरूड, कैवर्त, जलोपजीवी, व्याघ, तन्तुवाय, रजक, चर्मकार, हाडी, डोम, चाण्डाल व बघातु।[6] इनमें से प्रथम पांच की सामाजिक स्थिति अपेक्षया ऊंची थी। इनमें परस्पर वैवाहिक संबंध होते थे। अन्तिम चार के साथ अन्य अन्त्यजों का सम्बन्ध नहीं होता था। इन्हें अपने अपने व्यवसायों के आधार पर पृथक जातियों के रूप में माना जाता था।

अन्त्यजों का सामाजिक स्थान उनके व्यवसाय तथा स्वतन्त्रता के आधार पर निश्चित होता था। मेद मेवाड़ के जंगली व पहाड़ी क्षेत्र में रहते थे।

---

1. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1907-8, पृ. 49
   वि. सं. 1306 के भीनमाल अभिलेख में माथुर कायस्थ परिवार के सदस्यों द्वारा 40 द्रम्म धार्मिक व्यवस्था हेतु जमा करवाये जाने का उल्लेख हुआ है (इ. आई., 11, पृ. 57)
2. वीरविनोद, 2, पृ. 1197-98
3. ए. एस. आई., 1936-37, पृ. 124
4. मनु, 199
5. व्यासस्मृति, 1, 12-12
6. अलबरूनी का भारत, 1, पृ. 101

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस क्षेत्र में इनका प्रभाव था। भील अन्त्यज भी अरावली के पर्वतीय क्षेत्र में रहते थे। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र में मीना जाति थी। ये लोग लूट खसोट से जीविकोपार्जन करते थे। बावरी जाति का उल्लेख जालौर के वि. सं. 1239 के एक अभिलेख[1] में हुआ है। दशरथ शर्मा का मत है कि सम्भवतः लक्ष्मण चाहमान को नाडोल राज्य की स्थापना में मीना, भील और बावरियों ने सहायता प्रदान की थी।[2]

'उपमितिभवप्रपंचकथा' में अन्त्यजों का यत्र तत्र उल्लेख है। मातंगों के घर बहुत गंदी बस्तियों में होते थे।[3] यहां पर भी संकेतित है कि सामाजिक जीवन में उच्चतम स्थिति 'महाराज' की थी और निम्नतम चाण्डालों की। यद्यपि अभिलेखों में उनके जीवन से सम्बन्धित विस्तृत सूचनाएं नहीं मिलती तथापि साहित्यिक ग्रंथों में इस पर प्रकाश डाला गया है।[4]

स्त्रियों का समाज में स्थान

यद्यपि स्त्रियों का समाज में सम्मानपूर्ण स्थान था तथापि पुत्री-जन्म को अच्छा नहीं माना जाता था। 'ज्ञानपंचमीकथा'[5] तथा 'उपमितिभवप्रपंच कथा'[6] के उल्लेखानुसार अधिक संख्या में पुत्रियों का होना नरकवत् था। साधारणतया लोग पुत्र प्राप्ति की इच्छा करते थे।[7] पुत्र जन्म पर उत्सव इत्यादि मनाये जाते थे और देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी।[8]

---

1. इ. आई., 11, पृ. 53-54
2. अ. चौ. डा., पृ. 139-40
3. उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ. 36
4. मनुस्मृति (10.51-56) में आया है कि चाण्डालों को गांव के बाहर रहना चाहिए। उनकी सम्पत्ति कुत्ते व गदहे हैं तथा शवों के कपड़े ही उनके परिधान हैं। उन्हें टूटे-फूटे बर्तनों में भोजन करना चाहिए। उन्हें लगातार घूमते रहना चाहिए। वे रात्रि में नगर या गांव के भीतर नहीं आ सकते। उन्हें बिना सम्बन्धियों वाले शवों को ढोना चाहिए। वे राजाज्ञा से जल्लाद का काम करते है। वे फांसी पाने वाले व्यक्तियों के परिधान, गहने एवं शैया ले सकते हैं। फाहियान(रिकार्ड्स् ऑफ बुद्धिस्ट किंग्डम्स, लैगे द्वारा अनूदित, पृ. 43) ने भी लिखा है कि जब वे नगर या बाजार में प्रवेश करते तो लकड़ी के डण्डे से ध्वनि उत्पन्न करने चलते थे जिससे अन्यजन उनके स्पर्श से बच सकें।
5. ज्ञानपंचमी, 1, 14, 72
6. उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ. 698
7. श्रृंगारमन्जरीकथा, पृ. 85
8. तिलकमन्जरी, पृ. 17-18

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नारी शिक्षा

उच्च परिवारों में उत्पन्न कन्याओं की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाता था। उनकी शिक्षा में संगीत, गायन, वादन, नृत्य और चित्रकला इत्यादि सम्मिलित थे। उनको धार्मिक व दार्शनिक विवादों में भाग लेने का अवसर भी प्राप्त होता था। परन्तु विरलतः। कवि राजशेखर की पत्नी चाहमान राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी विदुषी थी तथा उच्च कोटि की काव्य रचना करती थी।[1] चाहमान नरेश चन्दनराज की रानी रूद्राणी अथवा आत्मप्रभा एक 'योगिनी' के रूप में प्रसिद्ध थी।[2] राजशेखर ने अपने 'काव्यमीमांसा' में शीलाभट्टारिका नामक एक विदुषी का उल्लेख किया है। उसके द्वारा रचित कुछ श्लोक भी संस्कृत साहित्य में उल्लिखित मिलते हैं। अब, उसके नाम से स्पष्ट है कि वह कोई 'भट्टारिका' अर्थात् रानी थी और 'शारङ्गधर पद्धति' में उसे भोजराज से क्रीड़ा करते हुए चर्चित किया गया है। इसलिये हमें एस. एन. जोधावत[3] का यह मत स्वीकार्य लगता है कि शीलाभट्टारिका मिहिर-भोज प्रतिहार की कोई रानी रही होगी। (वह भोज परमार की पत्नी नहीं हो सकती क्योंकि भोज परमार के बहुत पहले राजशेखर उसका उल्लेख करता है।) परन्तु सामान्य परिवारों में स्त्रियां अशिक्षिता रहती थीं। कुछ ऐसी स्त्रियों के उदाहरण उपलब्ध हैं जो दर्शन, धर्म तथा साहित्य में रूचि रखती थी। योगेश्वरी नामक महिला उज्जैन के एक शैव आश्रम की प्रमुख थी।[4] परमार शासक उपेन्द्रराज के दरबार में सीता नामक कवियित्री रहती थी, जिसने उस नरेश की प्रशंसा में अनेक गीत लिखे थे।[5] परमार शासक उदयादित्य के झालरापाटन अभिलेख की लेखिका पण्डिता हर्षुका थी।[6]

विवाह के पूर्व कन्याएं अपने माता-पिता के संरक्षण में रहती थी।[7] परन्तु विवाहोपरान्त पति ही उनका स्वामी होता था। व्यवस्थाकारों ने सगोत्र और सपिण्ड विवाहों को वर्जित बताया है। वर परीक्षण में जाति, गोत्र, पिण्ड, प्रवर, शिक्षा, आयु, गुण, धन, जन्म स्थल इत्यादि प्रमुख

---

1. अ. चौ. डा., पृ. 255
2. पृथ्वीराजविजय, 5, पृ. 37-39
3. पी. आर. एच. सी., 7, पृ. 37-39
4. इ. आई., 11, पृ. 221-22
5. नवसाहसांकचरित, 11 वां, 76-78
6. जे. ए. एस. बी., 10, पृ. 242
7. भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज़, पृ. 284

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विचारणीय बिन्दु थे। विवाह में माता-पिता वधू को सम्पत्ति आभूषण इत्यादि उपहार में देते थे।[1]

ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जब राजपरिवारों के वैवाहिक सम्बन्ध राजाओं के पारस्परिक युद्धों के उपरान्त की गई सन्धियों का परिणाम होते थे।[2] यथा कुमारपाल चौलुक्य ने चाहमान राजा अर्णोराज को युद्ध में परास्त कर उसकी 18 वर्षीय राजकन्या से विवाह किया था।[3] इनके अतिरिक्त पारस्परिक सहयोग तथा परम्परागत द्वेष समाप्त करने के उद्देश्य से भी वैवाहिक सम्बन्ध किए जाते थे। उदाहरणार्थ परमार शासक उदयादित्य की पुत्री श्यामलदेवी का विवाह मेवाड़ के गुहिल शासक विजयसिंह से इसी उद्देश्य से किया गया था।[4] चाहमान द्वितीय गूवक ने कान्यकुब्ज सम्राट् (सम्भवत प्रथम भोज) से अपनी बहिन कलावती का विवाह कर प्रतिहार-चाहमान सम्बन्धों को दृढ़ता एवं आत्मीयता प्रदान की थी।[5] परमार शासक उदयादित्य ने चाहमान तृतीय विग्रहराज से राजमती अथवा राजदेवी नामक एक राजकुमारी का विवाह करके चाहमानों से मित्रता स्थापित की थी।[6]

मेधातिथि के अनुसार लड़की का विवाह आठ वर्ष की आयु में होना चाहिए।[7] अभिलेखों में विवाह योग्य वर्ष का विवरण उपलब्ध नहीं होता। सोमदेव ने पुत्री के विवाह की आयु 12 वर्ष बतायी है।[8] अर्णोराज की 18 वर्षीय पुत्री का विवाह कुमारपाल चौलुक्य से हुआ था।[9] 'तिलकमन्जरी' से ज्ञात होता है कि कभी-कभी बालिकाओं के उत्पन्न होने से पूर्व ही उनके विवाह निश्चित कर दिये जाते थे।[10]

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों में अन्तरजातीय अनुलोम विवाहों के कतिपय उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। बाउक के जोधपुर अभिलेख से ज्ञात

---

1. समराइच्चकहा, पृ. 93-101
2. समुद्रगुप्त ने 'दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहिशकमुरुण्डै' एवं सिंहल तथा अन्य द्वीपों के शासकों की कन्याओं को प्राप्त किया था।
3. अ. चौ. डा., पृ. 253
4. इ. आई., 2, पृ. 12
5. पृथ्वीराजविजय, 5, 30-32
6. इ. आई., 26, पृ. 80
7. मनुस्मृति, 11,4
8. भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, पृ. 286 पर उद्धृत
9. द्वयाश्रयमहाकाव्य, 19 श्लोक 21-25
10. तिलकमन्जरी, पृ. 52

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है कि ब्राह्मण राजा हरिचन्द्र ने भद्रा नामक क्षत्रिया कन्या से विवाह किया था।[1] शक्तिकुमार के आटपुर अभिलेख में अल्लट द्वारा हूण राजकुमारी हरियादेवी के साथ विवाह किए जाने का उल्लेख हैं।[2] नाडोल के शासक लक्ष्मण ने एक वैश्य कन्या से विवाह किया था।[3] इसी प्रकार ब्राह्मण मन्त्री कवि राजशेखर ने चाहमान कन्या अवन्ति सुन्दरी से विवाह किया था।[4]

'पृथ्वीराजरासो' के अनुसार जयचन्द्र गाहड़वाल ने अपनी पुत्री संयोगिता के लिए उचित वर प्राप्त करने के हेतु स्वयंवर आयोजित किया था।[5] नाडोल के राजा महेन्द्रपाल की बहिन दुर्लभादेवी ने स्वयंवर में दुर्लभराज चौलुक्य का वरण किया था।[6] परन्तु ऐसा आभास होता है कि यह प्रथा पूर्वगामी युग के समान अब भी अपवादरूपेण ही अपनाई जाती थी।

राजकीय अन्तःपुरों में रानियों का पर्याप्त महत्व और प्रभाव था। चाटसू प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गुहिल शासक बालादित्य ने अपनी रानी रट्टवा के निधनोपरान्त उसकी स्मृति में मुरारी (विष्णु) मन्दिर बनवाया था।[7] इसी प्रकार चाहमान अजयराज ने अपनी रानी सोमलादेवी के नाम के सिक्के जारी किये थे।[8] 'पृथ्वीराजविजय' से ज्ञात होता है कि तृतीय पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की अल्पायु में मृत्यु हो जाने पर कुछ समय के लिए पृथ्वीराज की माता कर्पूरदेवी ने संरक्षिका के रूप में शासन किया था।[9]

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि रानियां जनकल्याणकारी तथा धार्मिक कार्यों के लिए दान देने में रूचि लेती थीं। परमार शासक पूर्णपाल की विधवा बहिन लाहिनी ने सूर्य मंदिर का जीर्णोद्धार और वटपुर में एक बावड़ी का निर्माण करवाया था।[10] धारावर्ष की रानियों—श्रृंगारदेवी व गीगादेवी—ने एक बावड़ी बनवाकर शांतिनाथ के मन्दिर को भेंट की थी।[11] चाहमान शासक

---

1. इ. आई. 18, पृ. 95
2. आई. ए. 39, पृ. 191
3. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ. 102
4. अ. चौ. डा., पृ. 256
5. त्रिपाठी, आर. एस., हिस्टरी ऑफ कन्नौज, पृ. 325-26 पर उद्धृत
6. अ. चौ. डा., पृ. 288
7. इ. आई., 12, पृ. 13-17
8. पृथ्वीराजविजय, 5, श्लोक 87-89
9. वही, 9, 1. 34
10. इ. आई., 9, पृ. 12-15
11. ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 24

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चन्दनराज की रानी रूद्राणी ने तीर्थराज पुष्कर में 1000 दीपों के जलाए जाने की व्यवस्था की थी।[1] वि. सं. 1212 के भेड़ाघाट अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि गयकर्ण कलचुरि की रानी आल्हणदेवी ने एक शिव-मन्दिर का निर्माण करवाया था। वि. सं. 1221 के साण्डेराव अभिलेख[3] के अनुसार रानी आनलदेवी ने राजकीय भोग में से एक 'हल' भगवान महावीर के निमित अनुदान दिया था। वि. सं. 1225 के धौड अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि चाहमान द्वितीय पृथ्वीराज की रानी 'सुहवादेवी' ने एक शिव-मन्दिर के लिए प्रचुर दान दिया था। साण्डेराव से प्राप्त वि. सं. 1236 के एक अन्य अभिलेख से सूचित है कि जाल्हणदेवी ने अपना निवास स्थान ही पार्श्वनाथ के मन्दिर को भेंट कर दिया था।[5]

रानियों के अतिरिक्त उच्च परिवारों की महिलाएं भी धार्मिक अनुष्ठानों और अनुदानों में रूचि लेती थीं। अपराजित-प्रशस्ति के अनुसार गुहिल अपराजित सेनापति वराहसिंह की पत्नी यशोमती ने लक्ष्मी, यौवन और वित्त को क्षणिक मानकर संसाररूपी विषय समुद्र को तैर कर पार करने के लिए नाव रूपी कैटभरिपु (विष्णु) का मन्दिर बनवाया था।[6] बुचकला का शिव-मन्दिर प्रतिहार शासक द्वितीय नागभट के सामन्त की पत्नी जयावली ने बनवाया था।[7] किराडू के चाहमान महाराज पुत्र मदनब्रह्मदेव के सामन्त तेजपाल की भार्या ने तुरूष्कों के द्वारा शिवालय की तोड़े जाने पर उसकी पुर्न-प्रतिष्ठा करवाई थी।[8]

समाज और परिवार में 'माता' का अत्यधिक गौरवपूर्ण महत्व था।[9] पूर्वगामी युग के समान लोग अपने माता-पिता के धार्मिक कल्याण एवं पुण्यार्जन हेतु दान दिया करते थे। परमार शासक यशोवर्धन ने अपनी माता

---

1. पृथ्वीराजविजय, 5, 37-39
2. इ. आई., 2, पृ. 11-12
3. वही, 11, पृ. 46
4. वरदा, वर्ष 8, अङ्क 4, पृ. 1
5. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 229
6. इ. आई., 4, पृ. 31-32
7. वही, 9, पृ. 198-200
8. वही, 42, पृ. 442
9. मनुस्मृति (2/145) में लिखा है कि आचार्य उपाध्याय से और पिता आचार्य से दस गुना सम्मान्य होता है परन्तु पिता से भी माता हजार-गुनी सम्मानीया होती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सोमलादेवी की जयन्ती के अवसर पर भूमिदान किया था।[1] महाराज रायपाल के वि. सं. 1200 के नाडलाई अभिलेख में कहा गया है कि रथ यात्रा पर आए राउत राजदेव ने अपनी माता और धर्म के निमित्त एक विशोपक तथा दो पल्लिका तेल प्रदान किया था।[2]

सती-प्रथा

स्मृतियों में विधवाओं के लिए दो मार्ग निदेशित किए गए हैं।[3] पति की स्मृति में नियमानुसार पवित्र जीवन व्यतीत करना अथवा सती होना। पांचवीं शती के तृतीय पाद में नेपाल नरेश मानदेव की मां राज्यमती अपने पति की मृत्यु हो जाने पर सती होने लगी थी।[4] भानुगुप्त के एरण-अभिलेख में सती-प्रथा का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की पत्नी अपने पति के निधनोपरांत सती हो गई थी।[5] बाण ने 'हर्षचरित' के हर्ष की माता महारानी यशोमतीदेवी व अन्य रानियों के सती होने का विवरण दिया है। हर्ष की बहिन राज्यश्री भी अपनी इच्छा से सती होने के लिए तत्पर बताई गई है।[6] हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों में भी सती प्रथा के अनेक उदाहरण उपलब्ध है। वि. सं. 947 के घटियाला के देवली अभिलेख से ज्ञात होता है कि राणुक की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी संपल्लदेवी सती हो गई थी।[7] वि. सं. 1189 के बस्सी (नागोर) स्तम्भ अभिलेख से ज्ञात होता है कि चाहमान शासक अजयपाल की मृत्यु होने पर उसकी तीन रानियां सती हो गई थी।[8] जोधपुर से 11 कि. मी. दूरी पर स्थित पाल से लगभग 12 सती स्मारक अभिलेख प्राप्त हुए हैं।[9] जोधपुर के निकट मण्डोर से प्राप्त पंचकुण्ड-अभिलेख से ज्ञात होता है कि राठौड़ भूवणि के पुत्र सलखा की मृत्यु पर उसकी तीन रानियां सलखणदेवी चहुँवाणी, सावलदेवी

---

1. इ. आई., 19, पृ. 351-52
2. वही, 11, पृ. 42
3. विष्णुस्मृति 35/14, बृहस्पतिस्मृति 25/11
4. नोली, नेपालीज इन्स्क्रिप्शन्स इन गुप्त केरेक्टर्स, 1, पृ. 3
5. कार्पस, 3, सं. 20
6. हर्षचरित, 8, पृ. 248
7. इ. आई., 19, पृ. 8-9
8. वही, 37, पृ. 163
9. जे. पी. ए. एस. बी., 12, पृ. 106

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Digitized by eGangotri
CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोलंकिणी और सेजणदेवी गहलोतणी सती हुई थी।[1]

उपर्युक्त प्रमाणों से संकेतित है कि सती प्रथा मुख्य रूप से राजपूतों में प्रचलित थी। धर्मशास्त्रों का भी यह मत लगता है। आंगिरस के अनुसार ब्राह्मण-पत्नी का सती होना आत्मघात के समान है। इससे न तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और न उसके पति को।[2] परन्तु हमारे अध्ययनकाल में राजपूतों के अतिरिक्त वैश्यों में भी सती प्रथा का प्रचलन था। जोधपुर से लगभग 11 कि. मी. की दूरी पर स्थित पाल से प्राप्त वि. सं. 1244 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि धर्कट (वैश्य) जातीय और पोचस गोत्रीय समधर के पुत्र की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी सती हो गई थी।[3]

परन्तु विशेष परिस्थितियों में सती ने होने के भी उदाहरण मिलते हैं। हर्ष ने अपनी विधवा बहिन राज्यश्री को समझा बुझा कर सती होने से रोक दिया था। रानी कैलच्चदेवी के वि. सं. 1239 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि पृथ्वीदेव की मृत्यु पर इस रानी ने सती होने का निश्चय कर लिया था, परन्तु पुत्र, सचिवों और विद्वानों के समझाने-बुझाने पर उसने अन्ततः अपना निर्णय बदल दिया।[4] चाहमान शासक सोमेश्वर की मृत्यु के उपरान्त तृतीय पृथ्वीराज की माता कर्पूरदेवी अपने पुत्रों के हितार्थ जीवित रही।[5] चतुर्थ विग्रहराज की रानी भी किसी कारणवश सती नहीं हुई थी।[6]

सती न होने वाली विधवाएं पारिवारिक संरक्षण में रहती थी। परमार शासक पूर्णपाल के वसन्तगढ़ अभिलेख से ज्ञात है कि पूर्णपाल की विधवा

---

1. एडमिनि, वि.सं. 1932, पृ. 71 ; अन्वेषणा, 1, पृ. 45 सती प्रथा पर द्र.
   (i) धोलपुर अभिलेख, वि. सं. 898, जेड. डी. एम. जी, 40, पृ. 39
   (ii) उस्त्रा अभिलेख, वि. सं. 1237, पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1911-12, पृ. 53
   (iii) वि. सं. 1243 का पुष्कर अभिलेख, ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1919-20 पृ. 3
   (iv) वि. सं 1248 का उस्त्रा अभिलेख, ओझा, गो. ही., जोधपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ. 30
2. रा. ग्रू. ए., पृ. 457 पर उद्धृत
3. जे. पी. ए. एस. बी., 12, पृ. 106
4. सोमानी, रामवल्लभ, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज़ टाईम्स, पृ. 178
5. शर्मा, चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ. 56
6. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बहिन लाहिनी अपने भाई के संरक्षण में रह रही थी ।[1] वे विधवा रानियां, जो राजनीतिक कारणों से सती नहीं होती थीं, सत्ता का उपयोग करती हुई भी पाई जाती हैं । यथा तृतीय पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की अल्पायु में मृत्यु होने पर कुछ समय के लिये उसकी माता कर्पूरदेवी ने संरक्षिका के रुप में शासन किया था ।[2]

बहुपत्नीत्व

बहुपत्नी प्रथा प्राचीनकाल से ही राजपरिवारों, धनी वैश्यों तथा उच्च वर्णों में विशेषतः प्रचलित थी । हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि राजपरिवारों में बहुपत्नीत्व का प्रचलन था । सामन्त और धनाढ्य भी इस विषय में राजपरिवारों का अनुकरण करते थे । प्रतिहार बाउक के जोधपुर-अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि उसके वंश के आदिपुरुष हरिचन्द्र की ब्राह्मणी और क्षत्रियजातीया दो पत्नियां थीं । सती स्मारक अभिलेखों से इस स्थिति पर प्रकाश पड़ता है । मण्डोर के पंचकुण्ड अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि राठौड़ भुवणि के पुत्र सलखा के तीन पत्नियां-सलखणदेवी चहुँवाणी, सावलदेवी सोलंकिणी व सेजणदेवी गहलोतणी थीं । प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल ने एक साथ दो स्त्रियों से विवाह किया था ।[5] बाड़ले से प्राप्त वि.सं. 1234 के अभिलेख के अनुसार शहड़ की तीन पत्नियां थीं ।[6] बस्सी से प्राप्त वि. सं. 1189 के स्तम्भ अभिलेख में चाहमान अजयपाल की तीन रानियां-पट्टमहादेवी सोमल (देवी), सहत्तलदे (वी) और श्रीदेवी का नामोल्लेख हुआ हैं ।[7] इसी प्रकार उस्त्रा से प्राप्त एक अभिलेख[8] से ज्ञात होता है कि गुहिल राणा तिहुणपाल के तीन रानियां थीं । 'पृथ्वीराजविजय' के टीकाकार जोनराज ने अर्णोराज की दो रानियों का नामोल्लेख किया हैं । उनमें ज्येष्ठा सुधवा थी जो मरु भाग (मारवाड़) की राजकुमारी थी और दूसरी गुर्जरराज जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी थी ।[9] परमार राजवंश

---

1. इ. आई., 9, पृ. 12-15
2. पृथ्वीराजविजय, 9, 1. 34
3. इ. आई., 18, पृ. 95
4. अन्वेषणा, 1, पृ. 45
5. इ. आई., 14, पृ. 176
6. मरू भारती, 2, पृ. 2
7. इ. आई., 37, पृ. 163
8. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1911-12, पृ. 53
9. पृथ्वीराजविजय, 5, 29

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की आबू शाखा के शासक धारावर्ष के दो रानियां थीं—गीगादेवी और शृगांरदेवी ।[1] तृतीय पृथ्वीराज की भी अनेक रानियां थीं ।[2]

गणिकाएं और देवदासियां

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों में गणिकाओं और देवदासियों का उल्लेख मिलता है । प्राचीनकाल में साधारणतया उच्चकोटि की गणिकाएं शिक्षिता तथा कला और कामशास्त्र में निष्णात होती थीं ।[3] बसन्तगढ़-अभिलेख[4] में इनका उल्लेख आया है । इस अभिलेख में 'वटपुर' नगर पुराण पाठी ब्राह्मणों, गणिकाओं और सैनिकों से सुशोभित बताया गया है । महाराज जोजलदेव के सादड़ी और नाड़ोल अभिलेखों में देव यात्रा से सम्बन्धित आदेश में कहा गया है कि किसी देवता विशेष की यात्रा के दिन अन्य देवताओं की प्रमदाओं (गणिकाओं) को भी सुन्दर वस्त्रों एवं अलङ्कारों से सुसज्जिता होकर उपस्थित होना होगा ।[5] वि. सं. 1200 के नाणा मे प्राप्त ताम्रपत्र में विलासिनी और मेहरी नामक देवदासियों का उल्लेख हुआ है ।[6] वि. सं. 1306, 1334, 1345 के भीनमाल से प्राप्त अभिलेखों में जगत्स्वामी के सूर्य-मन्दिर के 'प्रमदाकुल' के लिए सज्जा सम्बन्धी प्रबन्ध की सूचना मिलती है ।[7] यद्यपि कुमारपाल चौलुक्य ने अनेक सामाजिक कुरीतियों को समाप्त किया था, तथापि देवदासी प्रथा को महत्वहीन समझते हुए उसने घोषित किया था कि इससे न कोई हानि है और न लाभ । अतः यह संस्था विद्यमान रहे या समाप्त कर दी जाय इससे कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है ।[8] हर्ष-नाथ अभिलेख[9] से ज्ञात होता है कि सामन्त अपने स्वामियों को सुन्दर गणि-काएं भेंट कर उन्हें प्रसन्न करते थे । गणिकाओं को समाज का अभिन्न अंग माना जाता था और धनी वर्ग तथा राजसभाओं में इनको सम्मान प्राप्त था ।[10]

---

1. भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज़, पृ. 178
2. अ. चौ. डा., पृ. 259
3. सोशल लाइफ इन इन्श्येण्ट इण्डिया, पृ. 199
4. इ. आई., 9, पृ. 12-15
5. वही, 9, पृ. 62 व 158
6. वही, 33, पृ. 240
7. बी. जी., 2, पृ. 469
8. महाराजपराजय, पृ. 83
9. इ. आई., 2, पृ. 121-22
10. नाट्यशास्त्र (अ. 17.37) में इन्हें विशेष शिक्षिता तथा सभ्य समझ कर नाटकों में इनके द्वारा संस्कृत भाषा प्रयुक्त किये जाने की अनुमति प्रदान की गई है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि उन्हें समाज और परिवारों से पृथक रखा जाता था। जिस गन्धर्वशाला में गणिका कन्याओं को शिक्षा दी जाती थी वहां सभ्य परिवार की कन्याएं नहीं पढ़ती थीं।[1]

व्रत

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों में एकादशी, श्रावण की महाचतुर्दशी, शिवरात्रि इत्यादि व्रतों का उल्लेख हुआ है।[2] अलबरूनी ने भी हिन्दू समाज में प्रचलित निम्नलिखित व्रतों का उल्लेख किया हैं:— (1) देवशयनी एकादशी व्रत, (2) आषाढ शुक्लपक्ष की अष्टमी का व्रत, (3) देवउठनी एकादशी व्रत, (4) पौष की षष्ठी को सूर्य का व्रत, (5) मार्ग शीर्ष में तीजको गौरी तृतीया का उत्सव।[3] 'कर्पूरमन्जरी' में 'गौरी तृतीया' व्रत का वर्णन किया गया है।[4]

उत्सव

विचाराधीनकाल में त्यौहार तथा उत्सव अत्यन्त उत्साह के साथ आयोजित किये जाते थे। भीनमाल के जगत्स्वामी के सूर्य मंदिर से प्राप्त अनेक अभिलेखों से इस विषय पर प्रकाश मिलता है। भीनमाल में आश्विन माह में आयोजित एक उत्सव में देवताओं की आराधनार्थ स्थायी व्यवस्था हेतु विभिन्न जातियों के लोगों द्वारा भेंट प्रदान की जाती थी।[5] महाराज जोजलदेव के सादड़ी तथा नाडोल अभिलेखों में लक्ष्मणस्वामिदेव की यात्रा के उत्सव का उल्लेख हुआ है।[6] जालौर के समरसिंह के अभिलेख[7] से ज्ञात होता है कि दीपोत्सव के दिन पूर्णदेवसूरि के शिष्य रामचन्द्राचार्य ने नवनिर्मित मण्डप में स्वर्णकलशारोपण किया। सूण्डामाता अभिलेभ[8] में 'अक्षय तृतीया' के त्यौहार का विवरण दिया गया है। जैन धर्मानुयायी भी विविध विशिष्ट अवसरों पर उत्सवों का आयोजन करते थे। यथा किसी की दीक्षा के समय, धर्म में उच्च स्थान प्राप्त करने पर, आचार्य पद ग्रहण करते समय, रथ यात्रा के समय,

---

1. कामसूत्र, पृ. 364
2. इ. आई., 11, पृ. 30 और 65 तथा द्र. कान्हडदेप्रबन्ध, 1, पृ. 159
3. अलबरूनी का भारत, 2. पृ. 175-184
4. रा. अ. ए., पृ. 469 पर उद्धृत
5. इ. आई., 12, पृ. 27
6. वही, 9, पृ. 62 व 158
7. वही, 11, पृ. 55
8. वही, 9, पृ. 74

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इत्यादि। ऐसे अवसरों पर नगरों एवं गांवों में उत्सव मनाये जाते थे। 'खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली' जैसे ग्रंथों तथा अनेक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ध्वजारोपण तथा प्रतिष्ठा के समय भी उत्सव मनाये जाते थे। महाराजाधिराज रायपाल के नाड़लाई-अभिलेख में रथ यात्रा उत्सव का उल्लेख है।[1] केल्हणदेव के लालराई अभिलेख[2] में शांतिनाथदेव की यात्रा-उत्सव का उल्लेख हुआ है। केल्हणदेव के साण्डेराव-अभिलेख[3] में कहा गया है कि केल्हणदेव की माता ने राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति में से श्रीषंडेरकीय मूलनायक श्रीमहावीरदेव के चैत्रवदि 13 को होने वाले कल्याणिक उत्सव के निमित्त एक युगघर्या हाएल प्रदान की। आबू के लुनावासी मंदिर की प्रतिष्ठापना के समय से वहां वार्षिक उत्सव आयोजित किये जाते थे।[4] यह उत्सव चैत्र के कृष्ण पक्ष की तृतीया को प्रारम्भ होता था और आठ दिनों तक चलता रहता था। उत्सव के मध्य स्नान पूजा समारोह सम्पन्न किये जाते थे।

अलबरूनी ने बसन्तोत्सव का वर्णन किया है।[5] पुत्र जन्मोत्सव भी मनाये जाते थे।[6] इनके अतिरिक्त राजाओं द्वारा नये प्रदेशों की विजय के उपलक्ष में उत्सवों का आयोजन किया जाता था। कई अभिलेखों से ज्ञात होता है कि भोज परमार ने कोंकणविजयपर्व और कोकंणग्रहण विजयपर्व मनाये थे।[7]

हमारे अध्ययनकाल में मेलों का आयोजन भी किया जाता था जिनमें विभिन्न नगरों और गांवों के लोग उत्साह से भाग लेते थे। अश्वक के बाली पाषण अभिलेख से ज्ञात होता है कि बाली में अश्वमेले का आयोजन किया गया था।[8]

तीर्थस्थल

प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज में तीर्थ यात्रा का महत्व था।[9]

---

1. वही, 11, पृ. 41
2. वही, 11, पृ. 50
3. वही, पृ. 47
4. वही, 8, पृ. 204
5. सचाउ, 2, पृ. 178-79
6. जन्मोत्सव का वर्णन तिलकमन्जरी (पृ. 63-64) में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है।
7. इ. आई., 18, पृ. 320-25 तथा इ. आई., 11, पृ. 181
8. वही, 11, पृ. 33
9. मौर्य शासक अशोक ने अपने अभिलेखों में उन्हें 'धर्मयात्राएं' कहा है। शिलाअभिलेख आठ (इ. आई., 2, पृ. 456) से ज्ञात होता है कि उसने बोधगया की यात्रा की थी तथा रुम्मनदेई स्तम्भअभिलेख (इ. आई.,2, पृ. 1) से पता चलता है कि उसने लुम्बिनी की यात्रा की थी। इस यात्रा के दौरान उसने लुम्बिनी निवासियों के लिए भाग (भूमि कर) को घटा कर उपज का आठवां भाग कर दिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीनतर युग में नाहपान के जमाता ऋषभदत्त ने पुष्कर की तीर्थ यात्रा के अवसर पर तीन सहस्र गाएं और एक गांव का दान दिया था।[1] हमारे अध्ययनकाल में ब्राह्मण धर्मानुयायियों के पुष्कर, बिजोलिया, मिनाल, रिवासा, घोटार्सी और हर्षनाथ इत्यादि प्रमुख तीर्थ स्थल थे। वि. सं. 1030 के हर्ष अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि चाहमान नरेश सिंहराज ने पुष्कर में स्नान करके चार गांव दान दिये थे। मिनाल शैव धर्मावलम्बियों का प्रमुख केन्द्र था और महानाल नामक मंदिर के लिए प्रसिद्ध था। वि. सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख[3] में भी इसका उल्लेख एक तीर्थस्थल के रूप में हुआ है। रिवासा वहां पर स्थित जिणमाता नामक मंदिर के कारण विख्यात था, घोटार्सी इन्द्रराजादित्यदेव वटयक्षणीदेवी तथा सकरायमाता मन्दिर के कारण तीर्थ स्थल माने जाते थे। हर्षनाथ शैव धर्म के लकुलीश सम्प्रदाय के अनुगामियों का तीर्थ स्थल था। बिजोलिया भी शैवों का एक प्रमुख केन्द्र था। यहां लोग विभिन्न स्थानों से महाकाल के मन्दिर के दर्शन करने तथा मन्दाकिनी कुण्ड में स्नान करने के लिये आते थे। यह तीर्थ स्थल प्रमुखतया माथुर एवं नैगम कायस्थों से सम्बन्धित था। अभिलेखों में यहां आने वाले तीर्थयात्रियों में माथुर कायस्थों का विशेष उल्लेख हुआ है।[4] इनके अतिरिक्त सौराष्ट्र के सोमनाथ को भी राजस्थान में बड़ा महत्व दिया जाता था। चाहमान शासक प्रथम पृथ्वीराज ने सोमनाथ के तीर्थयात्रियों को भोजन की सुविधा के लिये मार्ग में अन्नसत्र स्थापित किये थे।[5] 'ललितविग्रहराज' नाटक[6] सोमनाथ का उल्लेख एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल के रूप में करता है।

'विविधतीर्थकल्प' के अनुसार अचलेश्वर अबुर्दाचल, कुण्डुगेश्वर, अभिनन्दादेवी और उज्जयिनी इत्यादि जैन तीर्थ स्थल थे।[7] अभिलेखों के उल्लेखानुसार ओसियां, नाणां, नरभट्ट इत्यादि भी जैन धर्म से सम्बन्धित प्रमुख तीर्थ स्थल थे। यहां पर जैन मंदिर एवं जैन गच्छ थे। यहां राजस्थान के विभिन्न भागों से भारी संख्या में लोग आते थे। 'खरतरगच्छ बृहद्गुवर्गविली' से ज्ञात होता है कि 1086 ई. से सपादलक्ष का एक जैन संघ जिनपति सूरि की

---

1. इ. आई., 8, पृ. 79
2. वही, 2, पृ. 118-19
3. वही, 26, पृ. 90-100
4. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1905-06, सं. 2145 व 2150
5. चाहमान प्रशस्ति, पंक्ति 7; पृथ्वीराजविजय, श्लोक 120
6. आई. ए., 20, पृ. 210
7. विविधतीर्थकल्प, पृ. 11, 15, 57, 79, 81 और 88

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्यक्षता में शत्रुञ्जयादि तीर्थों की यात्रा के लिये अजमेर से आशापल्ली (असावल) पहुंचा था।[1]

आमोद-प्रमोद-मनोरंजन

यद्यपि अभिलेखों में मनोविनोद और मनोरंजन सम्बन्धी चर्चा बहुत कम हुई है तथापि न्यूनाधिक उल्लेखों द्वारा लोगों के मनोविनोद विषयक विवरण उपलब्ध होते हैं। प्राचीन नरेश विहार यात्राएं किया करते थे।[2] गुप्त शासकों की मुद्राओं पर उन्हें चीते, शेर, हाथी, गैंडे इत्यादि पशुओं का आखेट करते हुए प्रदर्शित किया गया है।[3] इनके अतिरिक्त मेले, उत्सव इत्यादि मनोविनोद के साधन थे। हमारे अध्ययनकाल में गायन, वादन, नृत्य, नाट्य आदि प्रचलित मनोरंजन थे। नाटकों का आयोजन नाट्यशालाओं में किया जाता था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तथा जैन मन्दिरों में नाटक अभिनय की व्यवस्था होती थी। चौलुक्य-नरेश कुमारपाल द्वारा वि. सं. 1221 में निर्मित जावालिपुर के कुवरविहार जैन मन्दिर में वि. सं. 1268 में दीपोत्सव सम्पन्न हुआ था। इस अवसर पर स्वर्णकलश स्थापना और पूर्णदेवसूरि के शिष्य रामचन्द्राचार्य द्वारा पार्श्वनाथ मन्दिर में नाटक के अभिनय का आयोजन भी किया था।[4] सारणेश्वर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि मन्दिर के निर्वाह के लिए जुआरी से एक पेटक (एक दाव की जीत का भाग) लिये जाने की व्यवस्था की गई थी।[5]

खान पान

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों में खाद्य पदार्थों के नामों का प्रायः अभाव सा है। अभिलेखों में आटा, चावल को घी में पकाये जाने का उल्लेख है।[6] नैवेद्य तैयार करने के लिए दो सेर आटे में आठ कलश घी की आव-

---

1. शर्मा, पृथ्वीराज तृतीय और उनका काल, पृ. 24
   दिगम्बर जैनों के दो प्रकार के तीर्थस्थल थे। एक सीद्क क्षेत्र, जहां जैनतीर्थंकरों और मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया था दूसरे, अतिसयक क्षेत्र जो अपनी मूर्तियों के वैशिष्ट्य के कारण तीर्थ स्थल हो गये थे। (जे. एस. आई., पृ. 422)।
2. इ. आई., 2, पृ. 456
3. अल्तेकर, द क्वायनेज ऑफ गुप्त एम्पायर, पृ. 69, 105, 185, 190, 282
4. इ. आई. 11, पृ. 55
5. बी. आई., 2, पृ. 67-68
6. इ. आई., 11, पृ. 57

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्यकता पड़ती थी।[1] द्वितीय भीमदेव के आबू अभिलेख[2] में हींग, जायफल, जावित्री, मेथी, आंवला, हरड, खाण्ड, गुड़, कालीमिर्च, बहेड़ा, महुआ, नारियल और दालों के प्रयोग का वर्णन मिलता है। रायपाल के नाडलाई पाषाण अभिलेख में किराडउआ (किराना) शब्द का उल्लेख हुआ है।[3] हस्तिकुण्डी अभिलेख[4] में गेहूँ, जौ, नमक एवं केसर के भार पर कर लगाने का वर्णन है। अथूर्णा अभिलेख[5] में गुड़, मंजिष्ट, नारियल, सुपारी, तेल, जव इत्यादि के व्यापार की मण्डियों का विवरण प्राप्त होता है। ओसियां के सच्चिका माता मन्दिर की प्रशस्ति[6] में भोजक को पारिश्रमिक रूप में कोष्ठागार से प्रति दिन दो अंजली मूंग देने की व्यवस्था का उल्लेख है।

शाकाहारी जन दूध और दूध-निर्मित वस्तुओं का प्रयोग करते थे, मांस का नहीं। सारणेश्वर प्रशस्ति[7] से ज्ञात होता है कि सारणेश्वर में हलवाइयों की दुकानें थीं जिनसे मन्दिर को एक घड़िया दूध देने को कहा गया था। परन्तु इस युग के अनेक जन मांसाहारी भी थे। आल्हणदेव के किराडू अभिलेख[8] से ज्ञात होता है कि आल्हण ने पुण्य व यश की वृद्धि हेतु शिवरात्रि पर पशुवध-निषेध की आज्ञा प्रसारित की थी। इस आज्ञानुसार माह के दोनों पक्षों की अष्टमी, एकादशी व चतुर्दशी को पशुवध वर्जित कर दिया गया था। इस आज्ञा उल्लंघन को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। पुरोहितों को भी इस आज्ञा के पालन का आदेश दिया गया। इससे संकेतित है कि अनेक सामान्य जन एवं पुरोहित मांसाहारी थे। यद्यपि जैन धर्म के प्रभाव से सामिष भोजन की प्रथा धीरे-धीरे कम होती जा रही थी तथापि इसकी लोकप्रियता एक दम समाप्त नहीं हो गई थी। अलबरूनी ने सूचित किया है कि ब्राह्मण को गेंड़े का मांस खाने का विशेष अधिकार था।[9] 'समराइच्चकहा' में चण्डिका की पूजा में भैंसे की बलि देकर उसका मांस प्रसादरूपेण ब्राह्मणों द्वारा खाये जाने का वर्णन है।[10]

---

1. वही, 20, पृ. 57
2. एच. आई. जी, 2, सं. 170
3. इ. आई., 11, पृ. 43
4. बी. आई., 3, पृ. 68-69; इ. आई., 10, पृ. 17-20
5. इ. आई., 14, पृ. 207
6. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 198
7. बी. आई., 2, पृ. 67-68
8. इ. आई., 11, पृ. 44
9. अलबरूनी का भारत, पृ. 153
10. रा. अ. ए., पृ. 467 पर उद्धृत

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ताम्बूल खाने का भी प्रचलन था। लोगों के दांत चूने और सुपारी आदि के साथ पान चबाने के कारण लाल रहते थे।[1] हस्तिकुण्डी अभिलेख[2] में मन्दिर के निर्वाह के लिये ताम्बूल विक्रेताओं से एक 'कर्ष' वसूल किये जाने का उल्लेख है। 'तिलकमन्जरी' से ज्ञात होता है कि स्त्रियां और पुरुष पान में कर्पूर मिलाकर खाते थे।[3]

बाउक की जोधपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी में क्षत्रिय सुरापान करते थे। घटियाला अभिलेख[4] के अनुसार गुर्जर प्रतिहार शासक हरिचन्द्र की क्षत्रिय वंशीया रानी की संतति मधुपायी (मद्यपान करने वाले) अर्थात् क्षत्रिय कहलाये। अलबरूनी ने भी लिखा है कि क्षत्रिय वर्ग के लोग मद्यपान करते थे।

---

1. अलबरूनी का भारत, पृ. 138
2. बी., आई., 3, पृ. 68-69
3. इ. आई., 18, पृ. 95
4. जे. आर. ए. एस., 1895, पृ. 516

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आर्थिक अवस्था

अरावली पर्वतमाला से विभाजित राजस्थान दो मुख्य खण्डों में विभाजित प्रतीत होता है-पूर्वी और पश्चिमी। जलवायु की दृष्टि से पूर्वी भाग पर्याप्त वर्षा होने के कारण हरीतिमा अच्छादित और कृषि योग्य है। यह भू-भाग जंगलों, वनस्पतियों तथा प्राकृतिक संम्पदा से सम्पन्न है। इसीलिए यह कृषि तथा वाणिज्य दोनों दृष्टि से साधन युक्त और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है। पश्चिमी भाग के अन्तर्गत, जो पंजाब से गुजरात तक फैला हुआ है पूर्वकालिक जोधपुर, जैसलमेर और बीकानेर राज्यों के अधिकांश क्षेत्र सम्मिलित है। वर्षा के अभाव से यह प्रायः रेतीला और सूखा रहता है। इसका बहुत बड़ा भाग थार रेगिस्तान के नाम से जाना जाता है। यहां की जनसंख्या कम है, पानी की सुविधा के अनुसार बस्तियें बसी हुई हैं और यह आर्थिक रूप से पिछड़ा तथा अविकसित है। प्राचीनकाल में भी यहां लगभग यही स्थिति थी।

हमारे अध्ययनकाल के आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालने वाले अभिलेखों से, जो प्रायः दान शासन हैं, राजस्थान के कृषि वाणिज्य इत्यादि की रूपरेखा स्थिर करने में सहायता मिलती है। दान शासनों से यह प्रतीत होता है कि इस प्रदेश का मुख्य आर्थिक आधार कृषि कर्म तथा तत्सम्बन्धी उद्योग थे। इसलिये हम सर्वप्रथम कृषि कर्म और भूमि व्यवस्था आदि पर विचार करेंगे।

भू-स्वामित्व

प्राचीन एवं पूर्वमध्यकालीन भारत में भू-स्वामित्व का क्या रूप था इसके विषय में आर्थिक इतिहासकारों में मतभेद है। ब्युलर, हाप्किन्स, मैकडोनल, कीथ और स्मिथ जैसे इतिहासवेत्ताओं ने स्मृतियों व धर्मशास्त्रों के आधार पर मत प्रकट किया है कि प्राचीन भारत में कृषि भूमि राजा की सम्पत्ति मानी जाती थी।[1] इनके विपरीत पी. एन. बनर्जी और काशीप्रसाद जायसवाल[2] ने भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यू. एन. घोषाल ने जायसवाल के विचारों से असहमति प्रकट की है।[3] अल्तेकर,

---

1. सन्दर्भो के लिये द्र. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973, पृ. 139
2. बनर्जी, पी.एन., पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 179; जायसवाल, का. प्र., हिन्दू पॉलिटी, (द्वितीय संस्करण) पृ. 343-51
3. द बिगिनिंग ऑफ इण्डियन हिस्टोरियोग्रेफी एण्ड अदर ऐसेज, निबन्ध 6, पृ. 158-66

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एस. आर. शर्मा, आर. सी. पी. सिंह, एस. के. मैती, एल. गोपाल प्रभृति विद्वानों ने भी इस विषय पर प्रकाश डाला है।[1]

प्रारम्भिक वैदिक युग में आर्य जाति जनों में विभाजित थी। उसका 'मध्यदेश' की ओर शनैः शनैः प्रसार हुआ। साधारणतया इस युग में सामूहिक 'भू-स्वामित्व' की प्रथा रही होगी। जैमिनी[2] के 'मीमांसा सूत्र' के अनुसार भूमि पर सबका अधिकार होता है। इस कथन का अभिप्राय सार्वजनिक अधिकार से लगाया जा सकता है। इसकी व्याख्या करते हुए शबर स्वामी[3] (चौथी शताब्दी ई.) ने मत व्यक्त किया है कि भूमि पर दूसरों का भी उतना ही अधिकार होता है जितना राजा का। 'वृहस्पति-स्मृति' के अनुसार राजा से अपेक्षित है कि वह भूमिदान करते समय चारों वेदों के ज्ञाताओं, व्यापारियों, महतरों, समस्त ग्रामवासियों, राज्याधिकारियों इत्यादि को सूचित करे।[4] राजस्थान के अभिलेखों में उक्त तथ्य के प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ अमृतपालदेव के एक तामपत्र (वि.सं. 1242) में पुरोहित पाल्हा, ज्योतिषी यशदेव, पंचकुल महिदिग, सेठ साहूकारों, ग्राम निवासियों, अमात्यों इत्यादि को भूमि दान की सूचना का उल्लेख हुआ है।[5] बांसवाड़ा से प्राप्त भोजदेव के दानपत्र (वि. सं. 1076) में भी राजकीय अधिकारियों, ब्राह्मणों तथा ग्रामनिवासियों को सूचित किया गया है कि वटपद्रक ग्राम की 100 निवर्तन भूमि भाइल ब्राह्मण को दानस्वरूप प्रदान की गई है।[6] इससे कम से कम यह निष्कर्ष तो अवश्य निकाला जा सकता है कि राज्य ग्राम भूमि में सभी के हित को निहित मानता था।

राजस्थान में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध दान-शासनों का सम्बन्ध मन्दिरों और ब्राह्मणों को प्रदान की गई भूमि से है। ब्राह्मण और मन्दिर भूमि का

---

1. अल्तेकर, ए.एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. 198-203; सिंह, आर. सी. पी., किंगशिप इन नार्दर्न इण्डिया, पृ. 339-40; मैती, एस. के., इकनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया इन गुप्त पीरियड, पृ. 11-23, गोपाल लल्लनजी, द इकनॉमिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ. 1-31
2. 6/7/3
3. मीमांसा दर्शन 6/7/3
4. रामशरण शर्मा द्वारा उद्धृत, पृ. 143
5. ओझा निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 196
6. इ. आई., 11, पृ. 181

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपभोग समुदाय के नाम पर करते थे। मन्दिरों में चढ़ाया हुआ प्रसाद सभी भक्तजनों में वितरित किया जाता था। ग्वालियर से प्राप्त सातवीं शताब्दी के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उक्त नगर ने एक मन्दिर को ऐसी भूमि दान में दी थी जिस पर सभी नगरवासियों का अधिकार था।[1] इसी प्रकार का संकेत सियोडनी अभिलेख से भी मिलता है।[2] गोचर भूमि तथा जलाशयों पर सामुदायिक अधिकारों का स्पष्ट संकेत प्राचीन धर्मशास्त्रों में मिलता है।[3]

ऐतिहासिक काल में, जब से सामाजिक जीवन में वैयक्तिक भावना को प्रधानता दी जाने लगी तब से ही, राजा के भूमि-स्वामित्व के सिद्धान्त के साथ व्यक्तिगत स्वामित्व का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया जाने लगा। 'पूर्व मीमांसा' से ज्ञात होता है कि राजा यज्ञ के पश्चात् भूमि के अतिरिक्त सभी वस्तुओं का दान कर सकता था।[4] इस प्रकार व्यवस्थाकारों में भूमि पर राजा के सार्वभौम अधिकार को परिसीमित करने की अवधारणा लोकप्रिय हो रही थी। परवर्ती व्यवस्थाकारों ने वैयक्तिक सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। ध्यातव्य है कि इसके साथ ही परम्परा और लोक मत की प्रतिष्ठा भी बनी रही और राज्य (राजा) के भूमि-स्वामित्व सिद्धान्त का भी परित्याग नहीं कर दिया गया। कौटिल्य ने राजकीय भूमि और प्रजा जनों की व्यक्तिगत भूमि में स्पष्टतः अन्तर किया है।[5] नारद की व्यवस्थानुसार राजा को व्यक्तियों के गृह एवं खेत के ऊपर स्वामित्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये अन्यथा समाज में अव्यवस्था फैल सकती है।[6] किन्तु मेधातिथि[7] प्रभृति राजा को ही भूमि का स्वामी मानते हैं। परन्तु इससे उनका आशय राजा की भूमि पर सामान्य प्रभुसत्ता से है भू-स्वामित्व से नहीं। साधारणतया खेत उस कृषि कर्मी कृषक की सम्पत्ति माना जाता था जो उसमें उत्पादन करता था। राजा सम्पूर्ण राज्य का रक्षक है और इसीलिए वह सम्पूर्ण राज्यान्तर्गत भूमि की रक्षा करता है। इस दायित्व के बदले में उसे कर लगाने का अधिकार माना

---

1. वही, 1, पृ. 154
2. वही, 1, पृ. 162-179 यद्यपि ये अभिलेख राजस्थान की सीमा के बाहर है फिर भी उस समय की प्रवृत्ति के द्योतक माने जा सकते हैं।
3. धर्मकोश, 1, पृ. 1204, 1206 और 1209
4. पूर्वमीमांसा, 6/7/3
5. अर्थशास्त्र 2/23
6. नारदस्मृति, 9/42
7. मनुस्मृति, 8/39 पर मेधातिथि की टीका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गया है। परन्तु इस अधिकार से राजा का कृषि भूमि पर स्वामित्व सिद्ध नहीं होता। राजा किसी किसान की भूमि केवल कर न देने की स्थिति में ही छीन सकता था। प्रजा को अपनी भूमि बेचने, दान देने तथा बन्धक के रुप में रखने का अधिकार था। बौद्ध ग्रथों में आम्रपाली और अनाथपिण्डक द्वारा बौद्ध संघ को भूमि दान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।[1] हमारे अध्ययनकाल के वि. सं. 1221 के साण्डेराव से प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुछ रथकारों ने एक 'हल' भूमि दान दी थी।[2] रोपी से प्राप्त वि. सं. 1059 के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि चन्द्रग्रहण के अवसर पर महाराजाधिराज देवराज ने आऊरकाचार्य को एक क्षेत्र दान में दिया था। इस क्षेत्र की सीमाओं पर वामन, पूर्णचन्द्र, श्रीधर आदि व्यक्तियों के खेत स्थित थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनका भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था।[3] लेख में भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को 'सत्क' (स्वत्व) कहा है।[4] दुर्लभराज चौलुक्य के शासनकाल के वि. सं. 1069 के जोधपुर ताम्रपत्र की सूचनानुसार तन्त्रपाल क्षेमराज ने भीनमाल मण्डल में स्थित क्षत्रियपद्र ग्राम ब्राह्मण नाणक को दान में दिया था। यह क्षेत्र क्षेमराज की 'स्वभूमि' के अन्तर्गत था। इससे संकेतित है कि क्षेमराज का उक्त ग्राम और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व था।[5] वि. सं. 982 और 994 के पुष्कर अभिलेखों के अनुसार भट्ट के पुत्र मल्हण ने एक खेत (खात क्षेत्र) खरीद कर विष्णु मन्दिर के निमित्त दान दिया था। इस दान की पुष्टि राजा दुर्गराज द्वारा की गयी थी।[6] कुछ इसी प्रकार का विवरण वि. सं. 1013 के सिंहराज के थांवला अभिलेख में भी प्राप्त होता है।[7] इस अभिलेख में राजा दुर्गराज और अन्य 10 व्यक्तियों ने मन्दिर के निमित्त भूमि दान स्वरूप दी थी जिसकी सम्पुष्टि भी दुर्गराज द्वारा की गई थी।

विचाराधीनकाल में ऐसे अनेक अभिलेख उपलब्ध है जिनमें राजा द्वारा ब्राह्मणों अथवा देवालयों को सम्पूर्ण ग्रामदान में दिये जाने का उल्लेख है। परन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि कृषि योग्य भूमि पर राज्य का

---

1. एनुअल रिपोर्ट ऑफ सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी, 1935, पृ. 6
2. इ. आई., 11, पृ. 47
3. वही, 22, पृ. 196-98
4. वही।
5. वही, 36, पृ. 95
6. इ. आई, 35, पृ. 241-42
7. वही, पृ. 244-45

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh

स्वामित्व था। दानपत्रों में किसानों को अपनी भूमि छोड़ने के आदेश नहीं दिये गये थे। उनसे केवल यह अपेक्षित था कि वे राज्य के स्थान पर दान पाने वालों को कृषि कर आदि तथा यथोचित सम्मान देंगे। कांमा(भरतपुर) अभिलेख में उन्तट का एक गांव पर अधिकार होना निर्देशित है।[1] इन उदाहरणों से वैयक्तिक भू-स्वामित्व अवधारणा की समुचित सम्पुष्टि होती है।

परन्तु इसके बावजूद भारतीय नरेशों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति ने भूमि पर उनके स्वत्व को निरन्तर सुदृढ़ किया। आपस्तम्ब की व्यवस्थानुसार भूगर्भ से प्राप्त सम्पति पर राजा का अधिकार होता है न कि खनक का।[2] कौटिल्य भी राजा के भूमि-स्वामित्व के पक्ष में है।[3] राज्य की ओर से व्यक्ति को कृषि के लिए भूमि प्रदान की जाती थी। भली भांति कृषि न हो पाने की स्थिति में उस व्यक्ति से भूमि ले ली जाती थी। 'अर्थशास्त्र' के कथन पर टीका करते हुए भट्टस्वामी ने मत व्यक्त किया है कि राजा भूमि और जल दोनों का स्वामी है।[4] मनु ने भूमि पर राजा के अधिकार को ही मान्यता दी है।[5] 'मानसोल्लास' के लेखक सोमेश्वर (12 वीं शताब्दी) ने भी इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है।[6] 'मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने भी राजा के भू-स्वामित्व को स्वीकार किया है।[7] समय समय पर राजा द्वारा भूमि पर राजस्व लगाया जाना उसके भूमि पर सैद्धांतिक स्वामित्व का प्रमाण है। राजा को भूमि की उपज का कुछ भाग प्राप्त करने का अधिकार था। सम्पूर्ण राज्य का प्रभु (स्वामी) होने के कारण वह अन्न, फल, फूल, वृक्ष, जल निधि इत्यादि लेने का अधिकारी था। इनके उत्पादकों से वह अपना भाग प्राप्त करता था। विचाराधीनकाल के अभिलेखों में राजाओं द्वारा खेत, भूमिखण्ड तथा ग्राम ब्राह्मणों, मन्दिरों, पदाधिकारियों, सामन्तों इत्यादि को प्रदान किये जाने के प्रमाण मिलते हैं जो उसके भू-स्वामित्व के द्योतक हैं। वि. सं.900 के प्रतिहार भोजदेव के दौलतपुरा ताम्र अभिलेख से विदित होता है कि वत्सराज ने भट्टहर्षुक के पितामह वासुदेव को 'सिव' ग्राम का

---

1. इ. आई. 24, पृ. 329
2. 2/11/28,1/6/8
3. अर्थशास्त्र, 2/24
4. वही 2/24 भट्टस्वामी का भाष्य
5. मनुस्मृति, 8/39
6. मानसोल्लास 1/361-62
7. मनु, 8/39 पर मेधातिथि की टीका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छठा भाग भट्टविष्णु को दान में दिया था। इस दान की अनुमति नागभट ने प्रदान की थी। भोजदेव के शासनकाल में यह ग्राम राजकीय अधिकारान्तर्गत था। अतएव भट्टहर्षुक ने इसकी पुनःप्राप्ति के लिए भोजदेव से प्रार्थना की। भोजदेव ने सम्पूर्ण विषय की जांच कराने के पश्चात अपने माता-पिता के पुण्य व यश की वृद्धि के लिए भट्टवासुदेव तथा भट्टविष्णु के वशंजों को उक्त ग्राम दान दिये जाने के हेतु समुचित आदेश दिये थे। इसकी सूचना ग्रामवासियों तथा सभी पड़ोसियों को दी गयी थी और उन्हे आदेश दिया गया था कि वे 'सिव' ग्राम का राजस्व दान पाने वालों को दें।[1] वि.सं. 1003 के प्रतापगढ़ अभिलेख[2] से ज्ञात होता है कि कन्नोजाधिपति महेन्द्रपाल ने धनशूर की प्रार्थना पर खरपरद्रक नामक ग्राम के सभी राजकीय अधिकारों सहित यक्षिणीदेवी के मन्दिर के निमित्त अर्पित किया था। इसकी सूचना ग्राम तथा आसपास के निवासियों को दी गई थी। इसी अभिलेख की सूचनानुसार सामन्त इन्द्रराज की प्रार्थना पर महासामन्त दण्डनायक माधव ने धारापद्रक ग्राम साज सामान और अनुषंगी पदार्थों सहित महाकाली के उज्जैन नगरी स्थित मन्दिर को दान स्वरूप प्रदान किया था। इसकी सूचना सम्बन्धित ग्रामवासियों को दी गई थी।[3] वि.सं. 999 में गुहिल शासक खुमाण के पुत्र भृर्तपट्ट ने पल्लासकूपिका ग्राम के निकट नन्दया नदी के किनारे एक 'बब्बूलिका' खेत अपने तथा अपने पूर्वजों के पुण्य एवं यश की वृद्धि हेतु इन्द्रादित्यदेव को प्रदान किया था।[4] वि. सं. 1016 के राजौर अभिलेख[5] से ज्ञात होता है कि मथनदेव ने व्याग्रपाटक ग्राम को लच्छुकेश्वर महादेव के मन्दिर के निर्वाह के लिए इस मन्दिर की स्थापना के समय दान में दिया था उसी समय ग्राम के साथ जुड़ी हुई गोचर भूमि, घास, वृक्ष इत्यादि पर भी मन्दिर के अधिकार की घोषणा की गई थी। ग्राम सम्बन्धी सभी प्रकार की आय-उद्रङ्ग, भोग, खलभिक्षक, प्रस्थक, स्कन्धक, मरगणक दण्ड इत्यादि से प्राप्त आय-मन्दिर के ताल के घोषित की गई थी। इसके अतिरिक्त इसमें पड़ौस के गुर्जरों द्वारा जोते गये खेत सम्मिलित किये गये थे। ग्राम में चुंगी और बिक्री कर से प्राप्त आय भी मन्दिर को प्रदान की गयी थी।

वि. सं. 1030 के हर्ष अभिलेख के अनुसार हर्षनाथ के मन्दिर का निर्माण चाहमान शासक विग्रहराज के समय हुआ। इस अभिलेख में मन्दिर

---

1. इ. आई., 5, पृ. 211
2. वही, 14, पृ. 176-188
3. वही।
4. वही।
5. वही, 3, पृ, 263

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के निर्वाह के लिए अनेक ग्राम दान स्वरूप दिये जाने का उल्लेख है। नमक और घोड़ों की बिक्री पर कर के रूप में ली जाने वाली धन राशि भी मन्दिर को अर्पित की गई थी। इसमें सात दाताओं के नाम उत्कीर्ण है जिनमें एक स्वयं राजा है, दूसरा एक पदाधिकारी धंधक, और शेष पांच राज परिवार के सदस्य।[1]

वि. सं. 1051 के बालेरा दानपत्र में परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्रीमूलराजदेव द्वारा अपने पूर्वजों के पुण्य और यश वृद्धि-हेतु सांचोर (सत्यपुर) मण्डलान्तर्गत वरणक ग्राम के दान का विवरण प्राप्त होता है। यह दान ब्राह्मणों, राजपुरूषों तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए वृक्षों, काष्ठ, तृण (घास), जल पर अधिकार सहित दीर्घाचार्य नामक ब्राह्मण को दिया गया था।[2]

दुर्लभराज चौलुक्य कालीन वि. सं. 1069 के जोधपुर से प्राप्त ताम्र पत्र में भीनमाल मण्डल के अन्तर्गत क्षत्रियपद नामक गांव को ब्राह्मण गोविन्द के पुत्र नाणक को दिये जाने का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में ग्राम के सभी सम्भावित अधिकार दानभोगी को हस्तान्तरित किये गये थे।[3] केल्हणदेव के वि. सं. 1223 के बाणनेरा दानशासन से विदित होता है कि उसने राजपुत्र अजयराज की सम्पत्ति में से वृक्षों सहित एक कुंआ नारायण नामक ब्राह्मण को दान दिया था। इस दानपत्र पर नाडोल के स्वामी केल्हणदेव के हस्ताक्षर अंकित हैं। अजयराज ने भी एक अन्य कुआं इसी ब्राह्मण को देवोत्थान एकादशी के अवसर पर दिया था।[4]

परमार नरेश धारावर्ष के वि. सं. 1237 के हाथल ताम्रपत्र में साहिलवाड़ा ग्राम की गोचर भूमि शैवधर्माचार्य भट्टारक बिसलउग्रदम को बिना शुल्क पशु चराने के अधिकार प्रदान करने का उल्लेख है। इसके साथ ही उसे दो हलबाह भूमि तथा धान के खेत दान में दिये गये थे।[5] कुछ इसी प्रकार की सूचना चौलुक्य द्वितीय भीमदेव के गुहिलवंशी सामन्त अमृतपाल के वि. सं. 1242 के दान पत्र से प्राप्त होती है। तदनुसार जल, नवनिधान और अन्य सम्पत्ति के साथ अरहट एवं दो हलबाह भूमि दान में दी गई थी।[6]

---

1. वही, 2, पृ. 116 अ.
2. वही, 10, पृ. 78 अ.
3. वही, 36, पृ. 95
4. वही, 13, पृ. 206
5. आई. ए, 43, प. 193
6. ओझा निबन्ध संग्रह, 2, पृ. 197

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बारहवीं शती के नाणा (मारवाड़) ताम्रपत्र में एक महत्त्वपूर्ण सूचना प्रदान की गई है जिससे राजा के भू-स्वामित्व के अतिरिक्त प्रजा पर भी स्वामित्व (अधिकार) होना प्रमाणित होता है। इस दान शासन के अनुसार नाडोल के चाहमान शासकों ने त्रिपुरुषदेव, चन्दलेश्वर और गौरी के मन्दिर में कुछ व्यक्तियों को भी दान के रूप में प्रदान कर नियुक्त किया था। उदाहरणार्थ महाराजाधिराज रत्नपाल ने नोरिया नामक व्यक्ति को मन्दिर में सेवार्थ नियत किया था। इसी प्रकार सोहिया और आसाइच नामक दो कुटुम्बिक (गृहस्थ) कृषक मन्दिर के निमित्त नियुक्त किए गये थे। इन व्यक्तियों की गणना अर्द्धदासों में की जा सकती है।[1]

उपर्युक्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि राजा के भू-स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त व्यापक थे। वह अपने अधिकार हस्तान्तरित भी कर सकता था। इससे यह भी संकेतित है कि भूमि पर राजा का निर्बाध स्वामित्व था। इन अभिलेखों से स्पष्ट है कि राजा के भू-स्वामित्व और राज्य के भू-स्वामित्व में स्पष्ट अन्तर था। राजा भूमिदान देते समय अपने तथा अपने पूर्वजों, (यथा माता-पिता) के पुण्य और यश की कामना करता था, राज्य के कल्याण तथा यश की नहीं। इसका अभिप्राय है कि राजा एक भू-स्वामी के रूप में दान देता था। हमारे अध्ययनकाल में राजस्थान में सामन्त प्रथा विकसित हो चुकी थी। व्यक्तिगत और राजकीय भू-स्वामित्व सिद्धान्तों ने सामुदायिक भूस्वत्वों को निर्बल बना दिया था। सामुदायिक भूमि को निजी सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति लोकप्रिय हो चली थी। राजकीय पदाधिकारियों को भी राज सेवा के बदले में वेतन न देकर भूमि दी जाती थी। वे इसके उपयोग में बहुत अंशों तक स्वतन्त्र थे। वे अपनी भूमि का कुछ भाग दान के रूप में भी दे सकते थे। यद्यपि इसके लिए कभी कभी उन्हें राजा से स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। राजा सर्वोच्च भू-पति था उसके अधीन अन्य अनेक भूमिपति थे। इसे सामन्तीय विकेन्द्रीकरण की संज्ञा दी जा सकती है।

नगर और ग्राम

विचाराधीनकाल में राजस्थान के जनजीवन में युद्धों का प्रमुख स्थान था। राजा सामान्यतया महत्त्वकांक्षी होते थे। उन्हें राज्य विस्तार हेतु युद्ध करना पड़ता था। राजा और राज्य के लिए राजधानी (पुर, दुर्ग) का अत्यधिक महत्त्व था। राजधानी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र होती थी।

---

1. ई. आई. 33, पृ. 238-246

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ऐसी स्थिति में राजधानी को भली भांति सुरक्षित रखने के लिये सभी उपयुक्त साधनों का उपयोग किया जाता था। सामान्यतः राजधानी एक ऐसे ऊंचे स्थान पर बनाई जाती थी जहां से चारों ओर दूर तक देखा जा सके और जहां पर प्रचुर मात्रा में पानी उपलब्ध हो। राजधानी की सुरक्षा के लिए उसमें दुर्ग का निर्माण आवश्यक होता था। नगर के चारों ओर प्राकार निर्मित किया जाता था जिसमें कई विशाल द्वार होते थे। 'उपमितिभव प्रपंच' कथा के अनुसार नगर के चारों ओर एक प्राकार होता था। इसके परे पानी से भरी हुई खाई होती थी इसमें मकरादि हिंसक जलचर रहते थे।[1] नगर में व्यापारियों के लिए बाजार तथा नागरिकों के रहने के लिए मकान होते थे। पर्याप्त जल के लिए झील, तालाब, और कुओं की व्यवस्था रहती थी। 'पृथ्वीराजविजय' से ज्ञात होता है कि अजमेर नगर चारों ओर से कांटेदार वृक्षों व झाड़ियों से घिरा हुआ था तथा मन्दिरों, कई मन्जिलों वाले मकानों, बावड़ियों, तालाबों आदि से सुशोभित था।[2]

उक्त विवरण की सम्पुष्टि अभिलेखों से भी होती है। वि. सं. 918 के घटियाला अभिलेख से ज्ञात होता है कि हरिचन्द्र के चार पुत्रों ने मिलकर माण्डव्यपुर (मण्डोर) दुर्ग का ऊंचा प्राकार बनवाया था।[3] वैरिसिंह ने शत्रुओं द्वारा विनष्ट किए गए आहड नगर के प्राकार का पुनर्निर्माण करवाया था। इसमें चतुर्दिक् एक-एक द्वार की व्यवस्था थी।[4] वसन्तगढ (सिरोही) की लाहण बावड़ी प्रशस्ति (वि. सं. 1099) के अनुसार इस वापी का निर्माण लाहिणी के पुण्यार्थ करवाया गया था। उक्त प्रशस्ति में वटपुर नामक नगर के निर्माण का उल्लेख हुआ है जो सरोवरों, निवासगृहों, राजप्रासाद, प्राकार, दुर्ग इत्यादि से युक्त था। नगर में रहने वाले ब्राह्मणों, सैनिकों और गणिकाओं इत्यादि के आवासों का उल्लेख है।[5] स्थापत्य और भवन निर्माण में अत्यधिक रुचि रखने वाले जालौर नरेश समरसिंह ने कनकाचल गढ़ के चतुर्दिक् परकोटे का निर्माण कराया था।[6]

---

1. द्र. पृ. 7, 105, 312, 385 साहित्य से प्राप्त सूचनाओं की पुष्टि अजमेर, अलवर, चाटसू इत्यादि नगरों के भग्नावशेषों से भी होती है।
2. पृथ्वीराजविजय, 5/119
3. इ. आई., 9, पृ. 12
4. वही, 31, पृ. 325
5. वही, 9, पृ. 11
6. वही, पृ. 73

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नगर योजना के अन्तर्गत दो बड़ी-बड़ी सड़कों की व्यवस्था होती थी। इन्हें महाराज मार्ग कहा जाता था। यह परस्पर समकोण पर मिलती थी।[1] इनसे जुड़ी हुई छोटी-छोटी सड़कें भी होती थीं जिन्हें 'रथ्य' व 'महारथ्य' कहते थे। नगर और उपनगर विभिन्न खण्डों में विभाजित थे जिन्हें सम्भवत: 'पाटक' की आख्या प्रदान की जाती थी। 'पाटक' चतुष्क (चौकोर) त्रिक (त्रिकोणाकार) आकार में बंटे रहते थे। सड़कों के घुमाव के लिए पर्याप्त स्थान रहता था। नगर में बाजारों की व्यवस्था थी। इन नगरों में वाणिज्य-व्यवसाय के लिए व्यापारी वर्ग सुदूर क्षेत्रों से आते थे।[2] नगर के उल्लेखनीय स्थलों में राजभवन, देवालय, सरोवर (वापी) कुएं तथा उद्यान आदि होते थे।[3] चाहमान अर्णोराज को पराजित करने के उपरान्त स्वदेश जाते समय चौलुक्य नरेश कुमारपाल शालिपुर से चित्तौड़ गया था। वह चित्तौड़ के राजप्रासाद, देवालयों, वापी, झील, उद्यानों और उपवनों से अत्यधिक प्रभावित हुआ था।[4]

राजस्थान के चित्तौड़, अजमेर, जालौर, आबू, साम्भर, जैसलमेर, मण्डोर, आहड़ इत्यादि राजधानी-नगर सुन्दरता की दृष्टि से ही नहीं, सुरक्षा की दृष्टि से भी उत्तम थे। दुर्गों को सुदृढ़ और सर्वसाधन सम्पन्न बनाने का प्रयास किया जाता था। पानी की समुचित व्यवस्था के लिए तालाब, झील व कुओं का निर्माण किया जाता था। चित्तौड़ में राजा मानमोरी[5] ने मान-सरोवर नामक सुन्दर सरोवर का निर्माण करवाया था। उस युग में पानी की समुचित व्यवस्था करना राजा का दायित्व होता था। राजा लोग प्राय: राजधानी या तो किसी नदी के किनारे बनाते थे या फिर उसके निकट किसी सरोवर का निर्माण करवाते थे। चाहमान शासक अजयराज ने 'अजयमेरु' (अजमेर) बसाया था। उसके पुत्र अर्णोराज ने वहां आनासागर झील का निर्माण करवाया था।[6] वि, सं. 1226 के बिजोलिया अभिलेख[7] से ज्ञात होता है कि इसके आस पास का क्षेत्र उतमाद्री कहलाता था। सम्प्रति इसे

---

1. आई. ए., 29, पृ. 189
2. बी. आई., 2, पृ. 67-68
3. द्र., कुवलयमाला, पृ. 122, 300, 203 और 208, कथाकोष प्रकरण, पृ. 11-12
4. इ. आई., 2, पृ. 422
5. वी. वि., पृ. 378-386
6. पृथ्वीराजविजय, 6/21-25
7. इ. आई., 26, पृ. 90 अ. बिजोलिया नगर कुटिला नदी पर स्थित था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उपरमाल कहा जाता हैं। मेवाड़ का यह पूर्वी भाग उस समय अत्यन्त उपजाऊ धनधान्य सम्पन्न और वाणिज्य-व्यवसाय का केन्द्र था।[1] इस तथ्य की पुष्टि सोमाली अभिलेख से भी होती है। यहां 'वटनगर' से आये हुये व्यापारियों के प्रमुख जेन्तक ने अरण्यवासिनी देवी के भव्य मन्दिर का निर्माण करवाया था।[2]

नगरों में विभिन्न जातियों तथा व्यवसायिक श्रेणियों के लिए पृथक् पृथक् आवास खण्डों की व्यवस्था की जाती थी। तदर्थ ब्राह्मण, सैनिक, स्वर्णकार, कुम्भकार, नापित, श्रमिक आदि वर्गों की पृथक् पृथक् बस्तियां रहती थीं। मेवाड़ के गुहिल नरेश पद्मसिंह के वलकेश्वर महादेव के मन्दिर में लिखित अभिलेख में तेलीवाडा का उल्लेख हुआ है।[3] वि. सं. 1190 के इगनौड़ा अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि विभिन्न जातियों के आवास पृथक्-पृथक् मोहल्लो में थे। ब्राह्मणों के क्षेत्र को प्रायः ब्रह्मपुरी कहा जाता था। शूद्र, मछुए, कसाई, वधिक इत्यादि निम्न जातियां नगर के परकोटे के बाहर रहती थी।[5] नगर में विभिन्न वस्तुओं के क्रय बिक्रय के लिए पृथक् पृथक् बाजारों की व्यवस्था होती थी। पृथ्वीचन्द्रचरित्र, सभाश्रृंगार, वर्णसमुच्चय इत्यादि समसामयिक ग्रंथों में चौरासी प्रकार के बाजारों का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें कुछ अत्युक्ति हो सकती है, परन्तु कपड़ा, फूल, फल, सब्जी, जवाहरात आदि के लिए पृथक् बाजार होने की निश्चित सूचना उपलब्ध है। जौहरी बाजार सामान्यतः नगर के मध्य भाग में स्थित होता था। कांमा के वि. सं. 963 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि पशुओं के क्रय-विक्रय के लिए पृथक् बाजार था जिसे 'कम्बलीहाट्ट' कहा जाता था।[6] मण्डोर के शासक कक्कुक ने रोहिंसकूप (घटियाला) नगर में तीनों वर्गों के रहने के लिए मकानों का निर्माण करवाया था और नियमित बाजार की व्यवस्था की थी। नगर में सुदूर क्षेत्रों के व्यापारी बसाए गये थे।[7] जैसाकि सारणेश्वर प्रशस्ति से संकेतित है व्यावसायिक नगरों में समय समय पर निश्चित वार और तिथियों को विशेष मेले तथा बाजार (हाट) लगाये जाते थे।[8]

---

1. वही।
2. वही, 20, पृ. 97-99
3. वरदा, वर्ष 9, 1, पृ. 55
4. आई. ए., 6, पृ. 55-56
5. बुद्धिस्ट रेकार्डस ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, 1, पृ. 73-74
6. इ. आई., 24, पृ. 331
7. वही, 9, पृ. 277-79
8. बी. आई., 2, पृ. 67-68

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विचाराधीनकाल में राजस्थान के नगरों को मूलतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में ऐसे नगर थे जिनका राजनीतिक महत्त्व था। इनका विकास राजधानियों, जिला प्रशासकीय केन्द्रों तथा महासामन्तों के कार्यालयों व निवास स्थानों के रूप में हुआ था। इनका सामरिक महत्त्व भी था। इनमें से कुछ नगर किलों के चारों ओर बसे हुए थे। चित्तौड़, अजमेर, नाडोल, जालौर, साम्भर, आबू, जैसलमेर, आहड़, मण्डोर, शेरगढ़ नारायणा, माण्डलगढ़, रणथम्भौर इत्यादि की गणना इस वर्ग में की जा सकती है। द्वितीय वर्ग के नगरों का महत्त्व आर्थिक दृष्टि से था। हमारे अध्ययनकाल में राजस्थान में व्यापार वाणिज्य को विशेष सुविधा प्रदान की जाती थी। इसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई। प्राचीन नगर समृद्ध होने लगे तथा नये नगरों का उदय हुआ। ऐसे नगर प्रायः व्यापारिक मार्गों और नदियों के किनारों पर अवस्थित थे। पाली, चन्द्रावती, नरहड़, भीनमाल, जालौर, नागदा, आहड़, नागौर इत्यादि समृद्ध व्यापारिक नगर थे। तीसरे वर्ग में उन नगरों की गणना की जा सकती है जो सांस्कृतिक और धार्मिक घटकों के कारण विकसित हुए थे। इनमें प्रति वर्ष हजारों की संख्या में तीर्थ यात्री और पर्यटक आते थे। ऐसे नगरों में ब्राह्मणों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रहती थी। अजमेर नगर की महत्ता पुष्कर तीर्थ के कारण थी। साम्भर का महत्त्व देवयानी तीर्थ के कारण था और आहड़ की ख्याति गंगोदभेदतीर्थ के कारण थी। नागदा नगर का महत्त्व एकलिंगजी के मन्दिर के साथ जुड़ा हुआ था। श्रीमाल और वरमाण सूर्य मन्दिर के कारण प्रसिद्ध थे। इसी प्रकार हर्षनाथ बिजौलिया, मेनाल, वीसलपुर इत्यादि नगर अपने मन्दिरों और धार्मिक महत्व के कारण प्रसिद्ध थे। ओसियां, पाली, किराडू, खण्डेला, हस्सौर, सांचोर, आहड़, कोरट, श्रीमाल इत्यादि नगर जैन धर्म के केन्द्र व तीर्थ थे। यहां जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या अपेक्षया अधिक थी।[1]

नगरों में मन्दिरों,[2] बाजार की दुकानों, राजभवनों, तालाबों, बावड़ियों कूपों व अन्य भवनों के निर्माण में अनेक श्रमिक और शिल्पियों को कार्य मिलता था। विशाल भवन व मन्दिर निर्माण के पूर्व उनकी योजना और

---

1. नगर सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए द्र., जैन. के. सी., एन्श्येण्ट सिटीज़ एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान; राय. यू. एन. सिटी एण्ड सिटी लाइफ।
2. सारणेश्वर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि सारणेश्वर मन्दिर का निर्माण उत्तम सूत्रधार अग्रट ने किया था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh

प्रारूप तैयार किये जाते थे। इसके लिये विशिष्ट योग्यता वाले व्यक्तियों की सेवाएं प्राप्त की जाती थीं। इस वर्ग के लोग अपना पेशा आनुवांशिक रूपेण अपनाते थे।[1] मन्दिरों और भवनों के विभिन्न स्तम्भों और आधारपट्टों को अलंकृत किया जाता था। दरवाजों की चौखटों को भी विभिन्न प्रकार के पशुपक्षियों और बेल बूटों से सजाया जाता था। निर्माण कार्यों में पर्याप्त धन व्यय किया जाता था। मन्दिरों में आराधना और आमोद के लिए संगीत गोष्ठियों का आयोजन होता था। यह कार्य प्रमदकुलों द्वारा सम्पन्न किया जाता था।[2] इनके साथ वाद्य वादक भी रहते थे।[3] प्रायः प्रत्येक से दो चार प्रमदाओं का सम्बन्ध रहता था।[4] विशेष अवसरों पर मन्दिरों में उत्सवों का आयोजन होता था। ऐसे अवसरों पर सभी प्रमदाएं एकत्र की जाती थीं। सभी वर्गों के लोग साजसज्जा के साथ इसमें सम्मिलित होते थे।[5]

मुख्य उद्योग धन्धे

हमारे अध्ययनकाल में जनता के जीविकोपार्जन का प्रधान साधन पूर्ववत् कृषि कर्म ही था। कृषि द्वारा मुख्यतः गेहूँ, बाजरा, ज्वार, मोठ, मूंग, चना तिल आदि का उत्पादन होता था। कई स्थानों पर वर्ष में दो फसलें भी होती थीं। फलोदी से प्राप्त वि. सं. 1236 के एक अभिलेख में सियालु तथा उनालु नामक फसलों का उल्लेख हुआ है।[6] बीजापुर से प्राप्त राष्ट्रकूट शासक धवल के वि. सं. 1053 के अभिलेख में प्रत्येक अरघट्ट से एक आढक गेहूँ तथा जौ और मूंग, दाल, इत्यादि के प्रत्येक द्रोण पर एक माणक कर लिये जाने का उल्लेख हुआ है।[7] अश्वराज के वि. सं. 1167 के सेवाड़ी अभिलेख में पद्राड़ा, भेद्रचां, छेछडिया व भद्दड़ी ग्रामों में स्थित प्रत्येक रहट से एक हाटक जौ प्रदान किये जाने का उल्लेख है।[8] केल्हणदेव के वि. सं. 1233 के लालराई से प्राप्त अभिलेख में श्री शांतिनाथदेव की यात्रा-उत्सव

---

1. बिजौलिया के जैन मन्दिर का सूत्रधार माहणक था, जो हरसिंग तथा प्राहल्ण सूत्रधार का वंशज था।
2. इ. आई, 11, पृ. 26
3. वही।
4. इ. आई., 33, पृ. 240
5. वही, 11, पृ. 27
6. जे. पी. ए. एस. बी., 12, पृ. 93
7. इ. आई., 11, पृ. 20
8. वही, पृ. 28

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के निमित्त भदियाउव ग्राम के उरहारि रहट से एक हाटक जौ प्रदान किये जाने का उल्लेख हुआ है।[1] कपास के विस्तृत खेतों का वर्णन 'श्रृंगारमन्जरी-कथा' में हुआ है।[2]

राजस्थान के उद्योगों में तेल, नमक, गुड़, शक्कर इत्यादि का उत्पादन सम्मिलित था। साम्भर, डीडवाना और पचपद्रा की झीलों से भारी मात्रा में नमक का उत्पादन होता था। वि. सं. 1030 की हर्षनाथ प्रशस्ति में नमक के प्रत्येक कूटक पर मन्दिर के निमित्त एक विंशोपक दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[3] अनेक अभिलेखों में 'घाणक' का उल्लेख मिलता है।[4] रायपाल के वि.सं. 1189 के नाडलाई अभिलेख में दान विवरण में आदेश दिया गया है कि प्रति घाणक से दो पल्लिका तेल नाडलाई और बाहर से आये जैन सन्तों को प्रदान किया जाय।[5] इसी स्थान के एक अन्य अभिलेख में रायपाल के एक राउत राजदेव द्वारा रथ यात्रा उत्सव पर एक घाणक से दो पल्लिका तेल दिये जाने का आदेश है।[6] 'श्रृंगारमन्जरीकथा' में गन्ने के बड़े-बड़े खेतों का वर्णन हुआ है।[7] राजस्थान के मालवा क्षेत्र की सीमा से लगे भाग में गन्ने का उत्पादन होता था। इससे शक्कर व गुड़ बनाये जाते थे।

राजस्थान की प्राकृतिक सम्पदा और खाने अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रसिद्ध है। 'जावर' के निकट अरण्यगिरि में ताम्बे और जस्ते की खाने थीं।[8] देश के विभिन्न क्षेत्रों से व्यापारियों का यहां बसना इस क्षेत्र का

---

1. वही, पृ. 49
2. श्रृंगारमन्जरीकथा, पृ. 67-68। इससे स्पष्ट है कि राजस्थान के कुछ भागों में कपास की खेती होती थी।
3. इ.आई., 2. पृ. 121-22
4. (अ) बीजापुर अभिलेख, वि.सं. 1053, इ.आई.. 10, पृ. 20
   (ब) नाडलाई के आदिनाथ मन्दिर का अभिलेख, वि.सं. 1118, नाहर, जै.ले.सं., 1, पृ. 212
   (स) चित्तौड़ का अभिलेख, वि.सं. 1207, इ.आई., 2, पृ. 421
   (द) गुहिल पद्मसिंह का अभिलेख, वि.सं. 1242, वरदा, 9, 1, पृ. 55
5. इ.आई., 11, पृ. 35
6. वही, पृ. 41
7. श्रृंगारमन्जरीकथा, पृ. 67-68
8. इ.आई., 20, पृ. 97-99

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

समृद्धि तथा खनन-उद्योग के महत्त्व का परिचायक है। मेवाड़ के माण्डलगढ़ क्षेत्र, जालौर और सोजत की खानों से जस्ता और ताम्बा निकाला जाता था।[1] वि.सं. 1053 के हस्तिकुण्डी अभिलेख में ताम्बे के भार पर 10 पल राजकीय कर लिये जाने का उल्लेख है। इससे ताम्बे के उत्पादन का ज्ञान होता है।[2] धातुओं के अतिरिक्त संगमरमर का व्यावसायिक महत्त्व था। राजस्थान के मकराना क्षेत्र का संगमरमर सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध था। उस समय के भवनों में मकराना के संगमरमर, जैसलमेर के पत्थर और लाल पत्थर का अधिक प्रयोग किया गया है।[3]

कृषि के अतिरिक्त पशुपालन[4] अन्य प्रमुख उद्योग था। कुछ अभिलेखों में शासकों द्वारा चरागाह के लिए भूमि दान का उल्लेख हुआ है। परमारों की आबू शाखा के शासक धारावर्ष के वि.सं. 1237 के हाथल ताम्रपत्र में 'गोचर' का उल्लेख हुआ है जो स्पष्टतः चरागाह का द्योतक है।[5] पशुपालन से गांवों में दूध, घी, ऊन (यथा भेड़, बकरी और ऊंट के बाल) इत्यादि का उत्पादन होता था। अभिलेखों में सूत व्यापार, बुनकरों और कपड़ा उद्योग का भी उल्लेख हुआ है।[6] इस युग में स्वर्णाभूषणों का व्यापक प्रचलन था, अतः इनका निर्माण प्रचुर मात्रा में होता था। इसके प्रमाण साहित्यिक उल्लेखों और मूर्ति निर्माणकला से प्राप्त होते हैं। स्त्री पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। स्वर्णकार अत्यन्त कुशल और दक्ष होते थे। कल्याणपुर से प्राप्त सातवीं शताब्दी के अभिलेख का उत्कीर्णकर्त्ता नागादित्य,[7] वि.सं. 840 के तासी से प्राप्त अभिलेख का उत्कीर्णक माहर,[8] वि.सं. 918 के घटियाला अभिलेख[9] का उत्कीर्णक कृष्णेश्वर आदि स्वर्णकार थे। मण्डोर से प्राप्त 12वीं शताब्दी के एक अभिलेख में स्वर्णकार शब्द उत्कीर्णक प्रतीत होता है।[10]

---

1. ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, 1, पृ. 8
2. इ.आई., 10, पृ. 17-20
3. रा.अ.ए., पृ. 491
4. आहड़ के विष्णु मन्दिर में कुछ फलक ऐसे है जिन पर गाय, भैंस इत्यादि पशुओं को उत्कीर्ण किया गया है।
5. आई.ए., वर्ष 1941, पृ. 193-94
6. अ.चौ.डा., पृ. 299
7. इ.आई., 35, पृ. 58
8. वही, 36, पृ. 49
9. वही, 9, पृ. 280
10. आ. स. एन. रि., 1909-10, 2, पृ. 102

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोहे की वस्तुएं बनाने वाले को 'लुहार'[1] कहा जाता था। लोह कर्मी अस्त्र शस्त्र, कृषि सम्बन्धी उपकरण और भवन निर्माण के काम आने वाली वस्तुओं इत्यादि का निर्माण करते थे।[2]

मिट्टी के बर्तनों का निर्माण करने वाले 'कुम्हार' कहलाते थे। वि.सं. 1053 के हस्तिकुण्डी अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुम्हारों के व्यवसाय पर भी कर लगता था।[3] फूलों और मालाओं का व्यापार करने वाले मालियों का व्यवसाय समुन्नत स्थिति में था। सारणेश्वर प्रशस्ति में मन्दिरों के निमित्त मालियों से प्रतिदिन एक माला लिये जाने का आदेश दिया गया है।[4]

सिंचाई व्यवस्था

हमारे अध्ययनकाल में भूमि की सिंचाई यद्यपि सामान्यतया वर्षा से होती थी तथापि राज्य द्वारा भी सिंचाई के कृत्रिम साधनों द्वारा भूमि की उर्वरता बढ़ाने के उपाय किये जाते थे। प्राचीनकाल से ही भारतीय शासक नहर, तालाब, कुएं, बावड़ियां, जलाशय इत्यादि के निर्माण का दायित्व वहन करते थे। महाक्षत्रप प्रथम रुद्रदामा की जूनागढ प्रशस्ति (150 ई.) से ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने गिरनगर में एक झील का निर्माण करवाया था।[5] उससे अशोक ने नहरें निकलवायी थीं तथा बाद में रुद्रदामा[6] तथा गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त[7] द्वारा इस झील का पुनर्निर्माण कराया गया था। हाथी-गुम्फा अभिलेख[8] से ज्ञात होता है कि कलिंगाधिराज खारवेल ने अपने राज्याभिषेक के पांचवें वर्ष प्रजाहितार्थ राजधानी तक जलवाहक नहर निर्मित कराने का यश प्राप्त किया था।

इस प्रकार के उदाहरण राजस्थान से भी प्राप्त हैं। चितौड़ के शासक मानमोरी ने चित्तौड़ में 'मानसरोवर' नामक सुन्दर झील का निर्माण

---

1. आहड़ ग्राम के 10 वीं शताब्दी के विष्णु मन्दिर (सम्प्रति मीरा मन्दिर) के गर्भगृह के पीछे की एक चित्रावली में कुछ लघु फलक उत्कीर्ण हैं, जिनमें से एक में लोहार को कार्य करते हुए दिखलाया गया है। वरदा, 11, 3, पृ. 43
2. वही
3. इ. आई., 10, पृ. 17-20
4. बी. आई., 2, पृ. 67-68
5. इ. आई., 8, पृ. 42
6. वही।
7. कार्पस, 3, पृ. 50
8. इ. आई., 20, पृ. 72

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

करवाया था।[1] चाहमान शासक अर्णोराज ने अजमेर में 'आन्नासागर' का निर्माण करवाया था।[2] चाहमान वीसलदेव को 'विशालसर' नामक सरोवर के निर्माण का श्रेय प्राप्त है।[3] भोज परमार ने चित्तौड़ के निकट 'भोजसर' का निर्माण करवाया था।[4] आबू शाखा के परमार शासक पूर्णपाल की बहिन लाहिनी ने एक बावड़ी (वापी) का निर्माण करवाया था।[5] वि. सं. 1212 के थकराड़ा अभिलेख में महाराजपुत्र अनंगपाल द्वारा एक छोटी तलाई के निकटवर्ती खेत को दान दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[6] इससे स्पष्ट है कि राजा लोग सिंचाई युक्त भूमि का दान भी करते थे। अभिलेखों में 'रहट' पर कर लगाने का वर्णन मिलता हैं। बाली पाषाण अभिलेख (वि. सं. 1200) में देवी पूजन निमित्त प्रत्येक 'रहट' से एक द्रम्म कर लिये जाने का आदेश दिया गया है।[7] स्पष्टतः 'रहट' जैसे कृत्रिम साधन भी सिंचाई के लिए प्रयुक्त किए जाते थे।[8]

राजाओं का अनुकरण करते हुए सामन्त, गण्यमानजन तथा सर्वसामान्य लोग भी इस प्रकार के निर्माण कार्यों में रुचि लेते थे। मण्डोर की एक बावड़ी से प्राप्त वि. सं. 742 के अभिलेख से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण चाणक के पुत्र माधू ने इस बावड़ी का निर्माण करवाया था।[9] भदुण्ड से प्राप्त वि. सं. 1102 के अभिलेख की सूचनानुसार 22 ब्राह्मणों तथा एक क्षत्रिय द्वारा भूण्डिपद्र नामक गांव में एक बावड़ी का निर्माण कराया गया था।[10] झालरापाटन से प्राप्त वि. सं. 1143 के अभिलेख से स्पष्ट है कि तेली पटेल ने एक वापी का निर्माण करवाया था।[11] वि. सं. 1234 के

---

1. टॉड, एनाल्स एण्ड एण्टिक्वीटीज ऑफ राजस्थान, 1, पृ. 625
2. पृथ्वीराजविजय, 6, श्लोक 21-25
3. वही, आदि पर्व, श्लोक 364
4. इ. आई., 24, पृ. 317
5. वही, 9, पृ. 11
6. आई. ए., 41, पृ. 225
7. इ. आई., 11, पृ. 32
8. रहटों के चित्र भित्तियों पर प्राप्त हुए हैं। एक 'रहट' चित्र मण्डोर से प्राप्त हुआ है। दूसरा 'रहट' चित्र सादड़ी के जोगेश्वर मन्दिर की छत पर उत्कीर्ण है। द्र. मरू भारती, 1968, पृ. 1-3
9. एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ आर्क्योलोजिकल डिपार्टमेण्ट, जोधपुर, 1934, पृ. 5
10. जे. बी. बी. आर. ए. एस., 23, पृ. 78
11. जे. आर. ए. एस. बी. (न्यू. सी.), 10, पृ. 241-243

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाड़ले अभिलेख में कहा गया है कि कौशिक गोत्रीय यशोराज के पुत्र अथवा पौत्र द्वारा अपने व्यापार से उपार्जित धन से एक बावड़ी का निर्माण करवाया गया था।[1]

व्यापार

आलोच्यकाल में राजस्थान के बड़े नगर तथा राजधानियां प्रायः व्यापारिक केन्द्र भी थीं। गुहिल शासक शीलादित्य के शासनकाल में मेवाड़ एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। साम्भोली अभिलेख से ज्ञात होता है कि यहां वटनगर से आए हुए महाजन व्यापार करने के लिए स्थायी रूप से बस गये।[2] प्रतिहार शासक कक्कुक के शासनकाल में रोहिंसकूप (घटियाला) पश्चिमी राजस्थान के व्यापार वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र था। घटियाला से प्राप्त वि. सं. 918 के अभिलेख में कहा गया है कि इस नगर में मरू, माण्ड, बल्ल, तमणी, अज्ज व गुर्जरत्रा के व्यापारी आकर बस गये थे।[3] उनके लिए विशेष बाजार का प्रबन्ध किया गया था और तत्कालीन नरेश ने स्वयं इस कार्य में रुचि ली थी। सारणेश्वर प्रशस्ति से स्पष्ट है कि इस समय आहड़ एक सम्पन्न तथा प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। यहां कर्नाटक, मध्यप्रदेश, लाट तथा टक्क जैसे सुदूर प्रदेशों के व्यापारी आकर स्थायी रूप से बस गये थे। यहां विभिन्न व्यावसायिक वर्गों के लोग यथा हलवाई, तेली, माली, फल विक्रेता इत्यादि रहते थे।[4] वि. सं. 1136 के अथूर्णा अभिलेख के अनुसार परमार शासन काल में अथूर्णा नगर वाणिज्य व्यवसाय का एक प्रमुख केन्द्र था।[5] पटनारायण अभिलेख से ज्ञात होता है कि चद्रावती व्यापारिक केन्द्र के रूप में विख्यात था।[6] जूना के आदिनाथ मन्दिर अभिलेख से जूना का एक व्यापारिक केन्द्र होना प्रमाणित है।[7]

हमारे अध्ययनकाल में राजस्थान के व्यापारी व्यापार हेतु देश के विभिन्न भागों में जाते थे तथा भारत के अन्य क्षेत्रों के व्यापारी राजस्थान में आते थे। बाजारों में गेहूं, ज्वार, जौ, मूंग, गुड़, कपास, नारियल, सुपारी, पान,

---

1. मरू भारती, 2, 3, पृ. 2
2. ना. प्र. प., 1, पृ. 311-24
3. इ. आई., 9, पृ. 277-79
4. बी. आई., 2, पृ. 67-68
5. इ. आई., 14, पृ. 297
6. आई. ए., 45, पृ. 77
7. नाहर, जै. ले. सं., 1. पृ. 344

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सूत, मंजिष्ठ, किराना, नमक, घोड़े इत्यादि व्यापारिक वस्तुओं का क्रय विक्रय होता था। हस्तिकुण्डी अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं में सूती कपड़े, ताम्बा, केसर, गेहूं, जौ, नमक इत्यादि थे जिनके क्रय विक्रय पर राज्य कर वसूल करता था।[1] वि. स. 1136 के अथूर्णा नगर अभिलेख से अथूर्णा नगर की उन्नतशील व्यापारिक स्थिति का आभास प्राप्त होता है। यहां दैनिक उपयोग की वस्तुओं का व्यापार होता था। उदाहरणार्थ खाद्यान, सूत, रुई, कपड़ा, नमक, शक्कर, गुड़, नारियल, सुपारी व बर्तन, तेल इत्यादि।[2] मंजिष्ठ बंगाल से आयातित होकर अथूर्णा में बिकता था।[3] वि. सं. 1202 के नाडलाई से प्राप्त रायपाल के अभिलेख में किराना व्यापार का विवरण प्राप्त होता है।[4] घोड़े का व्यापार भी समुन्नत स्थिति में था। अश्व व्यापार की सूचना वि. सं. 1200 के बाली से प्राप्त अभिलेख में दी गई है।[5] इस अभिलेख में प्रति घोड़े के विक्रय पर एक द्रम्म देवी को, दो द्रम्म थंमिल निवासी चोहड़ी के पुत्र गल्पल्यादिया को, एक द्रम्म मोहण के वाल्हण व गारवाट नामक पुत्रों को तथा एक द्रम्म बूटा को दानस्वरूप दिये जाने का उल्लेख है।[6] साहित्यिक स्रोतों से भी ज्ञात होता है कि घोड़े विदेशों से मंगाये जाते थे। 'उपमितिभवप्रपंचकथा' में वाह्लीकी और तुर्की घोड़ों को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[7] जब बख्तियार खलजी अपने 18 घुड़सवारों सहित नदिया नगर में प्रविष्ट हुआ तो नागरिकों ने उसे घोड़ों का व्यापारी ही समझा था। इससे स्पष्ट है कि उस समय विदेशी व्यापारियों द्वारा भारत में अश्व व्यापारार्थ आवागमन एक सामान्य बात थी।[8] 11वीं व 12वीं शती में अजमेर में मुसलमान व्यापारियों के निवास का प्रमाण मिलता है।[9] इस युग में घोड़े सैनिक अभियानों के लिए ही नहीं वरन् व्यापारिक प्रयोजनों के लिये भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गये थे।

व्यापारिक वस्तुओं के बेचने और खरीदने की व्यवस्था मण्डियों में होती थी। तत्सम्बन्धी क्रय विक्रय की देखभाल स्वयं व्यापारियों का मण्डल करता था।[10]

---

1. इ. आई., 10, पृ. 17-20
2. वही, 14, पृ. 297
3. वही।
4. वही, 11, पृ. 42
5. वही, पृ. 32
6. वही
7. उपमितिभवप्रपंचकथा, पृ. 474
8. इलियट एण्ड डाउसन, 2, पृ. 308-9
9. इण्डियन कल्चर, पृ. 1, 205, टाइटस, इण्डियन इस्लाम, पृ. 43
10. इ. आई., 14, पृ. 295

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रायः शासक व्यापार की वृद्धि को ध्यान में रखते हुए बाजारों और सड़कों का निर्माण कराते थे। वि. सं. 918 के घटियाला अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रतिहार शासक कक्कुक ने तीनों वर्णों के रहने के लिए मकान और सड़कों इत्यादि का निर्माण करवाया था। उसने तीनों वर्णों के लिए उद्योग धन्धों की व्यवस्था भी की थी।[1] मार्ग में व्यापारियों तथा यात्रियों की सुविधा के लिये सड़कों के किनारे वृक्ष लगवाते तथा पानी के लिए कुए खुदवाए जाते थे। इस समय यद्यपि व्यापारिक वर्ग के रूप में वैश्यों की प्रसिद्धि थी परन्तु अब उनके परम्परागत व्यवसाय कृषि और पशुपालन शनैः शनैः शूद्रों द्वारा भी अपनाये जा रहे थे। इस विषय पर विस्तार से विचार 'सामाजिक जीवन' विषयक प्रकरण में किया गया है।

वाणिज्य हेतु व्यापारी लोग यातायात के विविध साधनों का प्रयोग करते थे। सामान का स्थानान्तरण हाथियों, घोड़ों, ऊटों, बैलगाड़ियों आदि के माध्यम से होता था। अपने राज्य की सीमा से गुजरने वाली व्यापारिक वस्तुओं पर शासकों द्वारा मार्गों पर 'चुंगी' वसूल की जाती थी। बयाना के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि शूरसेन राजवंश की किसी महिला ने भगवान् विष्णु के मन्दिर के निमित्त एक गांव दान स्वरूप प्रदान किया था। उस मन्दिर की व्यवस्था हेतु उसके मार्ग से गुजरने वाले व्यापारिक माल से लदे प्रत्येक घोड़े पर चुंगी वसूल की जाती थी।[2] जोधपुर राज्यान्तर्गत एक मन्दिर को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि वह स्व. क्षेत्र से गुजरने वाले ऐसे प्रत्येक कारवां से, जिसमें 10 से अधिक ऊंट और 20 से अधिक बैल हों, एक एक पैला कर स्वरूप वसूल करे।[3] आहड़ के नरवाहन ने वराह मन्दिर के निर्वाह के लिए मार्ग से गुजरने वाले व्यापारिक वस्तुओं से लदे प्रत्येक हाथी पर एक द्रम्म, घोड़े पर दो रूपक, सींग वाले जानवरों पर एक एक द्रम्म का चालीसवां भाग कर स्वरूप लेने की व्यवस्था की थी।[4]

खाद्यान्न तथा अन्यान्य पदार्थों के संग्रह के लिए भण्डार गृहों का निर्माण किया जाता था। इस प्रकार के अन्नागारों का उल्लेख कोटा जिले में

---

1. वही, 9, पृ. 277-79
2. वहीं, 22, श्लोक 41
3. वही, 11, पंक्तियां 4-7
4. बी.आई., 2, पृ. 67-68

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शेरगढ़ से प्राप्त वि.सं. 1074 के अभिलेख में हुआ है।[1] इस अभिलेख में प्रयुक्त 'पल्लसाला' का अर्थ सम्भवतः अन्न भण्डार गृह है।[2]

हमारे अध्ययनकाल में वाणिज्य व्यवसाय प्रमुखतया स्थल मार्ग से होता था। व्यापार के हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए व्यापारिक सार्थवाह (काफिले) जाया करते थे। सामन्तसिंह के जूना से प्राप्त एक अभिलेख में एक जैन मन्दिर को अनुदान स्वरूप यह अधिकार दिया गया था कि स्वक्षेत्र से आने जाने वाले ऐसे प्रत्येक सार्थवाह से, जिसमें 10 से अधिक ऊंट और 20 से अधिक बैल हों, एक पैला वसूल करें।[3] आवागमन-साधनों की समुचित व्यवस्था के अभाव में यात्राएं कष्टप्रद होती थी। शासकों द्वारा जितनी तत्परता कराधान और कर वसूल करने में दिखाई जाती थी उतनी यात्रियों और सार्थवाहों को सुरक्षा और सुविधा प्रदान करने में नहीं दिखाई जाती थी। दस्युओं, लुटेरों और अपराधियों का भय प्रायः बना रहता था। भील, मीना एवं मेड इत्यादि अपराधकर्मी जन सहज व्यापार के मार्ग में बाधक थे। 'वामनपुराण' से ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र जाते समय शाकल के वैश्यों को राजस्थान के रेगिस्तान में लूट लिया गया था। 'कुवलयमाला' के अनुसार सार्थवाह अपने साथ पर्याप्त संख्या में अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित सैनिकों को ले जाते थे जो डाकुओं (दस्युओं) से उनकी और उनके माल की रक्षा करते थे। सामन्तों द्वारा भी सार्थगाहों के लूटे जाने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। चाहमानों की नाडोल शाखा के संस्थापक लक्ष्मण ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने से पूर्व व्यापारिक कारवाओं के घोड़े तथा अन्य सामान लूटे थे।[4] सुलेमान सौदागर के अनुसार भारत का कोई भाग डाकुओं और लुटेरों से सुरक्षित नहीं था[5] कतिपय नरेशों ने इस असुविधा और अव्यवस्था को गम्भीरतापूर्वक लिया और व्यापारियों को सुरक्षा तथा सुविधा प्रदान करने के लिए प्रशासनिक उपाय किये। ग्राम स्तर पर 'मण्डलों' की व्यवस्था की गई। उदाहरणार्थ चाहमान रायपाल के शासनकाल में घालोप ग्राम को आठ वार्डों (खण्डों) में विभक्त कर प्रत्येक वार्ड से दो-दो मण्डलों के लिए ब्राह्मणों का चयन किया गया। इन प्रतिनिधियों के मण्डल का मध्यक पीपलवाड़ा से निर्वाचित देवाइच को नियुक्त

---

1. इ. आई., 23, पृ, 133
2. वही
3. वही, 11, पंक्ति 4-7
4. अ. चौ. डा., पृ. 140
5. इलियट एण्ड डाउसन, पृ. 1-4

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया गया। मण्डल के निर्णय के अनुसार भाट, भट्ट पुत्र, दौवारिक, सार्वटिक वणिज्जारक आदि द्वारा यदि कोई माल खो जाता था अथवा उनसे कोई माल छीन लिया जाता था तो उसका पता उक्त मण्डल द्वारा लगाया जाता था।[1] शान्ति और सुरक्षा के लिये शासक भी थोड़े बहुत तो प्रयत्नशील रहते ही थे। यथा प्रतिहार शासक कक्कुक के शासनकाल में आभीरों के उपद्रवों के परिणामस्वरूप रोहिंसकूप (घटियाला) उजड़ने लगा था। परन्तु कक्कुक ने उन्हें परास्त कर व्यवस्था स्थापित की और वहां बाजार का प्रबन्ध किया। शांति तथा व्यवस्था स्थापित हो जाने से वहां पुनः चारों ओर से व्यापारियों का आना प्रारम्भ हो गया।[2]

यद्यपि साहित्यिक से सामुद्रिक मार्ग द्वारा व्यापार वाणिज्य के प्रमाण उपलब्ध होते हैं[3] तथापि अभिलेखों में इसकी चर्चा नहीं मिलती। जैन साहित्य में जल मार्ग से व्यवसाय के विवरण प्राप्त होते हैं। इनमें समुद्र की लहरों की भयानकता एवं जहाजों के टूटने आदि का वर्णन किया गया है।[4] 'समराइच्चकहा' के उल्लेखानुसार व्यापारी लोग विदेशों के लिये गमन करते समय अपने इस निर्णय की उद्घोषणा ढोल पीट कर करते थे और अपने साथ चलने के लिए अन्य व्यापारियों का आह्वान करते थे। उनके साथ विभिन्न व्यापारी अपनी वस्तुओं सहित प्रायः सम्मिलित हो जाते थे।[5] साहित्य में शूपरिक (सोपारा) एवं ताम्रलिप्ति (तामलुक) बन्दरगाहों का उल्लेख है जहाँ से व्यापारी वाणिज्य-व्यवसाय के लिए स्वर्णद्वीप, बरबरकुल, चीन, जावा आदि की यात्राएं करते थे। इसी प्रकार सामान से भरे जलयान अरब देशों को भी जाते थे।[6]

---

1. इ. आई., 9, पृ. 159
2. वही, पृ. 277-280
3. शृंगारमन्जरीकथा, पृ. 28-29, तिलकमन्जरी पृ. 103
4. द्र., कुवलयमालाकथा, पृ. 65-66। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि व्यापारीगण हाथियों के लिए कोसल, घोड़ों के लिए उत्तरापथ, याक-पूंछ के लिए 'पूर्वदेश' सीपी के लिए द्वारका, हाथीदांत के लिए बरबरकुल, सोने के लिए स्वर्ण द्वीप तथा नेत्रपट के लिए चीन प्रभृति देशों की यात्राएं करते थे। वे मोती के बदले याक-पूंछ, सूती कपड़ों के बदले हाथीदांत और भैंसों के सींग के बदले नेत्रपट प्राप्त करते थे।
5. समराइच्चकहा, पृ. 24 और 476
6. इलियट एण्ड डाउसन, 2, पृ. 257

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रेणियां

प्राचीन भारत में व्यापार-वाणिज्य और उद्योगों की वृद्धि के साथ श्रेणियों के स्वरूप में भी न्यूनाधिक परिवर्तन हुआ। व्यापारी वर्ग तथा उद्योगों में लगे हुए लोग अपने हितों की रक्षा के लिए श्रेणियों में संगठित होने लगे। श्रेणियों का प्रमुख उद्देश्य उद्योग और व्यवसाय को समुन्नत तथा समृद्ध बनाना था। इनके सुनिश्चित नियम होते थे जिनसे व्यावसायिक कार्यों का सुचारु रूप से सम्पादन हो सके। ये आधुनिक बैंकों का भी कार्य करती थीं। लोग उनमें ब्याज कमाने के लिए धन जमा कराते थे।[1] श्रेणियां अपने निर्धारित नियमानुसार वस्तुओं का क्रय-विक्रय और धन का लेन देन करती थीं। बड़े नगरों में विभिन्न व्यवसाय के लोगों के लिए पृथक् पृथक् बाजारों की व्यवस्था के प्रमाण प्राप्त होते हैं। 'कथाकोषप्रकरण' से ज्ञात होता है कि नगरों में पूतिकापण (मिठाई-बाजार), मद्यापण (शराब बाजार) और दोषिहट्ट (कपड़ा बाजार) पृथक् पृथक् हुआ करते थे।[2] सैनिक शिविरों में भी विभिन्न वस्तुओं के व्यापारी अपनी दुकानें अलग-अलग लगाते थे।[3] फूल, फल, सुगन्धित पदार्थों, रत्न, वस्त्र, अन्न, दाल, घी, तेल, दूध-दही इत्यादि के विक्रेताओं की अपनी अपनी दुकानें होती थीं। बाहर से आने वाले व्यापारी क्रय विक्रय की सूचना अपने व्यवसाय से सम्बन्धित श्रेणी को देते थें।[4]

पेहवा अभिलेख से ज्ञात होता है कि बाहर से आए व्यापारियों के एक 'देशी' ने वहां अनेक मन्दिरों के निमित्त दान दिया था।[5] लेख में प्रयुक्त 'नानादेशागत-भटाक व्यवहारक-देशी' की व्याख्या करते हुए दशरथ शर्मा ने देशि शब्द का अर्थ 'श्रेणि' अथवा 'व्यापारियों की श्रेणि' माना है।[6] वि.सं. 1200 के रायपाल के नाडलाई अभिलेख[7] और वि. सं. 1030 के हर्ष अभिलेख[8] में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। नाडलाई अभिलेख में देशी (श्रेणि) में एकत्र वणजारकों ने दान देने की व्यवस्था की थी। हर्ष

---

1. मजूमदार, आर. सी., प्राचीन भारत में संघटित जीवन, पृ. 37
2. कथाकोषप्रकरण, पृ. 87
3. वही, पृ. 165
4. कुवलयमाला, पृ. 65-66
5. इ. आई., 1, पृ. 189
6. रा. श्रू. ए., पृ. 495-96
7. इ. आई., 11, पृ. 43
8. वही, 2, पृ. 119

 Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेख में श्रीम्मह के देशी ने (जिनकी पहिचान वणजारक व्यापारी वर्ग से की जा सकती है) नमक के प्रत्येक कूटक (ढेरी) पर एक विशोपक दान देने का निर्णय लिया था।

हमारे अध्ययनकाल के अन्य अभिलेखों से श्रेणि व्यवस्था के अस्तित्व का ज्ञान होता है। सियोडनी अभिलेख में कंसारक (ठठेरा), कंदुक (हलवाई), तम्बोलिक (तम्बोली), कल्लपाल (मद्य विक्रेता) और शिलाकूट (पत्थर काटने वाला) का उल्लेख हुआ है।[1] वे सम्भवत: श्रेणियों में संगठित थे और संघ-बद्ध संस्थाओं के रूप में दान देते थे। कामा अभिलेख में कुम्हारों, मालियों और शिल्पकारों की श्रेणियों का विवरण दिया गया है।[2] प्रत्येक श्रेणि के सदस्य एक ही व्यवसाय से सम्बन्धित होते थे। इन श्रेणियों ने कामयेकेश्वर के स्थानीय मन्दिर के निमित्त धन समर्पित किया था। एतदर्थ प्रत्येक कुम्हार ने प्रतिमाह एक पण देने की घोषणा की थी और मालियों की श्रेणि ने 60 मालाएं देने की। वि. सं. 1084 के शेरगढ से प्राप्त एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि तेलियों की एक श्रेणि के थीयक नामक प्रमुख ने सोमनाथ मन्दिर को दान दिया था।[3]

अभिलेखों से श्रेणियों द्वारा किए जाने वाले जनकल्याण कार्यों की सूचना भी मिलती है।[4] वि. सं. 1143 के झालरापाटन अभिलेख में तैलिक श्रेणि के जनक नामक प्रमुख द्वारा एक वापी निर्मित कराये जाने का उल्लेख है। उसने दीपक द्वारा प्रकाश की व्यवस्था के लिए चार पल तेल और प्रति वर्ष एक मोदक देने की घोषणा भी की थी।[5]

कतिपय अभिलेख श्रेणि संगठन पर प्रकाश डालते हैं। श्रेणियों का संचालन प्रमुख या मुखिया करते थे। ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है कि सर्वेश्वरपुर के तैलिकों के चार प्रमुख और श्रीवत्स स्वामिपुर के तैलिकों के दो

---

1. वही, 1, पृ. 162-179
2. वही, 36, पृ. 52
3. आई. ए., 40, पृ. 175
4. प्राचीनकाल में श्रणियां अनेक जनकल्याण कार्य करती थी। 'वृहस्पति स्मृति' के अनुसार श्रेणियों के कार्य कलापों में जनोपयोगी बातें सम्मिलित होती थीं। वे सभागृहों और यात्रियों के लिए विश्राम गृहों का निर्माण करवाती थीं। इसी प्रकार श्रेणियां मन्दिर बनवाती, सरोवर खुदवाती तथा उद्यान लगवाती थी। वे निर्धनों और असहायों को शास्त्रों के अनुसार संस्कार और यज्ञ कार्य करने के लिए भी सहायता देती थी। (वृह., 17, 11, 12)
5. जे. आर. ए. एस. बी. (न्यू. सी.), 10, पृ. 241-43

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमुख थे।[1] झालरापाटन अभिलेख में तैलिक श्रेणि के प्रमुख जनक (तेली-पट्टिकिल) का उल्लेख हुआ है।[2] इसी प्रकार वि. सं. 1074 के शेरगढ़ (कोटा) से प्राप्त एक अभिलेख में तैलिकराज (तैलिक श्रेणि का प्रमुख) थीयक का उल्लेख हुआ है।[3] राजकीय अधिकारियों की सलाह से श्रेणि प्रधान अपनी श्रेणि के सदस्यों पर कर लगा सकता था और उसकी ओर से सौदा तथा लेन देन कर सकता था :[4] 'स्मृतिचन्द्रिका' में समूह के मुखिया के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। उस समय ऐसा कोई नियम नहीं था जिसके अनुसार व्यापारी समूह (श्रेणि) के प्रधान के उच्छृंखल हो जाने पर समूह के सदस्य उसे निष्कासित कर सकें। वस्तुतः उसके स्वेच्छाचारी आचरण पर प्रतिबन्ध लगाना असम्भव था। ऐसी परिस्थिति में राजा हस्तक्षेप करता था। वह मुखिया पर अर्थदण्ड लगा सकता था और उसकी सम्पत्ति भी छीन सकता था।[5] इससे स्पष्ट है कि केवल राजा को ही मुखिया को दण्डित करने का अधिकार प्राप्त था, समूह को नहीं। प्रत्येक श्रेणि का अपना एक भवन होता था जहां सभी सदस्य एकत्र होकर व्यापार सम्बन्धी विचार विमर्श कर सकते थे।[6]

नाप और तौल

हमारे अध्ययनकाल के अभिलेखों में नाप तौल सम्बन्धी कुछ तथ्य उपलब्ध है। राजस्थान के विभिन्न भागों में नाप और तौल के अनेक मानक और प्रणाली प्रचलित थी। नाप और तौल की समुचित व्यवस्था हेतु राज-कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। अथूर्णा प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि गुड़, कपास, सूत, यव (जव) मन्जिष्ठ, नारियल आदि की मापक गणना 'भरक' कहलाती थी। सुपारी का भाव सहस्र की गणना से होता था।[7] वि. सं. 1053 के बीजापुर अभिलेख में नाप और तौल के पल, कर्ष, आढक,

---

1. इ. आई., 1, पृ. 159 और आगे, 'वृहस्पतिस्मृति' के अनुसार प्रत्येक श्रेणि में दो, तीन अथवा पांच प्रबन्ध अधिकारी होने चाहिये। उद्धृत, मजूमदार, रमेशचन्द्र, प्राचीन भारत में संघठित जीवन, पृ. 66-67
2. जे. ए. एस. बी., 1914, पृ. 241-43
3. इ. आई., 23, पृ. 138
4. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 132
5. स्मृतिचन्द्रिका, 3, पृ. 50
6. पुरी, बी. एन., हिस्टरी ऑफ गुर्जर प्रतिहार, पृ. 131, वृहस्पति स्मृति, 17/11
7. इ. आई., 14, पृ. 297

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मानक, द्रोण और कलश जैसे विविध मानों का उल्लेख हुआ है।[1] मथनदेव के राजौरगढ़ अभिलेख में घी और तेल के प्रत्येक घटक-कूपक से दो पल्लिका राजकीय शुल्क वसूल किये जाने का उल्लेख है।[2] तासी अभिलेख में रणादित्यदेव को दिये गये दान में विभिन्न नाप और तौल का विवरण मिलता है। प्रस्तुत अभिलेख में दीपक व्यवस्था के लिये दो पल तेल, गुग्गुल फूलों की चालीस माला, आठ मासा कुमकुम और शराब की दो चतिकायें दिये जाने की व्यवस्था की गई है।[3] 9वीं शताब्दी के मण्डोर से प्राप्त एक अभिलेख में वहां के केशव मन्दिर को एक कर्ष तेल देने की व्यवस्था की गई है।[4] यहीं से प्राप्त 12वीं शताब्दी के एक अभिलेख में दान में दी गई वस्तुओं में एक पल कस्तूरी प्रदान करने का उल्लेख हुआ है।[5] चाहमान शासकों के अभिलेखों में किन्चित भिन्न प्रकार के तौल मानों का उल्लेख मिलता है। रायपाल के नाड़लाई अभिलेख के अनुसार प्रतिघाणक से दो पल्लिका तेल नाड़लाई और बाहर से आये जैन सन्तों को प्रदान किये जाने के आदेश दिए गए हैं।[6] यहीं से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में राजदेव द्वारा महावीर चैत्य के साधुओं के निमित्त दिये गये दान का विवरण प्राप्त होता है। तदनुसार अभिनवपुत्र बदार्य्या और नाडलाई के बणजारे भरवाहक वृषभों पर लदे हुए प्रति 20 पाइलों पर लाग स्वरूप दो रुपये देते थे और धर्म के लिए प्रत्येक किराना के गाड़े से एक रुपया।[7] लालराई अभिलेख से ज्ञात होता है कि भीवड़ा, आसधर तथा अन्य समस्त सीरवी किसानों ने श्री शान्तिनाथदेव के गूजरी यात्रा उत्सव निमित्त खाडिसीर नामक खेत से चार सेई यव प्रदान किया था।[8] सच्चिका माता के ओसियां स्थित मन्दिर की प्रशस्ति[9] में व्यवस्था की गई है कि भोजक को पारिश्रमिक के रूप में देवी के

1. वही, 10, पृ. 17-20
2. वही, 3, पृ. 266
3. वही, 36, पृ. 49
4. ए. एस. आई., 1909-10, पृ. 100
5. आर्कियोलोजिकल सर्व रिपोर्ट, 1909-10, पृ. 102-3
   चार कर्ष के बराबर एक पल होता था (इ. आई., 45, पृ. 318) याज्ञवल्कय स्मृति (1/364) में एक पल को चार या पांच सुवर्ण के बराबर माना है।
6. इ. आई., 11, पृ. 35
7. वही, पृ. 42
8. वही, पृ. 50
9. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 198

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कोष्ठागार से प्रति दिन दो अंजुल मूंग[1] और एक कर्ष प्रदान किया जाय। उदयसिंहदेव के भीनमाल अभिलेख में दो सेई पक्के गेहूँ, एक मान मूंग, दो पायली चावल और 8 कलश घी इत्यादि का विवरण दिया गया है।[2]

हमारे अध्ययनकाल के कतिपय अभिलेखों में भूमि माप सम्बन्धी सूचनाएं प्राप्त होती है। भूमि दान देते समय दाता के द्वारा दान दिये गये क्षेत्र की सीमा बताना तथा उसके माप का स्पष्ट उल्लेख करना अत्यावश्यक होता था। विचाराधीन काल के अभिलेखों में भूमि माप का उल्लेख दो रूपों में मिलता है। प्रथम श्रेणी में क्षेत्र की लम्बाई चौड़ाई नापने के लिए 'हल', 'पादावर्त', 'निवर्तन', नल (अथवा नालक) प्रभृति साधनों की गणना की जा सकती है। द्वितीय श्रेणि में पैमाइश के उन साधनों का नामोल्लेख है जो बीज बोने के माप के लिए प्रयुक्त किए जाते थे, यथा पाटक, द्रोण, मणि, कुल्यवाप आदि।

वि. सं. 1221 के साण्डेराव अभिलेख[3] में कहा गया है कि केल्हणदेव की माता ने राजा की व्यक्तिगत सम्पति में से षडेरकीय मूलनायक महावीरदेव के चैत्रवदि 13 को होने वाले कल्याणिक उत्सव के निमित्त युंगधर्या हाएल[4] प्रदान किया था। अश्वराज के वि. सं. 1176 के सेवाड़ी अभिलेख में दान का उल्लेख करते हुए व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक पद्राड़ा, मेद्रचा, छेछड़िया व मदद्डी ग्रामों के प्रत्येक रहट्ट से एक हारक यव प्रदान किया जाना चाहिये।[5] केल्हणदेव के वि. सं. 1233 के लालराई से प्राप्त एक अभिलेख[6] में कीर्तिपाल के पुत्रों व उसकी रानी महिदेवी के द्वारा ग्राम पंचों के समक्ष शान्तिनाथदेव की रथ यात्रा उत्सव के निमित्त भादियाउव ग्राम के उरहारि रहट्ट से एक हारक[7] यव प्रदान किये जाने का उल्लेख हुआ है।

---

1. कुवलयमाला (105/1) में भी अंजुल का उल्लेख हुआ है।
2. इ. आई., 11, पृ. 56
3. वही, पृ. 47
4. भण्डारकर के अनुसार इसका अर्थ एक दिन में जोती जाने वाली भूमि है। किन्तु इसका सही माप बताना सम्भव नहीं है क्योंकि विभिन्न कालों में विभिन्न प्रकार की भूमि जोती जाती थी। परन्तु वी. वी. मिराशी (कार्पस,4, भू. पृ. 170) के मतानुसार यह लगभग पांच एकड़ भुमि के बराबर होता था।
5. इ. आई. 11, पृ. 30
6. वही, पृ. 181
7. हारक शब्द एक विशेष नाप की टोकरी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चौलुक्य भीमदेव के एक ताम्रपत्र में नौ हाएल को चार विंशोपक के तुल्य बताया है।[1] सी. डी. दलाल विंशोपक की पहिचान बीघा से करते हैं।[2] गणितसार से ज्ञात होता है कि हाएल 483840 यव के बराबर अर्थात् 1/3 कोस से अधिक नहीं होता था।[3]

भोजदेव के वि. सं 1076 के दान शासन में भोजदेव द्वारा बड़ौदा के ब्राह्मण भाइल को भूमि के 100 निवर्तन प्रदान किये जाने का उल्लेख हुआ है।[4] प्राणनाथ विद्यालंकार के अनुसार निवर्तन सामान्यतया एक एकड़ के बराबर होता था।[5] डी. सी. सरकार ने इसका माप 240 × 240 वर्ग हस्त अर्थात् लगभग 3 एकड़ भूमि के बराबर माना है।[6]

वि. सं. 894 के मूंगथला अभिलेख से ज्ञात होता है कि सुभद्र नामक व्यक्ति ने मूंगदेश्वर के शिव मन्दिर के निमित्त बन्जर और उपजाऊ भूमि के छः खण्ड दान स्वरूप दिये थे। इन भूखण्डों का कुल नाप सात 'द्रोण' था।[7] नाणा अभिलेख में द्रोण और कुमारद्रोण का उल्लेख भूमि माप के मानक रूप में हुआ है।[8] वि. सं. 1003 के प्रतापगढ़ अभिलेख में उतनी भूमि दान दिये जाने का वर्णन है जो दस माणि बीज से बोई जाती थी।[9] अनुमानतः माणि (मन) को भी क्षेत्रमाप के लिए प्रयुक्त करते थे। सामान्यतया एक माणि (मन) बीज से एक बीघा खेत बोया जाता है। अतः उक्त दान में दस मन बीज बोये जाने योग्य भूमि दान दी गयी थी। उक्त अभिलेख में एक चरस से सिंचित होने वाले खेत को कोशवाह कहा गया है।[10] अभिलेखों में खेतों के नामकरण करने की प्रथा का भी संकेत मिलता है। प्रतापगढ़ से प्राप्त वि. सं. 999 के अभिलेख में बबूल वृक्ष के निकट स्थित खेत को बब्बूलिका कहा गया है।[11]

---

1. एच. आई. जी., 2, पृ. 79
2. लेखपद्धति, पृ. 106
3. जे. एन. एस. आई., 8, पृ. 138
4. इ. आई., 11, पृ. 181-82
5. प्राणनाथ, ए स्टडी इन द इकानामिक कण्डीसन्स् ऑफ एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ. 83
6. सरकार, डी. सी., सक्सेसर्स ऑफ द सातवाहनज, पृ. 300
7. जे. यू. पी. एच. एस., 3, 1
8. इ. आई., 33, पृ. 238
9. वही, 14, पृ. 182
10. वही।
11. वही, पृ. 187

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिक्के

व्यवसाय वाणिज्य तथा उद्योग में विनिमय माध्यम के लिए सिक्कों का प्रचलन आवश्यक है। पूर्वमध्यकालीन राजस्थान के विभिन्न भागों में भी सिक्कों का प्रचलन था। विचाराधीनकाल के अभिलेखों विशेषतः दानशासनों में पारुत्थ, द्रम्म, विंशोपक, रूपक, लोहतिका नामक मुद्राओं का उल्लेख मिलता है।

पारुत्थ

पारुत्थ उस समय प्रचलित मुद्राओं में से एक थी। चित्तौड़ से प्राप्त वि. सं. 1028 के एक अभिलेख में नरवर्मा द्वारा 'महावीर जिनालय' के लिए दो पारुत्थ दिये जाने का उल्लेख है। जिनपाल की 'खरतरगच्छ पट्टावली' में इसका दो बार उल्लेख हुआ है।[1] 'लेखपद्धति' से ज्ञात होता है कि चान्दी का यह सिक्का भीनमाल की टंकशाल में तैयार किया जाता था।[2] 'पुरातन-प्रबन्धसंग्रह' के अनुसार पारुत्थ का मूल्य आठ साधारण द्रम्म के बराबर था।[3] दशरथ शर्मा के विचारानुसार यह मालवा, गुजरात, कोंकण और राजस्थान के क्षेत्रों में चलने वाला सिक्का था।[4]

द्रम्म—अभिलेखों में 'द्रम्म' नामक सिक्के का उल्लेख बहुलता से हुआ है। यह यूनानी सिक्के के लिए प्रयुक्त 'द्रेखम्' शब्द का अपभ्रंश है। अभिलेखों में द्रम्म की कतिपय अन्य आख्याएं यथा 'द्र'[5], 'द्रा'[6], 'दां'[7] इत्यादि भी मिलती है। बी. जे. सेन्द्रससर के अनुसार यह सिक्का 5 रुपए मूल्य के बराबर होता था।[8]

मारवाड़ के गोठमङ्गलोद स्थान से प्राप्त गुप्त संवत् 289 (608 ई.) के अभिलेख[9] में 'द्रम्म' का उल्लेख हुआ है। सारणेश्वर प्रशस्ति[10] से ज्ञात

---

1. सोमानी, वीर भूमि चित्तौड़, पृ. 221
2. लेखपद्धति, पृ. 34, 43 व 44
3. आई. एच. क्यू., 26, पृ. 244 पाद टिप्पणी, 4
4. रा. श्रू. ए., पृ. 498
5. इ. आई., 11, पृ. 47, 48, 58, इ. आई.; 1916, पृ. 79, नाहर, पू. च., जैन. ले. सं.; 1, पृ. 208, 232, 251; नाहर, पू. च., जै. ले. सं.; 2, पृ. 163; बी. जी., पृ. 472
6. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 250; इ. आई. 11, पृ. 59-61
7. वही; इ. आई., 2, पृ. 32-33
8. जे. एन. एस. आई., 8, पृ. 144
9. इ. आई., 11, पृ. 299
10. बी. आई., 2, पृ. 67-68

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है कि गुहिल शासक अल्लट ने एक मन्दिर के निर्वाह के लिए उधर से गुजरने वाले व्यापारिक माल से लदे प्रत्येक हाथी पर एक द्रम्म तथा श्रृंगी पशुओं पर द्रम्म का चालीसवां भाग कर के रूप में लिये जाने की व्यवस्था की थी। शक्तिकुमार के आहड़ अभिलेख[1] में शक्तिकुमार द्वारा सूर्य मन्दिर के लिए प्रति वर्ष 14 द्रम्म दिये जाने का उल्लेख हुआ। वि. सं. 1030 के हर्ष अभिलेख[2], वि. सं. 1172 के सेवाड़ी अभिलेख[3], आल्हणदेव के वि. सं. 1205 के ताम्रपत्र[4], वि. सं. 1228 के नाड़लाई अभिलेख[5], वि. सं. 1305 के भीनमाल अभिलेख[6] और समसामयिक ग्रंथों में 'द्रम्म' का उल्लेख मिलता है। उक्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि हमारे अध्ययनकालीन राजस्थान में इस सिक्के का बहुत प्रचलन था।

द्रम्म अनेक रूपाकृतियों में प्रचलित था। शेरगढ़ के वि. सं. 1084 के एक अभिलेख में संक्रान्ति के अवसर पर ठाकुर देवस्वामी द्वारा प्रति माह दो 'वराह' दिये जाने का उल्लेख हुआ है।[7] प्रतिहार प्रथम भोज ने 'आदिवराह' प्रकार के सिक्के प्रचलित किये थे। इसके अग्रभाग में भगवान् विष्णु के वराह अवतार की आकृति उत्कीर्ण है तथा पृष्ठ भाग पर मिहिर भोज की 'श्री मदादिवराह' उपाधि अंकित है। ऐसे सिक्के बघेरा से प्राप्त हुए हैं।[8] वराह चांदी का लगभग 60 ग्रेन भार का सिक्का था।

कतिपय अभिलेखों में 'अजयदेव मुद्रा' का उल्लेख मिलता है। मेनाल से प्राप्त वि. सं. 1225 के एक अभिलेख[9] में माथुर कायस्थ ठाकुर विल्हण और उसके भाई धनेश्वर द्वारा सुद्देश्वर मन्दिर को जो महाराज्ञी सुहवादेवी द्वारा निर्मित कराया गया था, परोली गांव से प्राप्त आय से बीस द्रम्म प्रति-वर्ष अजयदेव को प्रदान किये जाने का उल्लेख हुआ है। घौड़ से प्राप्त वि. सं. 1228 के एक अभिलेख[10] की सूचनानुसार विजय के पुत्र चाहड़ ने अपने पैतृक

---

1. इ. आई, 39, पृ. 191
2. वही, 2, पृ. 119
3. वही, 11, पृ. 30
4. अ. चौ. डा., पृ. 205
5. इ. आई., 11, पृ. 48
6. बी. जी., 1, पृ. 476
7. इ.. आई, 23, पृ. 133-34
8. आर्कियोलोजिकल सर्व ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, 6, पृ. 202
9. ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1927-28, पृ. 2
10. वही, 1922-23, पृ. 2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मकान को सोलह 'अजयदेवमुद्रा' में बेचा था। 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य में 'अजयप्रिय रूपक' का उल्लेख मिलता है[1] जो सम्भवत: 'अजयदेव' सिक्का ही है। इस मुद्रा प्रकार का प्रचलन चाहमान शासक अजयदेव ने किया था।[2] इसके अतिरिक्त अजयदेव की रानी सोमलादेवी ने ताम्बे के सिक्के भी प्रचलित किये थे।[3]

वि. सं. 1320 के एक जालौर अभिलेख[4] में द्रम्मार्द्ध अर्थात आधे द्रम्म का उल्लेख हुआ है। सारणेश्वर प्रशस्ति[5] में द्रम्मार्द्ध-विंशक अर्थात् द्रम्मार्द्ध का 1/20 वां भाग निर्देशित है। सियोडनी अभिलेख[6] में द्रम्मत्रिभाग अर्थात् द्रम्म का 3/4 भाग और पंचोयक द्रम्म की जानकारी दी गई है।

राजस्थान में चांदी के रूपक नामक सिक्के भी प्रचलित थे।

रूपक

पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य से विदित होता है कि जो द्रम्म अजयराज ने प्रचलित किये थे वे कालान्तर में रूपक कहलाये।[7] परन्तु सारणेश्वर प्रशस्ति[8] में दोनों का पृथक मुद्राओं के रूप में उल्लेख है। तद्नुसार अल्लट ने मन्दिर के निर्वाह हेतु उधर से जाने वाले प्रत्येक हाथी पर एक द्रम्म तथा घोड़े पर दो रूपक कर लिये जाने की व्यवस्था की थी। रूपक का मूल्य द्रम्म से कम था। हस्तिकुण्डी से प्राप्त वि. सं. 1053 के अभिलेख[9] से ज्ञात होता है कि एक ऊंट की बिक्री पर एक रूपक कर लिया जाता था। नाडोल से प्राप्त वि. सं. 1213 के अभिलेख में भी रूपक का उल्लेख हुआ है।[10] बी. एन. पुरी का मत है कि इसका मूल्य द्रम्म के 1/4 और 1/20 के बीच था।[11] श्रीधर के 'गणितसार' में पांच रूपक का मूल्य एक द्रम्म के बराबर माना गया है।[12] इसलिये 13-5 ग्रेन भार के चांदी के सिक्के सम्भवत: रूपक माने जा सकते है।[13]

---

1. पृथ्वीराज विजय, श्लोक 87-88
2. आई. ए., 41, पृ 209
3. अ. चौ. डा., पृ. 46
4. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 238
5. बी. आई., 2, पृ. 67-68
6. इ. आई., 1, पृ. 162-179
7. पृथ्वीराजविजय, 5, 88-89
8. बी. आई., 2, पृ. 67-58
9. इ. आई., 10, पृ. 20
10. ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1937. सं. 8
11. प्रतिहारज़, पृ. 136
12. जे. एन. एस. आई., 8, पृ. 144
13. गोपाल, लल्लनजी, द इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ. 206

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विंशोपक

हमारे अध्ययनकाल में राजस्थान में विंशोपक नामक मुद्रा का भी प्रचलन था। भीनमाल से प्राप्त वि. सं. 1239 के अभिलेख के आधार पर इसका मूल्य द्रम्म से बहुत कम प्रमाणित होता है। इस अभिलेख के उल्लेखानुसार प्रत्येक द्रम्म पर एक 'वि' कर लिया जाता था।[1] डी. आर. भाण्डारकर के अनुसार इस ताम्र मुद्रा का मूल्य द्रम्म के बीसवें भाग के मूल्य के बराबर था।[2] ठक्कुर फेरु के 'गणितसार' में बीस विंशोपकों को एक द्रम्म के मूल्य के बराबर बताया गया है।[3] वी. वी. मिराशी के मतानुसार द्रम्म के बीसवें भाग होने के कारण ही इस मुद्रा को 'विंशोपक' कहा गया है।[4] मथनदेव के राजौर अभिलेख में व्यापारिक वस्तुओं से भरे प्रत्येक बोरे पर तीन विंशोपक कर के रूप में लिये जाने का उल्लेख है।[5] नाड़लाई से प्राप्त वि. सं. 1200 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि रायपालदेव के शासनकाल में राउत राजदेव ने रथयात्रोत्सव पर अपनी माता और धर्म के नाम पर प्रत्येक घाणक से एक विंशोपक दिये जाने की व्यवस्था की थी।[6] कतिपय अभिलेखों में 'द्रम्म' और 'विंशोपक' दोनों का साथ साथ उल्लेख हुआ है। शाकम्भरी के व्यापारियों ने नमक के प्रत्येक कुटक (ढ़ेरी) पर एक विंशोपक तथा प्रत्येक घोड़े की बिक्री पर एक द्रम्म मन्दिर के निमित्त दिये जाने की घोषणा की थी।[7] नाणा से प्राप्त वि. सं. 1257 के एक अभिलेख में गौड़ कायस्थ उदयसिंह द्वारा ब्राह्मणों की कपिल (गोशाला) में 33 द्रम्म और 6 विंशोपक दान स्वरूप दिये जाने का उल्लेख है।[8] वि. सं. 1236 के अथूर्णा अभिलेख[9] में वृष विंशोपक का उल्लेख हुआ है। इसकी पहिचान वृष और शिव प्रकार के सिक्कों से की जाती है।

लोहतिका

आल्हणदेव के वि. सं. 1205 के एक ताम्रपत्र में ,लोहतिका' नामक

---

1. बी. जी., 1, पृ. 47
2. इ. आई., 10, पृ. 19 पाद टिप्पणी, 3
3. अ. चौ. डा,, पृ. 319
4. कॉर्पस, 4, पृ. 189, पाद टिप्पणी, 7
5. इ. आई., 3, पृ. 363
6. वही, 11, पृ. 41
7. वही, 2, पृ. 121-22
8. पी. आर. ए. एस., डब्ल्यू. सी., 1907-08, प. 49
9. इ. आई., 14, पृ. 295

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिक्के का उल्लेख हुआ है।[1] एक भीनमाल अभिलेख में प्रयुक्त शब्द 'लौ' का तात्पर्य 'लोहतिका' ही प्रतीत होता है।[2] श्रीधर के गणितसार के अनुसार चार लोहतिका का मूल्य एक रूपक के मूल्य के बराबर होता था।[3] भाण्डारकर ने लोहतिका का मूल्य विंशोपक के बराबर ही माना है। अतः लोहतिका द्रम्म के बीसवें भाग के बराबर निश्चित होता है।[4] सियोडनी अभिलेख में भी अर्द्ध द्रम्म को 10 'वि' अर्थात् 10 विंशोपक के बराबर बताया है।[5] साहित्य में भी 'लोहतिका' का उल्लेख मिलता है। एक उल्लेखानुसार यद्यपि 'नागड़' ने जालौर पर आक्रमण किया था तथापि क्षतिपूर्ति के रूप में उसे एक 'लोहतिका' भी प्राप्त नहीं हुआ था।[6] साण्डेराव के वि. सं. 1236 के एक अभिलेख[7] से ज्ञात होता है कि केल्हणदेव की रानी जाल्हणदेवी ने अपना भवन पार्श्वनाथ को भेंट दिया था और उसमें रहने वाले को चार द्राएला प्रति वर्ष प्रदान करने की आज्ञा जारी की थी।

कर्पदक वोदी

शेरगढ़ से प्राप्त एक अभिलेख में कर्पदक वोदी का उल्लेख हुआ है।[8] ए. एस. अल्तेकर ने वोदी का वास्तविक रूप वोदरी माना है। उनके अनुसार यह ताम्बे के पण का चौथाई भाग था। अतएव कर्पदक वोदी बीस कौड़ियों के बराबर था। लल्लनजी गोपाल के अनुसार 'वोदी' शब्द सिक्का नहीं वरन् द्रव्य के मूल्य का बोधक था।[9] कर्पदक 'वोदी' का उपसर्ग है। वोदी की गणना और इसका भुगतान कौड़ी विशेष के रूप में होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कोटा क्षेत्र में कौड़ियों का प्रचलन सिक्कों के रूप में था।

कर्ष तथा पण

'कर्ष' एक प्राचीन नाप था। चरक इसे लगभग एक तोले के बराकर मानते हैं। उसके अनुसार चार कर्ष एक पल के बराबर होता था।[10] 'मनु-स्मृति' में एक कर्ष (80 रत्ती) तांबे के सिक्के को 'पण' कहा गया है।[11]

---

1. अ. चौ. डा., पृ. 205
2. बी. जी., 1, सं. 8 और 16
3. जे. एन. एस. आई., 8, पृ. 138
4. का. ले., पृ. 208
5. इ. आई., 1, पृ. 162-179
6. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ. 50
7. नाहर, पू. च., जै. ले. स. 1, पृ. 229
8. इ. आई., 33, पृ. 135
9. गोपाल, लल्लनजी, द इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ. 213
10. अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत वर्ष, पृ. 241
11. वही, पृ. 241 पर उदधृत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सम्भवतः 'कुवलयमाला' के लेखक उद्द्योतनसूरि के समय कर्ष शब्द तौल एवं मुद्रा दोनों के लिए प्रयुक्त होता था।[1] इस तथ्य की पुष्टि तत्कालीन अभिलेखों से भी होती है। मण्डोर से प्राप्त नवीं शती के एक अभिलेख में स्थानीय केशव मन्दिर को एक कर्ष तेल देने का उल्लेख हुआ है।[2] दूसरी तरफ हस्ति-कुण्डी अभिलेख[3] से ज्ञात होता है कि जुआरियों तथा पान और तेल विक्रेताओं से एक कर्ष वसूल किया जाता था। स्पष्टतः यहां कर्ष नामक मुद्राओं को कर रूप में प्राप्त किये जाने का उल्लेख है। ओसियां के वि. सं. 1236 के एक अभिलेख में भी देवी मन्दिर में कार्यरत भोजक को पारिश्रमिक रूप प्रति दिन दो अन्जलि मूंग और एक कर्ष देने का वर्णन है।[4]

भोजदेव के कामा अभिलेख में 'पण' और द्रम्म दोनों का एक साथ उल्लेख हुआ है।[5] पण एक ताम्रमुद्रा थी। 'द्रव्य परीक्षा' (लेखन काल 1327 ई.) में 16 पण को एक रजत द्रम्म के बराबर माना गया है। 'लीलावती' में बीस वराटक (कौड़ी) को एक काकिणी और चार काकिणी को एक पण के बराबर माना है। 'गणितसार' में इसका समर्थन किया गया है।

कौड़ी

राजस्थान के अभिलेखों में कौड़ी का उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः यहां इसका प्रचलन व्यापक रूप से नहीं था। किन्तु साहित्य में विनिमय माध्यम के रूप में कौड़ी का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रसंग में 'गणितसार' की निम्न तालिका उल्लेखनीय है —

5 कौड़ी = 1 पाविसा

4 पाविसा = 1 बिसा

5 बिसा = 1 लोहतिका

4 लोहतिका = 1 रूपा (रुपक)

5 रूपा = 1 द्रम्म

---

1. जैन, प्रेम सुमन, कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, 1975, पृ. 197
2. ए. एस. आई., 1909-10, पृ. 100
3. इ. आई., 10, पृ. 17-20
4. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1, पृ. 198
5. इ. आई., 24, पृ. 141

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसी प्रकार 'द्रव्य परीक्षा'[1] में निम्नलिखित तालिका दी गई है —

20 कौड़ी = 1 ताम्र कांकिणी
4 कांकिणी = 1 ताम्र पण
16 पण = 1 रजत मुद्रा (द्रम्म)

उक्त विवरण से आभासित है कि कौड़ी का व्यवहार दैनिक जीवन में अवश्य होता था।

ब्याज की दर

पूर्वकालीन पद्धति के अनुसार हमारे अध्ययनकाल में भी व्यापारी लोग ब्याज पर ऋण लिया दिया करते थे। ब्याज मुद्रा तथा वस्तु दोनों रूप में लिया जाता था। अलबरुनी ने ब्याज की दर दो प्रतिशत प्रति माह बतायी है।[2] 'लेख पद्धति' से इसका समर्थन होता है।[3] यदा कदा ब्याज से प्राप्त धन का उपयोग मन्दिरों के निर्माण और सम्बन्धित धार्मिक कार्यों में किया जाता था। भीनमाल से प्राप्त वि. सं. 1262 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि जगतस्वामी मन्दिर के कोष्ठागार को 40 द्रम्म पर 12 द्रम्म वार्षिक ब्याज के रूप में मिलते थे। इस से ब्याज की दर 30 प्रतिशत वार्षिक ज्ञात होती है।[4] भीनमाल के वि. सं. 1306 के एक अन्य अभिलेख[5] से ज्ञात होता है कि 40 द्रम्म पर वार्षिक ब्याज के रूप में निम्नलिखित वस्तुएं प्राप्त होती थी —

गेहूँ — 2 सेई
मूंग — 1 मण
चोखा (चावल) — 2 पायली
घी — $8\frac{1}{2}$ कलश
पूजा की सामग्री — 7 द्रम्म मूल्य की

इस अभिलेख में अन्यत्र 15 द्रम्म पर वार्षिक ब्याज के रूप में निम्नलिखित वस्तुयें प्राप्त होने का उल्लेख है[6] —

गेहूँ—25 पायली
मूंग—3 पायली

---

1. जे. एन. एस. आई., 8, पृ. 138
2. सचाऊ, अलबरुनीज़ इण्डिया, 2, पृ. 150
3. लेखपद्धति, पृ. 33-34
4. बी. जी., 1, पृ. 474
5. इ. आई., 11, पृ. 56
6. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चोखा (चावल)—2 पायली
पूजा की सामग्री—2 द्रम्म की कीमत की।

उपर्युक्त सारणी के आधार पर दशरथ शर्मा ने उस समय ब्याज की दर $33\frac{1}{3}$ प्रतिशत तक मानी है।[1] वि. सं. 1323 के जालौर अभिलेख में 50 द्रम्म पर 1/2 द्रम्म प्रतिमाह ब्याज के रूप लेने का उल्लेख हुआ हैं।[2] इससे ब्याज की दर केवल 12 प्रतिशत वार्षिक निश्चित होती है। सोनगरों की राजधानी होने के कारण जालौर में पूंजी की बाहुल्यता रही होगी। यहां राजनीतिक स्थिरता होना भी ब्याज की दर में गिरावट का एक कारण हो सकता है। उधर भीनमाल में दान प्रवृति को प्रोत्साहित करने के लिए हो सकता है ब्याज दर ऊंची रखी गयी हो। जालौर की ब्याज दर अपवाद भी मानी जा सकती है। परन्तु राजस्थान में अन्यत्र सामान्यतया ब्याज की ऊंची दर का ही प्रचलन था। प्रमाणास्वरूप आबू से प्राप्त गुंडोच के वि. सं. 1288 के भाइल अभिलेख[3] तथा अरासण जैन अभिलेख[4] का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें 30 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर का उल्लेख है। ये अभिलेख हमारे अध्ययनकाल की सीमा से बाद के हैं पर तत्कालीन ब्याज दर के विषय में सामान्य सूचना अवश्य प्रदान करते हैं।

सिक्कों, माप, तोल और ब्याज की दर से उस समय की वस्तुओं के मूल्य का अनुमान लगाया जा सकता है। वि. सं. 1228 के धौड़ अभिलेख से विदित होता है कि 16 द्रम्म से एक मकान खरीदा जा सकता था।[5] भीनमाल के वि. सं. 1306 के एक अभिलेख[6] से ज्ञात होता है कि एक द्रम्म में $8\frac{1}{3}$ पाइली गेहूँ, 1 पाइली मूंग, 2/3 पाइली चावल और 2/3 कलश घी खरीदा जा सकता था। इसी प्रकार साण्डेराव अभिलेख[7] से ज्ञात होता है कि 1 द्रम्म में 1 हाएल युंगघारी जवार खरीदी जा सकती थी तथा 1/2 द्रम्म से श्री महावीर देव का वार्षिक उत्सव मनाया जा सकता था। स्पष्टत: उस समय वस्तुओं की कीमतें बहुत कम थीं।

---

1. अ. चौ. डा., पृ. 336-37
2. नाहर, पू. च., जै. ले. सं., 1 पृ. 240
3. इस अभिलेख में 16 द्रम्म पर 8 विंशोपक प्रति माह ब्याज की दर का उल्लेख है। इसके अनुसार एक वर्ष में 96 विंशोपक ब्याज के रूप में प्राप्त होते थे। यदि एक विंशोपक द्रम्म का बीसवां भाग था तब ब्याज की दर 30 प्रतिशत निश्चित होती है।
4. इस अभिलेख में 120 द्रम्म पर 3 द्रम्म प्रति माह ब्याज देने का उल्लेख है। इसके अनुसार भी ब्याज दर 30 प्रतिशत प्रति वर्ष होती हैं।
5. ए. आर. आर. एम., अजमेर, 1922-23, पृ. 2
6. इ. आई., 11, पृ. 56
7. वही, पृ. 47

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामन्तवाद

भारत में सामन्तवाद : उदय, प्रकृति और परिवर्तनशील रूप

मार्क्स ने मानव इतिहास को चार भागों में विभाजित किया था और उनमें दूसरे युग की 'सामन्तवादी युग' की संज्ञा प्रदान की थी। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इस युग-विभाजन से प्रभावित होकर अनेक इतिहासकारों ने एशिया और यूरोप में सामन्तवाद की उत्पत्ति और विकास का निरूपण किया। भारत में भी डी.डी, कोशाम्बी,[1] आर. एस. शर्मा[2] इत्यादि ने सामन्तवाद के इतिहास को निरूपित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आर. एस. शर्मा ने आठवीं से बारहवीं शताब्दी के युग को सामन्तवाद के चरमोत्कर्ष का काल माना हैं। लेकिन डी.सी. सरकार[3] जैसे बहुत से विद्वान भारत में सामन्तवाद का अस्तित्व उस अर्थ में मानने के लिये प्रस्तुत नहीं है जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग यूरोपीय सन्दर्भ में होता है। डी.सी. सरकार के अनुसार जिस प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय व्यवस्था को इतिहासकार सामन्तवाद कह देते हैं वह वास्तव में जमींदारी व्यवस्था थी। भारत में राजा को स्थायी रूप से बसे हुए किसानों की भूमि का निरकुंश स्वामी कभी नहीं माना गया। भारत के अधिकांश दानपत्र ब्राह्मणों, मन्दिरों और विहारों को भूमिदान दिये जाने से सम्बन्धित हैं और ये वर्ग उन सेवाओं को पूरा करने में असमर्थ थे जो सामन्तवादी व्यवस्था का अभिन्न अंग मानी जाती हैं। उल्टे दानपत्रों में इस बात को बार-बार दोहराया गया है कि दान ग्राहक को विष्टि व अन्य सेवाओं से न्यूनाधिकरूप से मुक्त किया जाता है। डी.सी. सरकार के अनुसार वास्तव में दक्षिण भारत की 'अमर' नामक व्यवस्था को छोड़ कर भारत में सामन्तवादी व्यवस्था कहीं भी नहीं मिलती।[4] लेकिन आर.एस. शर्मा इत्यादि का कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि हम भारत में सामन्तवाद के ठीक उसी रूप को खोजने की चेष्टा करें जो अन्य देशों में मिलती है। सामन्तवाद की जो विशेषताएं यूरोप में मिलती है वे न प्राचीन 'सामन्तवादी' मिस्र में थीं और न चीन में। 'सामन्तयुगीन' भारतीय सामन्तवादी व्यवस्था का अपना

---

1. कोशाम्बी, डी.डी., द कल्चर एण्ड सिविलिजेशन ऑफ एन्श्येण्ट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउट लाइन, अध्याय 7
2. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद
3. सरकार, डी.सी., लैण्डलोर्डिज्म एण्ड टिनेन्सी इन एन्श्येण्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया एज रिवील्ड बाई एपीग्राफिकल रिकार्ड्स, पृ. 32 अ.
4. वही, पृ. 33

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशिष्ट रूप था जिसके कुछ तत्व यूरोपीय सामन्तवाद से सादृश्य रखते हैं, कुछ उससे भिन्न हैं और कुछ पूर्णतया स्थानीय परिस्थितियों का परिणाम थे। अगर हम यह आग्रह स्वीकार कर लेते हैं तब भारत में भी सामन्तवाद का अस्तित्व मानने में कोई बाधा नहीं आयेगी।

भारतीय संदर्भ में अंग्रेजी के 'फयूडलिज्म' शब्द के लिये 'सामंतवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेकिन इस शब्द के अर्थ समय के साथ बदलते रहे हैं। जैसा कि लल्लनजी गोपाल ने अपने एक सुप्रचित शोध-निबन्ध में दिखाया है।[1] इस शब्द का अलग-अलग युगों में अलग-अलग आशय था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' व जातक कथाओं में इस शब्द का अर्थ स्वतंत्र पड़ौसी नरेश है।[2] 'मनुस्मृति'[3] व 'याज्ञवल्क्य स्मृति'[1] में इस शब्द का प्रयोग उन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के लिये किया गया हैं जो ग्राम सीमा विषयक विवादों को सुलझाने में सहायता देते थे। 'रघुवंश' में इस शब्द का प्रयोग उन पड़ोसी राज्यों के लिये हुआ है जो स्वामी नरेश द्वारा अपने अधीन कर लिये जाते थे।[5] आभिलेखिक दृष्टि से इस शब्द का प्रयोग गुप्त काल से मिलना प्रारम्भ होता है। गुप्तवंश के अभिलेखों में इस शब्द का महासामन्त रूप में प्रयोग सर्वप्रथम वैन्यगुप्त के गुणैघर अभिलेख में हुआ है।[6] परन्तु जैसा कि हम अभी देखेंगे, सामन्तवाद का उदय इसके पूर्व ही हो चुका था। दक्षिण भारत में इसका प्रयोग इसके कुछ पहले 'सामन्त चूड़ामणयः' रूप में शान्तिवर्मा कालीन (455-70 ई.) एक पल्लव अभिलेख में हुआ हैं।[7] उत्तर भारत के छठी शताब्दी ईसवी के अभिलेखों में इस शब्द का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। अनन्तवर्मा मौखरि के तिथि विहीन बराबर अभिलेख में[8] और यशोधर्मा के मन्दसौर अभिलेख[9] तथा अन्य अनेक अभिलेखों में इसका उल्लेख मिलता हैं। इन अभिलेखों में यह शब्द किसी स्वामी-राजा के अधीन शासन करने वाले शासकों के लिये प्रयोग में आया है। इसका यही अर्थ बाद में रूढ़ हुआ।

---

1. गोपाल, लल्लनजी, सामन्तः इट्स वेराइंग सिग्नीफिकेन्स इन एन्श्येण्ट इण्डिया, जे.आर.ए.एस., 1-2
2. अर्थशास्त्र, 1-6
3. मनुस्मृति 8-258
4. याज्ञ. 2-153
5. रघुवंश 5-28
6. सरकार, स.इ., पृ. 343
7. पाण्डेय, रा.ब., हिस्टोरिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स् स. 29
8. फलीट, कार्पस, 3, स. 49
9. सरकार, स.इ., पृ. 419

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सामन्तवाद शब्द के साथ जिस राजनीतिक व्यवस्था का सम्बन्ध माना जाता है उसके तत्व यत्र प्राक्गुप्तयुगीन अभिलेखों में मिलता हैं।[1] परन्तु उसका अभिलेखों में सर्वप्रथम स्पष्ट परिचय समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में मिलता है।[2] प्रयाग प्रशस्ति में स्वयं 'सामन्त' शब्द अप्रयुक्त है परन्तु इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त का साम्राज्य सामन्तवादी व्यवस्था पर एक संघ राज्य था जिसमें एक महाराजाधिराज के अधीन अनेक महाराज और महाराजाओं के अधीन अनेक राजा होते थे। अधीन राजा सम्राट को सर्वकरदान, आज्ञाकरण, प्रणामागमन, आत्मनिवेदन (जो प्रणाम आगमन जैसी ही प्रथा थी), कन्योपायनदान स्वविषय भुक्ति शासन याचन इत्यादि नीतियों के द्वारा प्रसन्न करते थे।[3] एस.आर. गोयल ने सिद्ध किया है कि स्वयं समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य में अपने अधीन अनेक राजवंशों को स्थापित किया था।[4] उसके बाद अधीन राजाओं की संज्ञा धीरे-धीरे बढ़ती गयी।[5] स्कन्दगुप्त के कहौम अभिलेख में कहा गया हैं कि उसके सभामण्डप में सैकड़ों राजा उपस्थित होकर सर झुकाते थे।[6] इन राजाओं के अधीन उनसे छोटे राजा होते थे। स्कन्दगुप्त के इन्दौर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके काल में अन्तर्वेदी का शासन 'विषयपति' शर्वनाग देखता था।[7] यह स्थिति बुधगुप्त (लगभग 476-95 ई.) में बदल गई उसके शासनकाल के एरण-अभिलेख[8] में कहा गया है कि यमुना व नर्मदा के मध्य शासन करने वाले 'महाराज' सुरश्मिचन्द्र के अधीन एरण प्रदेश पर 'महाराज' मातृविष्णु शासन करता था। गुप्तों के ह्रासकाल में इस व्यवस्था के सबलतर हो जाने के अनेक

---

1. बी.एन.एस. यादव (सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, पृ. 136) ने भारत में सामन्तवाद का अंकुरण शक-कुषाण युग में माना है। बुद्ध प्रकाश (आस्पेक्टस आन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर) सामन्तवाद का उदय गुप्तकाल में श्रेष्ठी वर्ग के ऊपर भूमिधर कुलीन परिवारों की विजय में मानते हैं।
2. सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ. 263 अ.
3. इन नीतियों के विस्तृत विवेचन के लिये द्र., एस.आर. गोयल, ए हिस्टरी ऑफ दि इम्पीरियल गुप्तज़, पृ. 128 अ.
4. गोयल, वही, पृ. 155 अ.
5. वही, पृ. 295-7
6. सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रिपशन्स्, पृ. 316
7. वही, पृ. 319
8. वही, पृ. 335

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कारण थे। एक, अनेक प्रांतीय शासक जिनका कार्यकाल सम्भवतः सम्राट की कृपा पर निर्भर करता था, सम्राटों के दुर्बल हो जाने पर 'महाराज' उपाधिधारी बन गये और उनके पद आनुवंशिक माने जाने लगे। स्वयं सम्राट् भी उनको प्रसन्न करके अपनी स्थिति सुरक्षित करना चाहते थे। एक मैत्रक अभिलेख में कहा गया हैं कि इस वंश के तीसरे सदस्य ध्रुवसेन को अखिल भूमण्डल के स्वामी ने स्वयं आकर 'महाराज' पद पर अभिषिक्त किया था।[1] दूसरे, गुप्तकाल में ब्राह्मणों को जागीरें देने की प्रथा धीरे-धीरे बढ़ती गयी। इसके परिणाम स्वरूप ऐसे ब्राह्मण जिनके पास काफी बड़ी जागीर हो जाती थी धीरे धीरे छोटे-मोटे राजा बन बैठते थे। डा. गोयल ने ध्यान दिलाया है कि मध्यप्रदेश के परिव्राजक और एरण के 'विष्णु' वंश के आदिपुरुष इसी प्रकार के वेदपाठी और मूलतः अपने जातीय कर्म में रत ब्राह्मण थे, परन्तु उनके उत्तराधिकारी धीरे-धीरे राजा बन बैठे।[2]

गुप्त साम्राज्य की अवनति व मौखरियों के शासनकाल में सामन्तवादी व्यवस्था का जो रूप विकसित हुआ उसका परिमार्जित रूप बाण के 'हर्ष-चरित' व 'कादम्बरी' में मिलता है। इन ग्रंथों में सामन्तवाद का वर्णन इस दृष्टि से प्रयाग-प्रशस्ति में वर्णित सामन्ती व्यवस्था की टीका जैसा लगता है। विशेषरूप से 'हर्षचरित' में बाण ने सामन्तों के अनेक प्रकारों (जैसे सामन्त, महासामन्त, आप्तसामन्त, प्रधान सामन्त, शत्रु सामन्त, प्रतिसामन्त) और सम्राट् के साथ उनके सम्बन्ध का विवरण दिया है।[3] वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' नामक ग्रंथ में हर्षचरित के इस पक्ष की रोचक मीमांसा की है।[4]

उपर्युक्त पृष्ठ भूमि में हमें हर्षोत्तर युगीन राजस्थान के अभिलेखों में सामन्तवाद के विषय में प्रदत्त तथ्यों का अध्ययन करना है। अभाग्यवश इस क्षेत्र में बहुत कम काम किया गया हैं। दिनेशचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ 'अर्ली हिस्टरी ऑफ राजस्थान' में इस प्रदेश का प्राचीन इतिहास अधिकारिक रूप से लिखा है।[5] परन्तु अभाग्यवश उनका ग्रन्थ उस युग के पूर्व समाप्त हो जाता है जब राजस्थान में सामन्तवाद का उदय और विकास हुआ। गोपीनाथ शर्मा ने इस विषय में कुछ महत्वपूर्ण और श्लाघनीय कार्य किया है[6]

---

1. गोयल, पूर्वो., पृ. 357
2. वही, पृ. 299-300
3. हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास
4. अग्रवाल, हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन परिशिष्ट 2
5. शुक्ल, डी.सी., अर्ली हिस्टरी ऑफ राजस्थान, दिल्ली
6. शर्मा, जी.एन., पी.आर.एच.सी., 1970, पृ. 40

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और आर. एस. शर्मा ने भारत में सामन्तवाद के विकास के अध्ययन के अन्तर्गत राजस्थान में भी सामन्तवादी प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया हैं।[1] लेकिन इन्होंने तथा सामन्तवाद पर कार्य करने वाले अन्य विद्वानों मे से किसी ने भी अपना ध्यान विशेषतः पूर्व मध्य कालीन राजस्थान में सामंतवाद के विकास को स्पष्ट करने में नहीं लगाया हैं। नीचे हम राजस्थान में सामन्तवाद के विकास की प्रवृत्तियों की मीमांसा करने का कुछ प्रयास करेंगे।

प्रतिहार साम्राज्य में सामन्तवाद का विकास

हर्षोत्तर युग में उत्तर भारत में जिस राजवंश ने विशेष रूप से साम्राज्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त की, वह प्रतिहार वंश है। प्रतिहारों का उदय एक मत के अनुसार मालवा में हुआ[2] और दूसरे मत के अनुसार राजस्थान में।[3] इनमें से जो भी मत सही हो, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि प्रतिहारों की शक्ति का मुख्य स्रोत राजस्थान था यद्यपि उनकी राजधानी कन्नौज नगर बना। प्रतिहारों के शासन काल में सामन्तवादी व्यवस्था को बहुत प्रश्रय और बल मिला।

प्रतिहारों के अभिलेखों में सामन्तवादी व्यवस्था के विषय में आरम्भ से ही महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होने लगती है। उन्होंने उत्तर भारत में ब्राह्मणों को बहुत से ग्राम दिये जिससे इस वर्ग की शक्ति बढ़ी। 836 ई. में प्रथम भोजदेव ने कान्यकुब्ज भुक्ति के कालिंजर मण्डल में एक पुराने अग्रहार को फिर से दान दिया।[4] यह दान पहले द्वितीय नागभट की अनुमति से दिया गया था लेकिन रामभद्र के शासनकाल में इसका क्रियान्वयन बन्द हो गया था। इसी प्रकार भोज ने गुर्जरत्रा भूमि में अपने प्रपितामह द्वारा प्रदत्त एक अग्रहार के अनुदान को जो किसी कारणवश प्रभावी नहीं रह गया था, पुनः जारी किया।[5] इससे स्पष्ट है कि इस समय तक अग्रहारों के अनुदान आनुवांशिक हो गये थे। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्रतिहार अनुदान पत्रों में दानग्राहकों को केवल अनुदत्त गांवों से होने वाली आय ही सौंपी गई थी, उनको प्रशासन सम्बन्धी अधिकार कम से कम स्पष्ट रूपेण नहीं दिये गये थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिहारों के सामन्तों के राज्यों में भी यह

---

1. शर्मा, आर.एस., भारतीय सामन्तवाद
2. मजूमदार, आर.सी., एज ऑफ एम्पीरियल कन्नौज, पृ. 19
3. शर्मा, दशरथ, रा.अ.ए., पृ. 472 अ.
4. शर्मा, आर.एस., भारतीय सामन्तवाद, पृ. 82 पर उद्धृत
5. इ.आई., 5, पृ 208 अ.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रक्रिया चल रही थी। वि. सं. 1016 में अलवर में प्रतिहारों के एक गुर्जर सामन्त ने एक मठ के गुरु और उसकी शिष्य-परम्परा के लिये एक गांव दान दिया था।[1] रामशरण शर्मा ने प्रतिहारों के राजस्थान से ऐसे अनेक उदाहरण उद्धृत किये हैं[2]। इन उदाहरणों से प्रकट होता है कि धार्मिक अनुदान देने की प्रथा प्रतिहार राजाओं द्वारा प्रत्यक्षरूप से शासित क्षेत्रों में जितनी सबल थी उतनी ही उनके अधीनस्थ सामन्त राजाओं के क्षेत्रों में भी थी। इसमें दान ग्राहकों को न केवल गांवों में कानून और व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व सौंपा जाता था, अपितु विभिन्न करों की वसूली का अधिकार भी प्रदान किया जाता था। इसके लिए दान ग्राहकों को कुछ कर्मचारी नियुक्त करने पड़ते होंगे। निष्कर्षतः राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में धार्मिक अनुदान ग्राहकों का एक ऐसा मध्यस्थ भूमिधर वर्ग उत्पन्न हो गया जिसे आंतरिक शांति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने और राजस्व वसूल करने से सम्बन्धित व्यापक अधिकार प्राप्त थे।

प्रतिहारों के अभिलेखों में धर्मेतर अनुदानों के अधिक उदाहरण नहीं मिलते। उनके एक गुर्जर सामन्त द्वारा दिये गये अनुदान से पता चलता है कि उसे धर्मेतर अनुदान मिला हुआ था क्योंकि उसने अपने क्षेत्र को 'स्वभोगावाप्त वंशपोतक भोग' कहा है।[3] स्पष्ट है कि साम्राज्यिक परिवार का सदस्य होने के नाते[4] उसके प्रतिहार स्वामी ने उसके व्यक्तिगत उपभोग के लिए यह वंशपोतक क्षेत्र दे रखा था। उसको दिये गये दानपत्र से यह भी स्पष्ट है कि उसे अपने क्षेत्र के प्रशासन का भी दायित्व दे दिया गया था।[5]

प्रतिहारों की शासन प्रणाली में उपसामन्तीकरण की व्यवस्था थी। उनके साम्राज्य में अपसामन्तीकरण के कई उदाहरण प्राप्त हैं। वत्सराज के शासनकाल में एक दाता ने गुर्ज्जरत्रा भूमि में अनुदान में प्राप्त अपनी भूमि का छठा हिस्सा भट्ट विष्णु नामक ब्राह्मण को दान कर दिया था।[6] जहाँ तक सामन्त राजाओं का सम्बन्ध है, उनमें कुछ सम्राट की अनुमति से अनुदान देते थे और कुछ अनुमति लिये बिना। वि. सं. 1016 (959ई.) में अलवर क्षेत्र में सामंत मथनदेव ने किसी की अनुमति लिये बिना अपनी जागीर से एक गांव

---

1. इ. आई., 3, पृ. 266
2. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 80–81
3. इ. आई., 3, पृ. 266
4. वही।
5. वही, पृ. 266–67
6. वही, 5, पृ. 208

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक मठ के गुरु और उसके शिष्य-प्रशिष्यों को दे दिया था।[1] इस अनुदान में दानग्राही को भूमि प्रबन्ध के अधिकार का उल्लेख करते समय 'कुर्वत: कारयतोवा'[2] वाक्यांश का प्रयोग है। इसका अर्थ है कि उक्त भूमि पर उसका निर्बाध स्वामित्व उपसामन्तीकरण करने के अधिकार सहित हो गया था और वह राजस्व वसूल करने अथवा खेती कराने का उत्तरदायित्व किसी को भी सौंप सकता था।

अब इससे भिन्न प्रकार के एक अनुदान का उदाहरण लें। प्रतिहार साम्राज्य के एक उच्चापदाधिकारी माधव ने, जो उज्जैन का शासक था, चाहमान सामन्त इन्द्रराज के कहने पर इन्द्रराज द्वारा निर्मित एक मन्दिर को अनुदान दिया।[3] इस अनुदान पत्र पर माधव ने विदग्ध नामक एक अन्य पदाधिकारी के साथ हस्ताक्षर किये थे।[4] इससे स्पष्ट है कि प्रतिहार साम्राज्य में प्रांतीय शासक भी राजकीय अनुमति के बिना अनुदान नहीं दे सकते थे।

गुप्त सम्राटों के समान प्रतिहार शासकों के विरुदों से भी सामन्तवादी सम्बन्धों का पता चलता है। परवर्ती गुप्त राजाओं और प्रतिहार शासकों ने 'परमभट्टारक', 'परमेश्वर' और 'महाराजाधिराज' आदि उपाधियां धारण कीं किन्तु ये उनकी सत्ता में वृद्धि की द्योतक नहीं है।[5] इनसे मात्र यह सिद्ध होता है कि वे अपेक्षया लघुतर शासकों-महाराजाओं के 'अधिराज' थे। महादौस्साधसाधनिक, महाकार्ताकृतिक, महासान्धिविग्रहिक[6] आदि पाल राज्याधिकारियों के पदनामों से पूर्व 'महा' शब्द जुड़े होने से प्रकट होता है कि वे भी धीरे-धीरे महासामन्त और महाराज जैसे सामन्तों की श्रेणी में आ रहे थे।[7] प्रतिहारों के साम्राज्य में तो उच्च पदाधिकारियों के सामन्तीकरण की प्रवृत्ति बहुत ही सबल थी। द्वितीय महेन्द्रपाल का बलाधिकृत कोकट्ट 'परमेश्वर-पादोपजीवी' कहलाता था।[8] इसका समकालीन माधव 'तन्त्रपाल' तथा 'महादण्डनायक' होने के साथ 'महासामन्त' कहा जाता था।[9] फिर, एक नगर का शासक उन्दभट महाप्रतिहार के पद पर था, किन्तु वह महा-

---

1. वही, 3, पृ. 266
2. वही।
3. वही, 14, पृ. 187
4. वही।
5. गोयल, एस.आर., हिस्टरी ऑफ एम्पीरियल गुप्तज, पृ. 295 अ.
6. इ.आई., 17, पृ. 321
7. शर्मा, आर.एस., भारतीय सामन्तवाद, पृ. 98
8. इ.आई., 14, पृ. 187
9. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामन्ताधिपति की उपाधि से भी विभूषित था।[1] इन विरुदों के साथ कुछ अधिकार और कर्त्तव्य सम्बद्ध रहे होंगे, किन्तु हमें उनका कोई ज्ञान नहीं है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि 'महासामन्त' पद काफी उच्च था क्योंकि प्रजाजन जब धार्मिक प्रयोजनों के लिए स्तम्भ स्थापित करते थे तो सम्राट के साथ महासामन्त के शासन का भी उल्लेख करते थे।[2]

उच्च राजकर्मचारियों के साथ सामन्तीय उपाधियां मिलने के दो कारण हो सकते हैं या तो सामन्तों अथवा महासामन्तों को विभिन्न राजपदों पर नियुक्त किया जाता था अथवा उच्चपदाधिकारियों को सामन्ती पद भी दे दिये जाते थे। रामशरण शर्मा के अनुसार[3] पहली सम्भावना कई कारणों से सही नहीं लगती। एक, पद पुराने थे, जबकि सामन्ती उपाधियां नई थीं। दूसरे प्रतिहारों के साम्राज्य में कुछ ऐसे राजकर्मचारी थे जिन्हें आरम्भ में सामन्ती उपाधियां प्राप्त नहीं थीं, बाद में मिली। तीसरे, प्रथम सम्भावना के स्वीकार का अर्थ है कि युवराज को भी पहले महासामन्त बनाया जाता था और तदुपरान्त युवराज-पद पर अभिषिक्त किया जाता था। यह निष्कर्ष असंगत होगा क्योंकि प्रायः ज्येष्ठ पुत्र ही जन्मतः युवराज माना जाता था।

हरिभद्रसूरि (700-770) के प्राकृत ग्रन्थ 'समराइच्चकहा'[4] से प्रतीत होता है कि कभी कभी सामन्तों के लिये 'भृत्य' और 'सम्बन्धी' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता था। इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि पराजित सामन्त नरेश विजेता स्वामी और उसके सामन्तों के 'कुटुम्बी' मान लिये जाते थे।[5] इस प्रकार एक ही राजा से सम्बद्ध दो सामन्त जिनमें से एक शबर था और दूसरा वैश्य, एक दूसरे के साथ 'सम्बन्धी' बताए गए है।[6] इस शब्द का अनुवाद दशरथ शर्मा ने 'कुटुम्बी' किया है। लेकिन ये सामन्त न तो वे एक ही परिवार के थे और न उनके परिवार वैवाहिक सम्बन्ध से जुड़े थे। फिर भी उनको परस्पर 'सम्बन्धी' शब्द का प्रयोग करना पड़ता था क्योंकि स्वामी और उसके सामन्तों के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति और किसी शब्द से ठीक ठीक नहीं हो सकती थी।[7] 'समराइच्चकहा' से हमें यह भी ज्ञात होता है कि जब

---

1. वही, 1, पृ. 173
2. इ.आई., 4, पृ. 309-10
3. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 100
4. पी. आई. एच. सी., 24, 1961, पृ. 80–81
5. वही।
6. वही।
7. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 101

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सीमान्त क्षेत्र के विग्रह नामक एक सरदार ने अपने स्वामी के विरूद्ध विद्रोह किया तो उसके स्वामि-पुत्र ने, जो विग्रह को ज्येष्ठ भ्राता समान मानता था, अपने लोगों को उसके विरूद्ध बहुत सख्त कार्यवाही न करने की मन्त्रणा देते हुए उसका यह कारण बताया: 'यह विग्रह बहुत मामूली सरदार है, लेकिन यह हमारे पिता को कर दिया करता था। इसलिए यह हमारा सम्बन्धी है और हमें उसके विरुद्ध कोई कठोर सैनिक कार्यवाही नहीं करनी चाहिए।'[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह राजकुमार और सामन्त दोनों एक ही स्वामी के आश्रित थे। इस उदाहरण में शासकवंश का एक क्षत्रिय राजुकुमार अपने को शबर जातीय सरदार का अनुजवत् मानता है। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्ध सदैव वंश परम्परा से ही जिस पर वर्ण धर्म आधृत था, निर्धारित नहीं होते थे। कभी कभी इनके पीछे राजनीतिक तथा सैनिक कारण भी हुआ करते थे। धर्मशास्त्रों के अनुसार राजा के आश्रित इस शबर सामन्त को अनार्य कहना चाहिए, लेकिन उसे राजा का पुत्रवत् माना गया है।

अन्य साम्राज्य में सामन्तवाद का विकास

दसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य की अवनति के साथ उत्तर भारत का राजनीतिक विघटन हुआ। 1075 में कैवर्त विद्रोह के समय बंगाल और बिहार लगभग दस लघु राज्यों में विभाजित थे। इन राज्यों के शासक अपने पाल स्वामी का प्रभुत्व नाम मात्र को ही मानते थे। जब पालों का स्थान सेनों ने ले लिया तो उनकी प्रभुसता को मिथिला के कर्णाटों और शायद दक्षिण-पूर्व बंगाल में ईश्वरघोष के वंशजों ने चुनौती दी। उनके अतिरिक्त अन्य अनेक सामन्त राजवंश सेनों को परेशान करते रहे। इसी प्रकार अधिकांश आधुनिक उत्तर प्रदेश पर गाहड़वालों का अधिकार हुआ किन्तु गोरखपुर के कलचुरि उनके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बने। राजस्थान, गुजरात और मालवा की अवस्था तो और भी बुरी थी। चाहमान पांच शाखाओं में विभाजित थे और भड़ौच, जालौर (जाबालिपुर, 12 वीं शती के मध्य स्थापित), शाकम्भरी, नाडोल और रणथम्भोर में पृथक्त: शासन करते थे। भड़ौच तथा रणथम्भौर के चाहमान 13 वीं शती के प्रारम्भ में प्रसिद्ध हुए, किन्तु उनका अस्तित्व पहले से ही था। 12 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गुहिलों ने जाबालिपुर के चाहमानों को परास्त किया और 1207 से लेकर 1227 के बीच किसी समय पूर्णत: स्वतन्त्र हो गये। दिल्ली और अजमेर प्रदेश भी तोमरों के अधीन हो गया। इसी प्रकार मालवा और उसके आस पास के क्षेत्रों में शासन करने वाले परमार चार शाखाओं में

1. पी. आई. एच. सी., 1961, 24, पृ. 81

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विभक्त हुए। इनमें एक का केन्द्र मालवा था, दूसरे का आबू, तीसरे का भीनमाल और चौथे का किराडू। ये सभी शाखाएं बारहवीं शताब्दी में शासन कर रही थीं। स्पष्टतः इनमें से कुछ का उदय राजकुमारों के बीच पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के कारण हुआ। लेकिन शेष राज्य सामन्तों और उच्च पदाधिकारियों को अनुदान स्वरूप छोटे बड़े क्षेत्र देने के कारण अस्तित्व में आये। अनुदत्त क्षेत्रों में दानग्राहक धीरे-धीरे अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति बढ़ा लेते थे और अन्ततोगत्वा स्वतन्त्र शासक बन जाते थे।

उपर्युक्त लघु राज्यों के बीच चलने वाले निरन्तर युद्धों के प्रशासनिक एवं आर्थिक परिणामों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। पुलिस, न्यायपालिका और राजस्व विभागों के बिना कोई राज्य नहीं चल सकता था। इनके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य के अपने अलग सामन्त, पुरोहित तथा मन्दिर थे। स्पष्ट है कि इन सबका भार किसानों को वहन करना पड़ता होगा।

चाहमान युगीन राजनीतिक सामन्तवाद की एक विशेषता राजस्व के लिए अनेक गांवों की इकाइयों का निर्माण है। चाहमानों और परमारों के राज्यों में ऐसी कई इकाइयों की चर्चा है। शायद ये इकाइयां शासकवंश के सदस्यों में पैतृक राज्य के विभाजन से बनी थीं। चाहमानों के कई अभिलेखों से सिद्ध है कि सामन्त नरेशों की भूमि उन परिजनों के बीच में बांट दी जाती थी। इसका सबसे पहला प्रमाण भूतपूर्व जयपुर राज्य से प्राप्त चाहमानों की शकम्भरी शाखा का वि. सं. 1030 का एक अभिलेख है।[1] इसके अनुसार राजा सिंहराज, उसके दो भाई वत्सराज और विग्रहराज, दो पुत्र गण्डराज और गोविन्दराज तथा दूर के एक रिश्तेदार जयनराज एक शिव मन्दिर को अपने अपने स्वभोग में से गांव और पुर वे दान दिये थे।[2] स्पष्ट है कि इन्हें प्रत्येक को अपनी पदप्रतिष्ठा और राजसेवा के अनुसार निर्वाह के लिए जागीरें मिली हुई थीं। इस अभिलेख से यह भी स्पष्ट है कि राजा ही नहीं बल्कि शासक परिवार के अन्य सदस्य भी स्वभोग में से चाहे जिसका जितना भी अंश दान में दे सकते थे।

ऐसे अनुदान से कुछ भिन्न उदाहरण हमें बारहवीं शताब्दी में मिलते हैं। 1143 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रीतिहुणक नाम की एक चाहमान रानी को गिरास (ग्रास–भोजन और वस्त्र प्राप्त करने के साधन)[3] के

---

1. इ. आई., 2, पृ. 116
2. वही।
3. तुलनीय, छठी शती में मगध की रानी कोसलादेवी को अपने पिता से 'स्नान चुन्न मूल्य' रूप में काशी के ग्रामों की प्राप्ति तथा मध्यकालीन रानियों का खर्च-ए-पानदान। द्र. गोयल एवं गुप्त (सम्पा.), मागध साम्राज्य का उदय, 1981, पृ. 90 तथा पाद टिप्पणी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप में एक गांव मिला था।[1] स्पष्टत: इस रानी को उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल एक निजी जागीर मिली हुई थी। राजकुल के सदस्यों द्वारा दान दिये जाने का एक स्पष्ट उदाहरण 1161 के एक नाडोल दानपत्र में है। इसके अनुसार 'राजकुल' अल्हणदेव और 'कुमार' केल्हणदेव ने संयुक्त रूप से 'राजपुत्र' कीर्तिपाल को बारह गांव समस्त अधिकारों के साथ दिये थे।[2] कीर्तिपाल को यह जागीर सदैव के लिए दे दी गयी थी, क्योंकि जब उसने एक जैन मन्दिर को इन गांवो में से प्रत्येक द्वारा होने वाली आय में से दो-दो सौ द्रम्मों का वार्षिक अनुदान दिया तब अपने उत्तराधिकारियों से अनुरोध किया कि वे उसके इस अनुदान की शर्तों का उल्लंघन न करें।[3] दसवीं शताब्दी के एक चाहमान अभिलेख में बारह गांवों की एक इकाई का उल्लेख मिलता है।[4] लेकिन यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि यह इकाई व्यक्तिगत जागीर के रूप में किसी को दी गयी थी या नहीं। शासक कुल के सदस्यों को भूमि अनुदान देने की प्रथा कीर्तिपाल के उत्तराधिकारियों के समय में भी मिलती है। 1176 के एक दानपत्रानुसार उसके दो पुत्र राजपुत्र लखणपाल और राजपुत्र अभयपाल सिनाणव गांव के भोक्तृ थे।[5] एक और गांव पर भी, जिसका उपभोग ये रानी के साथ करते थे, इन दोनों भाइयों का स्वामित्व था, क्योंकि इन तीनों ने उस गांव के अरघट (यन्त्रकूप) से लाभ उठाने वालों से प्राप्त अपने हिस्से का जो संयुक्त रूप से दान कर दिया था।[6]

राजमहिषियों और राजपुत्रों को दिये गये अनुदान न तो धर्म के नाम पर दिये गये थे और न इन सभी का सम्बन्ध राजसेवा से था। स्पष्टत: रानियां प्रशासन में भाग नहीं लेती थीं (सिवाय उन रानियों के जो किसी राजा के अल्पव्यस्क होने पर उसकी संरक्षिका की हैसियत से राजकाज देखती थीं), मगर 'राजपुत्रों' के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। रामशरण शर्मा[7] के अनुसार प्रारम्भ में 'राजपुत्र' प्रतिष्ठा पाने वाले को किसी न किसी प्रकार की भूमि अनुदानित की जाती थी। सम्भवत: यह अनुदान ऐसे सामन्तों को दिया जाता था जिनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे राज्य

1. इ. आई., 11, पृ. 32–33
2. वही, 9. पृ. 66--67
3. वही।
4. वही, 2, पृ. 119
5. इ. आई. 11, पृ. 50–51
6. वही।
7. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 182

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की कुछ सेवा करेंगे। उदाहरण के लिए, महाराज कीर्तिपाल के पुत्र महाराज समरसिंह के शासनकाल में उसका मामा राजपुत्र जौजल 'राज्यचिन्तक' पद पर काम करता था।[1] दशरथ शर्मा के अनुसार शासन का काम नाडोल परिवार चलाता था।[2] इतना निश्चित है कि सामन्तों से जो मुख्यतः राजा के सम्बन्धी-कुटुम्बी हुआ करते थे, आशा की जाती थी कि वे समय पड़ने पर राजा की सहायता करेंगे। इसके प्रति दान स्वरूप राजा उन्हें जागीरें दिया करते थे। यह सहायता किस प्रकार की होती थी, कहना कठिन है। परवर्तीकाल में जागीरदार युद्धकाल में अपने स्वामी की सहायता करते थे। यह सहायता किस प्रकार की होती थी, कहना कठिन है। परवर्तीकाल में जागीरदार युद्धकाल में अपने स्वामी की सहायता करते थे और जब कोई जागीरदार मरता था तो उसका उत्तराधिकारी उस जागीर पर अधिकार प्राप्त करने के पूर्व स्वामी को नजराना देता था।[3] ये दो कर्त्तव्य पूर्ण करने के उपरान्त वे अपनी-अपनी जागीरों में छोटे-मोटे राजाओं की तरह लगभग निर्बाधरूपेण शासन करते थे।[4] सम्भव है कि पूर्ववर्ती चाहमानों के शासनकाल में भी इसके सदृश स्थिति रही हो यद्यपि इस अनुमान के पक्ष में कोई सबल प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

परन्तु चाहमान काल में प्रशासन भार सम्पूर्णतः शासक परिवार के ही हाथों में ही नहीं था। यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि राज्य में कुछ ऐसे भी उच्च पदाधिकारी भी होते थे जिनका राजपरिवार से कोई सम्बन्ध नहीं था। 973 में महाराजाधिराज सिंहराज के दुस्साध्य घंघुक ने अपने स्वामी की अनुमति से खट्टकूप विषय स्थित अपना एक गांव शिव मन्दिर को दान दिया था।[5] धंघुक इस मन्दिर को दान देने वाले सात दाताओं में से एक था। शेष छः दाताओं में एक स्वयं राजा था और पांच राजपरिवार के सदस्य। यही कारण है कि घंघुक के अतिरिक्त जो छः अन्य दाता थे, उनको यह अनुदान देने के लिए किसी को अनुमति नहीं लेनी पड़ी थी।[6] स्पष्ट है कि घंघुक को और भी गांव मिले हुए होंगे। लेकिन वह धार्मिक अनुदान भी दाता की अनुमति बिना नहीं दे सकता था, इसलिए

---

1. इ.आई., 11, पृ. 53
2. अ.चौ.डा., पृ. 228-229
3. बेडेन पावेल, द इण्डियन विलेज काम्युनिटीज़, पृ. 196-202
4. वही।
5. इ.आई., 2, पृ. 119
6. वही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उन पर उसे सीमित अधिकार ही प्राप्त थे। मारवाड़ से प्राप्त 1110 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि अश्वराज के शासनकाल में अश्वशाला-ध्यक्ष उप्पलराज ने चार ग्रामों से अरघट-कर के रूप में प्राप्त होने वाला अपने हिस्से का जौ एक मन्दिर को दान दे दिया था।[1] स्पष्टतः वे गांव, जिनसे प्राप्त होने वाले कर का कुछ हिस्सा यह अधिकारी अपनी इच्छानुसार दान दे सकता था, राजा ने उसे सम्पूर्ण अधिकारों सहित प्रदान किये थे। रामशरण शर्मा के अनुसार चाहमान शासन के अन्तिम दिनों में मन्त्रियों को बड़ी-बड़ी जागीरें दी जाती थी।[2] तृतीय पृथ्वीराज का प्रमुख परामर्श-दाता कदम्बवास 'मण्डलेश्वर' उपाधि प्राप्त था। इससे प्रकट है कि या तो वेतन स्वरूप अथवा उसकी प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर उसे एक सम्पूर्ण मण्डल दे दिया गया था।[3] इन तीन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जो पदा-धिकारी राजकुल से असम्बद्ध थे, बहुधा उन्हें भी भूमि के अनुदान दे दिये जाते थे।

परमार अभिलेखों में शासक-कुल के सदस्यों को भूमि अनुदान दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। भौज के समय के वि. सं. 1067 के एक दानपत्र[4] में वत्सराज को, जो सम्भवतः किसी राजपरिवार में उत्पन्न हुआ था, अवश्य ही 'भोक्तारमहाराजपुत्र' कहा गया है, जो स्पष्टतः 'भोक्तृ-महाराजपुत्र' का अशुद्ध रूप है।[5] उसे मोहदवासक नाम की एक जागीर मिली हुई थी[6] जो तब से लगभग साठ वर्ष पूर्व तक सीयक का 'स्वभोग' था।[7]

परन्तु चाहमान अभिलेखों की अपेक्षा परमार अभिलेखों में गांवों की इकाइयों का उल्लेख अधिक हुआ है। कम से कम सात इकाइयों का उल्लेख तो मिलता है।[8] इनमें से पांच, बारह या बारह के बहुगुण संख्यक गांवों वाली इकाइयां थी। सबसे बड़ी इकाई में 84 गांव थे। दो इकाइयां सोलह अथवा सोलह के बहुगुण संख्यक गांव वाली थी।[9] रामशरण शर्मा के अनु-मतानुसार ये इकाइयां शासक कुल के अलग-अलग सदस्यों के अधीन स्वतंत्र

---

1. वही, 11, पृ. 28-29
2. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 183
3. अ.चौ.डा., पृ. 224, पाद टिप्पणी, 35
4. इ.आई., 33, पृ. 192
5. वही, पृ. 193
6. वही।
7. वही, 19, पृ. 242
8. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 184
9. गांगूली, डी. सी., हिस्टरी ऑफ दि परमार डायनेस्टीज़, पृ. 236-38

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राज्यों के समान थी। यह पद्धति विजित प्रदेशों को शासक परिवार के सदस्यों में बांट देने की परिपाटी का परिणाम थी।[1] एक परमार अभिलेख में जो 11 वीं शती के उत्तरार्द्ध का है 84 कर मुक्त गांवों का उल्लेख[2] होने से यह अनुमान सरलता से होता है। परवर्ती युगीन राजपुताना में चौरासी गांवों की जो इकाइयां थी वे शासक परिवारों के सदस्यों की जागीरें ही रही होंगी।

परमार अधिकारियों के लगभग आधे दर्जन पदों का उल्लेख उपलब्ध है। परन्तु उनमें से कुछ को ही भूमि दिये जाने की चर्चा है। इनमें से एक दसवीं शती ईसवी का महासाधनिक श्री महाइक था जिसका काम सम्भवतः अपराधियों को दण्डित करना और अपराधों की रोक थाम करना था। 11 वीं शती का ऐसा कोई अभिलेख नहीं मिलता।

परमार अभिलेखों में कुछ अधीनस्थ सरदारों और सामन्तों का भी उल्लेख है। इनमें कुछ को प्रशासन के लिये बड़े-बड़े क्षेत्र दिये गये थे। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण शूरादित्य का एक सामन्त है। वह कन्नौज के श्रवणभद्र के परिवार का था और भोज या उसके पिता सिन्धुराज द्वारा संगमरवेट का मण्डलेश्वर नियुक्त किया गया था।[3] इस कृपा के प्रतिदान स्वरुप वह अपने स्वामी को सैनिक सहायता देता था।[4] हो सकता है कि वह यदा-कदा अथवा नियमित रूप से कुछ कर भी देता रहा हो, यद्यपि अभिलेखों में इसकी कोई चर्चा नहीं है।

गुजरात के चौलुक्य राज्य में त्रिलोचनपाल के 1051 के एक दानपत्र में नौ-नौ सौ और बयालीस बयालीस गांवों के समूहों का उल्लेख मिलता है।[5] यह उदाहरण भी विजेता कुल के सदस्यों द्वारा पैतृक सम्पति परस्पर विभाजित कर लेने की प्रथा का स्मरण दिलाता है। परन्तु जैसा कि रामशरण शर्मा ने ध्यान दिलाया है[6] एक बात में चालुक्य राजवंश अन्य समकालीन राजवंशों से भिन्न था। चालुक्य नरेशों ने अपने सामन्तों और उच्च पदाधिकारियों को अनुदानस्वरूप बहुत बड़े बड़े भूखण्ड प्रदान किये थे। परिणामतः उनके पदाधिकारियों की स्थिति अन्य

---

1. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 184
2. इ. आई., 19, पृ. 72, आर. डी. बनर्जी ने 'मान्यकपट्टे' शब्द का अर्थ 'करमुक्त' लगाया है। वही, पृ. 64
3. इ. आई., 19, पृ. 242
4. वही।
5. वही, 12, पृ. 196
6. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 187-88

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सामन्तों की तरह ही हो गयी। इस अनुमान का एक आधार न केवल उनके 12 वीं – 13 वीं शताब्दियों के दानपत्र हैं वरन् 'लेखपद्धति' नामक एक लेख-संकलन से भी इसकी पुष्टि होती है। 'लेख पद्धति' का संकलन 15 वीं शताब्दी में हुआ था। इसमें राजकीय प्रपत्रों के उदाहरण दिये गये हैं। इसमें उद्धृत जिन प्राचीनतम प्रपत्रों में महामात्यों और राणकों द्वारा अनुदान देने का उल्लेख मिलता है, उनका काल वि. सं. 802 बताया गया है। इन प्रपत्रों के अनुसार महामात्यों और राणकों ने अपने-अपने सामन्तों को बड़ी-बड़ी जागीरें दी और प्रतिदान स्वरूप उन सामन्तों ने अपने-अपने स्वामियों को एक निश्चित संख्या में घोड़े देने और अपनी-अपनी जागीरों में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने का दायित्व लिया।[1] 'लेख पद्धति' में ऐसे बहुत से अनुदान-पत्रों का काल वि. सं. 802 बताया गया है।[2] इससे निष्कर्ष निकलता है कि 8 वीं शती में गुजरात में इस सामन्तवादी प्रवृत्ति का पर्याप्त विकास हो चुका था। किन्तु इस निष्कर्ष की पुष्टि किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती। दूसरी ओर जिन शासन पत्रों को 'लेख पद्धति' में वि. सं 802 बताया गया है वे उससे 500 वर्ष बाद की शैली में लिखे गये प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ इनमें एक राजा के लिए 'गर्जनिकाधिराज- (महमूद गजनवी)[3] विजेता 'विशेषण का प्रयोग हुआ है। जिसका प्रयोग 8 वीं शती ई. में स्पष्टतः असम्भव था। इसके बाद इस विशेषण का प्रयोग 1206[4] और 1223 के अभिलेखों में हुआ है।[5] फिर भी, "लेख पद्धति" में संकलित प्राचीनतम प्रपत्र का काल 12 वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। इस प्रपत्र में दो ऐसे वाक्यांशों का प्रयोग है जो इस काल के चौलुक्य अभिलेखों में विशेष रूप से पाये जाते हैं। इनमें एक है तन्नियुक्त-महामात्य.... श्री श्री करणादिसमस्त मुद्राव्यापारान् परिपन्थयति सति[6] और दुसरा है 'नियुक्त दण्डनायक'।[7] इसलिए इस संकलन में जिन अनेक प्रपत्रों का समय वि. सं. 1288 बताया गया, वे इससे बहुत बाद के नहीं हो सकते।

---

1. लेख पद्धति, पृ. 7
2. वही, पृ. 2, 8, 10, 15
3. शर्मा, आर. एस. भारतीय सामन्तवाद, पृ. 189 पर उद्धृत
4. आई. ए. 6, पृ. 194। यह विशेषण द्वितीय मूलराज के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका राजत्वकाल 1175-8 है।
5. वही, पृ. 197
6. आई. ए. 18, पृ. 343
7. वही, पृ. 347

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इनमें से एक प्रपत्र से महासामन्त लवणप्रसाद के जीवन और कार्यों पर काफी प्रकाश मिलता है। उसका सामन्त के रूप में उल्लेख सबसे पहले अजयपाल के 1173 के एक अभिलेख में उपलब्ध है। उसे 'भैल्लस्वामी-महाद्वादशक मण्डल' में स्थित उदयपुर का दण्डनायक नियुक्त किया गया था जहां उसने 64 गांवों की एक इकाई में से शिव के नाम पर एक गांव दान दिया था।[1] लवणप्रसाद के अधिकार में चाहे जितना भी क्षेत्र रहा हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि वह राजा की अनुमति लिये बिना भी अपने क्षेत्र में भूमि दान दे सकता था। दूसरे शब्दों में उसकी प्रतिष्ठा सामन्त राजा जैसी थी। स्वामी के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए वह अपने राज्य में जो चाहे कर सकता था। 'लेख पद्धति' में संकलित 1231 के एक प्रपत्र से ज्ञात होता है कि भीम के शासन काल में वह महामण्डलाधिपति राणक था, और उसे अपने स्वामी से 'प्रसादपत्तला' (जागीर) के रूप में खेटकाधार का पथक मिला हुआ था।[2] इस जागीर के मिल जाने से उसकी शक्ति और प्रभाव में बहुत वृद्धि हुई क्योंकि जबकि 1173 के उपर्युक्त अभिलेख के अनुसार वह अजयपाल द्वारा नियुक्त एक दण्डनायक (तन्नियुक्त दण्डनायक) मात्र था,[3] अब उसने खेटकाधार में माधव नामक व्यक्ति को स्वयं अपना दण्डनायक नियुक्त किया (तन्नियुक्त दण्डनायक श्रीमाधव)[4]। अजयपाल के शासनकाल का एक अन्य शक्तिशाली सामन्त चाहमान महामण्डलेश्वर वैजल्लदेव था। वह 1175 में राज कृपा से नर्मदा तटवर्ती प्रदेश का शासक था। (अजयपाल देवेनप्रसादी कृत्य)।[5] उसने अपने मण्डल में अपने स्वामी की अनुमति लिए बिना एक गांव दान दिया था।[6] स्पष्टतः वैज्जलदेव को अपनी जागीर में उपसामन्त बनाने का अधिकार प्राप्त था। यह स्पष्ट नहीं है कि वैज्जलदेव ने जिस पथक में यह अनुदान दिया था वह उसे अजयपाल ने किसी पत्तला[7] द्वारा दिया था अथवा नहीं। गुजरात में पत्तला का प्राचीनतम अभिलेखीय उदाहरण 1209 में महामात्य प्रतिहार सोमराजदेव के नाम जारी किये गये उस दानपत्र में है जिसके अनुसार उसे भीमदेव से सम्भवतः समस्त सौराष्ट्र मण्डल जागीर के रूप में प्राप्त हुआ

---

1. वही, पृ. 347
2. लेख पद्धति, पृ. 5
3. आई. ए., 18, पृ. 347
4. लेखपद्धति, पृ. 5
5. आई. ए., 18 पृ. 84-85
6. वही।
7. लेखपद्धति के अनुसार 'पत्तला' शब्द का अर्थ है वह दानपत्र जिसमें राजा कतिपय निर्धारित सेवाओं के बदले किसी को जागीर दे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था[1]। तदुपरान्त 1260 में एक पत्तला का उल्लेख मिलता है। इसमें किसी महामण्डलेश्वर राणक को जागीर के रूप में शायद एक पथक दिया गया था।[2]

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि राजस्थान एवं उत्तरी भारत के उत्तर प्रदेश, मध्य भारत और गुजरात आदि अन्य प्रदेशों के प्रायः सभी राजवंशों के शासक अपने-अपने सामन्तों और पदाधिकारियों को उनकी सेवाओं के बदले में अनुदानस्वरूप गांव दिया करते थे। इसके अतिरिक्त 11वीं और 12 वीं सदियों में पदाधिकारियों को वेतन देने की एक विधि यह भी थीं कि नियमित करों का कुछ अंश अथवा कोई विशिष्ट कर उनके लिए अलग कर दिया जाता था। चाहमानों के काल में यह प्रथा बहुत सीमित थी। उन्होंने बलाधियों के लिए, जो एक प्रकार के सैनिक अधिकारी थे, गांवों से एक विशेष कर वसूल किया। 1162 के एक दानपत्र में कुमारपाल चौलुक्य के सामन्त आल्हण ने एक गांव का बलाधिपाभाव्य एक मन्दिर को अनुदान में दिया[3] और दूसरे का दूसरे मन्दिर को।[4] दशरथ शर्मा ने इस कर को उस मण्डपिका (चुंगीघर) से होने वाली राजकीय आय का एक भाग माना है जिससे बलाधिप सम्बन्धित था।[5] किन्तु इन दोनों उदाहरणों में यह शुल्क ग्रामवासियों पर ही लगाया गया है, इसलिए रामशरण शर्मा का विचार है कि यह किसानों से लिया जाने वाला गहड़वालों के अक्षपटलप्रस्थ और प्रतिहारप्रस्थ करो जैसा कोई कर था[6]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विचाराधीनकाल में उत्तरी भारत में सामन्त और स्वामी का सम्बन्ध अंशतः वैसा ही था जैसाकि सामन्तवादी व्यवस्था में फ्रांस तथा जर्मनी में मिलता है। इन दोनों देशों में सामन्त का मुख्य दायित्व अपने स्वामी की सैनिक सेवा करना था[7]। भारत के पुरालेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों से यह बात निर्विवादरूप से सिद्ध हो जाती है कि यहां भी

---

1. आई. ए., 18, पृ. 113
2. इ. आई-, 18, पृ. 210
3. अ.चौ.डा., पृ. 212
4. वही, पृ. 212-213
5. वही, पृ. 232, पाद टिप्पणी, 85
6. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 194
7. इंग्लैण्ड में उन्हें राज-काज में अपने स्वामी को परामर्श देना और न्याय प्रशासन में हाथ बंटाना पड़ता था। भारत में सामन्तों को कोई ऐसा कर्तव्य नहीं निभाना होता था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामन्त का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य अपने स्वामी की सैनिक सहायता करना ही था। बाण के 'हर्षचरित' एवं धनपाल द्वारा रचित 'तिलकमन्जरी' के उल्लेखों से स्पष्ट है कि सामन्त अपने स्वामी के सैनिक अभियानों में उसके साथ रहते थे।[1] मेरुतुंग की 'प्रबन्धचिंतामणि' से भी ऐसा ही लगता है।[2]

इस काल में अधिकारियों को वेतन स्वरूप भूमि अनुदान तो दिये जाते ही थे, साथ ही उन्हें बड़ी बड़ी उपाधियाँ भी दी जाती थी। इन उपाधियों का उनके कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता था।

सामन्ती श्रेणियों का विस्तृत वर्णन हमें 12 वीं शती की कृति 'मानसार' में मिलता है। इसके बयालीसवें अध्याय में राजाओं की नौ श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। इनमें सबसे ऊपर 'चक्रवर्ती'। उसके बाद क्रमशः महाराज, अथवा अधिराज, महेन्द्र या नरेन्द्र, पाणिक, पट्टधर, मण्डलेश, पट्टमाज, प्रहारक और अस्त्रग्राही अनुसूचित है।[3] उनकी महता के अनुसार यह भी निश्चित किया गया है कि वे क्रमशः कितने घोड़ें, सैनिक, सेविकाएं और रानियाँ रख सकते थे। बारहवीं शताब्दी[4] में भट्ट भुवनदेव ने भी अपनी कृति 'अपराजितपृच्छा' में नौ प्रकार के शासकों का महत्व क्रमानुसार वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं; महीपति, राजा, नराधिप, महामण्डलेश्वर, माण्डलिक, महा-सामन्त, सामन्त, लघुसामन्त और चतुराशिक।[5] इनमें से प्रत्येक के पास कितना क्षेत्र होना आवश्यक है, यह भी इस ग्रन्थ में बताया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में सामन्ती राजसभा के गठन का भी वर्णन है। इसके अनुसार सम्राट की (जिसका विरुद 'महाराजाधिराज परमेश्वर' बताया गया है) सभा में 4 मण्डलेश, 19 माण्डलिक, 16 महासामन्त, 32 सामन्त, 160 लघुसामन्त और 400 चतुराशिक होंने आवश्यक हैं।[6] चतुरशिक से नीचे के समस्त राजपुरुषों को 'राजपुत्र' कहा गया है।[7] इसमें कुछ राजपुरुषों की आय के बारे में भी चर्चा है। इसके अनुसार लघुसामन्त की आय 5 000 सामन्त की १0,000

---

1. तिलकमन्जरी, पृ. 71, 74. 93, 100
2. प्रबन्धचिंतामणि, पृ. 17, 32, 80
3. आचार्य, पी. के. मानसार सिरीज, 6, पृ. 125
4. मांकड़, पी.ए., जी. ओ.एस., पृ. 12
5. 81, 2-10
6. वही, 71, 33-34, 39
7. अग्रवाल, वा.श., हर्षचरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 178, पाद टिप्पणी, 3

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और महासामन्त की 20,000 होनी चाहिये। इसकी पुष्टि 14 वीं शताब्दी के वास्तुकला सम्बन्धी ग्रंथ 'राजवल्लभमण्डन' से भी होती है।[1] 'अपराजित-पृच्छा' में सामन्तों द्वारा प्रजा से वसूल किये जाने वाले राजस्व की दर के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, लेकिन इसमें राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता की दृष्टि से एक श्रेणीबद्ध समाज का चित्र अवश्य देखने को मिलता है।

1. अग्रवाल, हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 203 पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभिलेख सूची

क्रम सं.	वि.स.	ईसवी सन्	प्राप्ति स्थल	उल्लिखित राजा या सामन्त का नाम	संदर्भ
1	2	3	4	5	6
1	770	713	चित्तौड़गढ़	मानमोरी	टॉड, एनाल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज़, 1, पृ. 625
2	770	713	शंकरघट्टा	मानभंग	राजस्थानी भारती, 2,2, पृ. 30
3	795	738	कंस्वा, कोटा	धवल	आई. ए., 19, पृ. 57
4	811	754	चित्तौड़गढ़		आई. ए., 19, पृ. 373
5	840	783	तासी, अलवर		इ.आई., 36, पृ. 49
6	847		शेरगढ़ कोटा	सामन्त देवदत्त	जेड.डी.एम.जी., 38, पृ. 547, आई. ए., 14, पृ. 45
7	872	815	बुचकला, जोधपुर	नागभट	पी.आर.ए.एस, डब्ल्यू.सी., 1906-07, पृ. 38; इ. आई. 9, पृ. 199
8	879	822	सकराई, जोधपुर		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1909-10, पृ. 56
9	887	830	नासून, अजमेर	मण्डलेश्वर ईशानभट्ट	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1920-21, पृ. 2, पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1920-21 पृ. 56
10	894	837	जोधपुर	बाउक	जे.आर.ए एस, 1894, पृ. 4;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
					पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी., 1906-07, पृष्ठ 30, इ. आई., 18, पृ. 95
11	898	842	धौलपुर	चण्डमहासेन	जेड.डी.एम.जी, 40, पृ. 39
12	900	843	दौलतपूरा, जोधपुर	प्रथम भोज	इ.आई.,5, पृ. 211; जे.बी.बी.आर.ए.एस, 21, पृ. 410; जे. आर.ए.एस., 1904, पृ. 642; इ.आई., 8, पृ. 1
13	918	861	घटियाला जोधपुर	कक्कुक	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी., 1906-07, पृ. 34; इ.आई. 9, पृ. 280
14	918	861	घटियाला जोधपुर	कक्कुक	जे. आर. ए. एस., 1895, पृ. 516
15	918	861	घटियाला जोधपुर	कक्कुक	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी., 1906-07, पृ. 34, इ.आई., 9, पृ. 279
16	921	864	कामा		इ.आई., 36, पृ. 52
17	947	890	गांगाणी जोधपुर		जे.ले.सं., 2, पृ 164
18	947	890	घटियाला जोधपुर	राणुक	इ.आई., 19, पृ. 8-9
19	973	916	बीजापुर पाली	विदग्धराज	इ.आई., 10, पृ. 24
20	982	926	पुष्कर, अजमेर		पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी., 1909-10, पृ. 59; ई.आई. 35, पृ. 239

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
21	990	993	चान्दोली, अलवर		ए. आर. आर. एम., अजमेर 1919-20, पृ. 2
22	990	933	पुष्कर, अजमेर	दुर्गराज	पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी., 1909-10, पृ. 59
23	993	937	चिराई, जोधपुर		इण्डियन आर्कियोलोजी, 1959-60, पृ. 60
24	994	938	पुष्कर		इ.आई., 35, पृ. 243
25	996	939	बीजापुर, जोधपुर	मम्मट	इ.आई., 10, पृ. 24
26	999	942	प्रतापगढ़	भर्तृपट्ट	इ. आई., 14, पृ. 187
27	1000	943	आहाड, उदयपुर	द्वितीय भर्तृपट्ट	ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1913-14, पृ. 2
28	1003	946	प्रतापगढ़	द्वितीय महेन्द्रपाल	इ.आई., 14, पृ. 182, आई. ए., 45 पृ. 122
29	1010	953	आहाड, उदयपुर	अल्लट	बी. आई., पृ. 67 आई.ए., 58, पृ. 162
30	1011	954	आमेर, जयपुर		पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी. 1909-10, पृ. 47
31	1012	955	बयाना, भरतपुर	महीपाल	पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी. 1918-19, पृ. 43
32	1013	956	थावला	सिंहराज	इ. आई., 35, पृ. 224

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
33	1013	956	ओसियां, जोधपूर		ए. एस. आई, 1908-09, पृ. 108, जै. ले. सं., 1, पृ. 192
34	1016	960	राजौरगढ़ अलवर	मथनदेव	प्रा. ले. मा., 1, पृ. 53, इ.आई., 3, पृ. 266
35	1016	960	ऊनबास		वरदा, 7, 4, पृ. 9
36	1018	961	रूपनगर, किशनगढ़		पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 43
37	1024	967	नाडोल, जोधपुर		एनाल्स एण्ड एन्टिक्वीटिज़, 1, पृ. 209
38	1027	970	चितौडगढ़		
39	1028	971	एकलिंग, उदयपुर	नरवाहन	बी. आई., पृ. 70, जे. बी. बी. आर. ए. एस. 22, पृ. 166
40	1028	971	निमतौर झालावाड़	चामुण्डराज	ए. एस. आई. आर. 23, पृ. 125
41	1030	973	हरास, जयपुर	विग्रहराज	जे. ए. एस. बी., 4. पृ. 361, इ. आई., 2, पृ. 119, पी. आर. ए. एस. डब्ल्यू. सी. 1909-10, पृ. 53, आई. ए. 42,पृ. 60
42	1034	977	आटपुर, उदयपुर	शक्तिकुमार	एनाल्स एण्ड एन्टिक्वीटीज, 1, पृ. 706, जे.पी.ए.एस.बी., 8, पृ. 63, आई.ए. 39, पृ. 191

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
43	1051	995	बालेरा, जोधपुर	चौलुक्य मूलराज	इ.आई., 10, पृ. 78
44	1053	996	बीजापुर, पाली	बालप्रसाद	जै.ए.एस.बी., 62, पृ. 309, इ.आई., 10, पृ. 20
45	1053	996	राजौरगढ़, अलवर		ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1918-19, पृ. 2
46	1055	999	सकराई, जयपुर	वत्सराज	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू, सी., 1909-10, पृ. 57
47	1056	999	किणसरिया, जोधपुर	दुर्लभराज	आई.ए.,42, पृ.267, इ.आई , 12 पृ. 59
48	1059	1002	रोपी		एनुअल रिपोर्ट ऑफ सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी 1935,पृ. 6 इ.आई., 22, पृ. 196-98
49	1063	1006	घानोप, शाहपुरा	चच्च	आई.ए., 40, पृ. 175
50	1063	1006	बारलू, जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी. 1911-12, पृ. 53
51	1069	1013	भीनमाल, जोधपुर		मरु भारती, 1965, 2, पृ. 50 इ.आई., 36, पृ. 95
52	1070	1014	पोकरण		एनुअल रिपोर्ट ऑफ सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी, 1931, पृ. 8
53	1074	1017	शेरगढ़, कोटा		आई.ए. 40, पृ. 176
54	1075	1018	ओसियां, जोधपुर		ए.एस.आई., 1908-09, पृ. 108

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
55	1076	1019	रूपनगर, किशनगढ़		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 43
56	1076	1019	बांसवाड़ा	भोजदेव	आई.ए., 41, पृ. 201 इ.आई. पृ. 182
57	1076	1019	वरमान, सिरोही		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी. 1916-17,पृ.72
58	1082	1025	घटियाला, जोधपुर		इ.आई., 19, पृ. 19
59	1083	1026	उदयपुर		वरदा, 6, 1, पृ. 5
60	1084	1027	शेरगढ़, कोटा		आई.ए. 40, पृ. 176
61	1090	1033	घटियाला, जोधपुर	चाहिल	इ.आई.19, पृ, 20
62	1099	1042	वसन्तगढ़, सिरोही	पूर्णपाल	जे.ए.एस.बी., 10, पृ. 671 इ.आई.,9, पृ, 12, आई.ए. 40. पृ. 239
63	1099	1042	वरमान, सिरोही	पूर्णपाल	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी, 1916-17, पृ. 72
64	1100	1044	बयाना, भरतपुर	विजया-धिराज	आई.ए., 14, पृ. 10
65	1101	1044	राजौरगढ़, अलवर		ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1918-19, पृ. 2
66	1102	1045	भण्डुण्ड, सिरोही	पूर्णपाल	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी, 1907-08, पृ. 50 जे.बी. बी.आर.ए.एस, 23, पृ. 78

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
67	1107		राजपुर, अलवर		ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1918-19, पृ. 2
68	1111		वागोडिया, जोधपुर		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी., 1911-12, पृ. 52
69	1116	1059	पाणहेरा, वांसवाड़ा	जयसिंहदेव	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1916-17, पृ. 2, इ.आई. 21, पृ. 41
70	1117	1060	भीनमाल, जोधपुर	कृष्णराज	बी.जी., 1, पृ. 472, पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी., 1907-8, पृ. 37
71	1119	1062	आबू	प्रथम भीमदेव	इ. आई., 9, पृ. 148
72	1123	1067	भीनमाल, जोधपुर	कृष्णराज	बी.जी., 1, पृ. 473
73	1130		नाँदिया, सिरोही		ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1923-24, पृ. 3
74	1132	1075	आउवा, जोधपुर	खिद्रपाल	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1908-09, पृ. 50
75	1135	1079	सिरोही		ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1921-22, पृ. 1
76	1136	1080	अथूर्णा, बांसवाड़ा	चामुण्डराज	आई.ए., 22, पृ. 80, इ.आई., 14 पृ. 297
77	1137	1081	अजमेर		ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1920-21, पृ. 2

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
78	1140	1083	कदमाल		इ.आई., 31, पृ. 237-248
79	1143	1087	कोरटा, जोधपुर		पी. आर. ए. एस. डब्ल्यु.सी, 1908 09, पृ. 52
80	1143	1087	झालरा पाटन, झालावाड़	उदयादित्य	वी.आर.ए.एस. डब्ल्यू,सी.,1905 06, पृ. 56, जे. पी.ए.एस.बी. 10 पृ. 241
81	1147	1091	सादड़ी, जोधपुर		ई.आई.9, पृ, 158, इ.आई. 11 पृ. 27
82	1147	1091	नाडोल, जोधपुर	जोज्जलदेव	इ.आई.,9, पृ. 159, पी.आर.ए. एस.डब्ल्यू,सी., 1908-09, पृ. 45, इ.आई., 11, पृ. 28
83	1150	1093	रघुनाथ, जयपुर		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1909 10, पृ. 55
84	1151	1094	पाली		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1907 08. पृ. 45
85	1157	1100	अथूर्णा, बांसवाड़ा	चामुण्डराज	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी, 1908 09, पृ. 49,
86	1159	1102	अथूर्णा, बाँसवाड़ा	चामुण्डराज	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1914-15, पृ. 2

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
87	1162	1105	सांगारली, सिरोही	दुर्लभराज	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1910-11 पृ. 7
88	1162	1105	रेवासा, जयपुर	प्रथम पृथ्वीराज	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1909 10. पृ. 52
89	1164	1107	कदमाल, उदयपुर	विजयसिह	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1917-18 पृ. 2
90	1165	1108	अथूर्णा, बांसवाड़ा	विजयराज	ए.आर.आर.एम. अजमेर 1917-18. पृ. 2
91	1166	1109	अथूर्णा, बाँसवाड़ा	विजयराज	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी. 1908 - 09 पृ. 49
92	1167	1110	सेवाड़ी, जोधपुर	कटुकराज	पी. आर.ए.एस डब्ल्यू.सी., 1907 08, पृ. 53, इ. आई., 11, पृ. 28
93	1168	1111	आउवा, जोधपुर		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1908 09, पृ. 50
94	1170	1113	अजबगढ़, अलवर		ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1918-19, पृ. 2
95	1172	1115	सेवाड़ी, जोधपुर	कटुकराज	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1907 08, पृ. 53, इ.आई. 11, पृ. 30
96	1173	1116	पालड़ी, उदयपुर	विजयसिंह	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1915-16 पृ. 3

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
97	1174	1117	जालौर, जोधपुर	वीशल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू सी., 1908-09, पृ. 54
98	1175	1118	बडगामा, अलवर		ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1919-20, पृ. 2
99	1175	1118	जालौर, जोधपुर		पी.आर ए.एस. डब्ल्यू.सी. 1908 09, पृ. 56
100	1176	1119	केकिन्द, जोधपुर	महिपाल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 35
101	1176	1119	सेवाड़ी, जोधपुर	रतनपाल	इ.आई., 11, पृ. 308
102	1178	1121	केकिंद, जोधपुर	पीप्लराज	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 35
103	1181	1124	पटनारायण, सिरोही		पी.आर.ए.एस.डण्ल्यु. सी , 1906-07, पृ. 27
104	1186	1129	भीनमाल, जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1907-08 पृ. 38
105	1187	1130	नाडलाई, जोधपुर		जै.ले.स. 1, पृ. 212
106	1189	1132	नाडलाई. जोधपुर	रायपालदे	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1908-09, पृ. 43, इ.आई., 11, पृ. 35. जै.ले.सं. 1, पृ. 213
107	1189	1132	बस्सी, नागौर	अजयपाल	इण्डियन आर्कियोलोजि, 1962-63, पृ. 54

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
108	1195	1138	नाडलाई, जोधपुर	रायपालदेव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1908-09, पृ. 43; इ.आई., 11 पृ. 36
109	1196	1139	रेवासा, जयपुर	अर्णोराज	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1909-10, पृ. 52
110	1198	1141	नाडोल, जोधपुर	रायपाल	इ.आई., 9, पृ.159, 11, पृ. 39
111	1199	1142	झालरा पाटन, झालावाड़	यशोवर्मनदेव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1905-06, पृ. 56
112	1200	1143	नाडलाई, जोधपुर	रायपाल	जै.ले.सं., 1, पृ. 213
113	1200	1143	कैकिन्द, जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 35
114	1200	1143	नाडलाई, जोधपुर	रायपाल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1908-09, पृ. 43; इ.आई., 11, पृ. 41
115	1200	1143	नाडोल, जोधपुर	रायपालदेव	इ.आई., 9, पृ. 159
116	1200	1143	नाडोल, जोधपुर	रायपाल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1908-09, पृ. 45
117	1200	1143	बाली, जोधपुर	जयसिंह	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1907-08, पृ. 54; इ.आई., 11, पृ. 33

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
118	1200	1143	चालूं		अ.चौ.डा., पृ. 106
119	1201	1144	दिलवाड़ा आबू		इ.आई., 9, पृ. 151
120	1201	1144	पाली		पी.आर.ए.एस,डब्ल्यू. सी., 1907-08, पृ. 45
121	1202	1145	अजहारी सिरोही	यशोधवल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 38; आई ए., 56, पृ. 12
122	1202	1145	नाडलाई, जोधपुर	रायपालदेव	ई.आई., 11, पृ. 43
123	1202	1145	केकिन्द, जोधपुर	सहणपाल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 35
124	1204	1147	अराई, किशनगढ़		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी, 1910-11, पृ. 45
125	1205	1148	किराडू, जोधपुर	कुमारपाल	जै.ले.सं., 1, पृ. 251
126	1207	1150	चित्तौड़	कुमारपाल	इ.आई., 2, पृ. 422; पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.,1903-04, पृ. 57
127	1207	1150	आबू	यशोधवल	इ.आई., 9, पृ.149
128	1208	1152	राजगढ़ अलवर	पृथ्वीपालदेव	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1918-19, पृ. 2
129	1209	1152	किराडू, जोधपुर	कुमारपाल	इ.आई., 11, पृ. 44

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
130	1209	1152	पाली, जोधपुर	कुमारपाल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.1907-08,पृ.45
131	1210	1153	अजमेर	विग्रहराज देव	आई.ए.,20, पृ.210
132	1210	1153	भण्डुण्ड, जोधपुर	कुमारपाल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू, सी., 1907-08, पृ. 52
133	1211	1154	लोहारी, उदयपुर	वीशलदेव	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1922-23, पृ. 2
134	1212	1155	थकरडा, डूंगरपुर	सूरपाल	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1915-16, पृ. 3; आई.ए., 56, पृ. 225
135	1213	1156	नाडोल, जोधपुर	कुमारपाल	आई.ए., 41, पृ.203
136	1213	1156	धाणेराव		इ.आई., 11, पृ. 70
137	1213	1156	पंचकुण्ड, जोधपुर		अन्वेषणा, 1,1, पृ. 45
138	1213	1156	सेवाड़ी, जोधपुर		प्रा.जै..ले.स.,2, पृ. 326
139	1215	1158	नाडोल, जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1908-09, पृ. 46
140	1215	1158	नरहड़		अ.चौ.डा., पृ. 203
141	1216	1159	नोसल, किशनगढ़	वासुदेवराज	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी., 1910-11 पृ. 26

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
142	1216	1160	मूंगथला सिरोही		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी 1906-07,पृ.26
143	1216	1159	वाली, जोधपुर	कुमारपाल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी, 1907-08, पृ. 55
144	1217	1160	जयपुर		ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1920-21, पृ. 2
145	1218	1161	नाडोल जोधपुर	कीर्तिपाल	इ. आई., 9, पृ. 68 आई.ए.,40, पृ 146
146	1218	1161	नाडोल, जोधपुर	अल्हणदेव	जे बी.बी.आर. ए.एस. 19, पृ. 30; इ. आई., 9, पृ.64
147	1218	1161	किराडू, जोधपुर	कुमारपाल	जै.ले.सं., 1, पृ. 251
148	1219	1162	झंवर, जोधपुर	गजसिंहदेव	जे.पी.ए.एस.बी., 12, पृ. 102
149	1220	1163	कायदरा	धारावर्ष	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी.1906-07,पृ.24; आई. ए., 56, पृ.51
150	1220	1163	बामनेरा, जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.1908-09, पृ.53; इ.आई., 13, पृ.208
151	1221	1164	वीशलपुर, जयपुर		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी.1920-21,पृ.26
152	1221	1164	जालौर जोधपुर	कुमारपाल	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी.1908-09,पृ.55
153	1221	1164	साण्डेराव जोधपुर	केल्हणदेव	पी आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी, 1908-09,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
					पृ. 51; इ.आई., 11, पृ. 47; जै. ले.स., 1, पृ. 299
154	1222	1165	पाल, जोधपुर		जे.पी.ए.एस.बी., 12, पृ. 104; जे.ए. एस.बी., 10, पृ. 104
155	1223	1166	अजहारी		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 39
156	1223	1166	बाणेरा	केल्हणदेव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी', 1908-09, पृ. 53; इ.आई. 13, पृ. 210
157	1223	1166	नाडोल जोधपुर	केल्हणदेव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1907-08, पृ. 45; ए.एस.आई. 1907-08, 2, पृ 228
158	1224	1167	पीपाड़, जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1911-12, पृ. 52
159	1224	1167	सादड़ी जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1907-08, पृ. 56
160	1224	1167	रामगढ़, कोटा		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी, 1905-06, पृ. 57

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
161	1224	1167	कोजरा, सिरोही		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1916-17, पृ. 62
162	1224	1167	केकिन्द, जोधपुर		पी.आर.ए,एस.डब्ल्यू. सी., 1910-11, पृ. 36
163	1225	1168	सांचोर, जोधपुर	भीमदेव	जै.ले.सं , 1, पृ.248
164	1225	1168	घौड़, उदयपुर	द्वितीय पृथ्वीदेव	ए.आर.आर.एम. अजमेर 1922-23, पृ. 2
165	1225	1168	मीनाल उदयपुर		पी.आर.ए.डब्ल्यू.सी, 1905-06, पृ. 59
166	1226	1169	पाल, जोधपुर		जे.पी ए.एस,बी.12, पृ. 106
167	1226	1169	बिजोलिया उदयपुर	सोमेश्वर	जे.ए.एस.बी., 50, पृ. 40; इ.आई., 26, पृ. 208
168	1226	1169	मीनालगढ़	द्वितीय पृथ्वीराज	जे.ए.एस.बी. 50, पृ. 46 वी.वि., 1, पृ. 389
169	1227	1170	झंवर जोधपुर	केल्हणदेव	जे.पी.ए.एस.बी.,12, पृ. 104
170	1228	1171	घौड़, उदयपुर	सोमेश्वरदेव	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1922-23, पृ. 2
171	1228	1171	नाडलाई जोधपुर	कुमारपाल	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1908-09, पृ. 44; इ.आई., 11, पृ. 48

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
172	1228	1171	जगत, उदयपुर	सामन्तसिंह	ए.आर आर.एम. अजमेर, 1914-15, पृ. 3; आई.ए., 53, पृ. 100
173	1228	1171	घौड़, उदयपुर	सोमेश्वर	ए.आर आर.एम, अजमेर, 1922-23, पृ. 2
174	1229	1172	आउवा, जोधपुर		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी. 1908-09, पृ. 50
175	1230	1173	रेवासा, जयपुर	सोमेश्वर	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1909-10, पृ. 52
176	1231	1174	रामगढ़, कोटा		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1905-06, पृ. 57
177	1231	1174	पंचदेवली, सिरोही	केल्हणदेव	पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1916-17, पृ 66
178	1232	1175	टोकरा, सिरोही		पी.आर.ए.एस. डब्ल्यू.सी., 1916-17, पृ. 68
179	1232	1175	पाल, जोधपुर		जे.पी.ए एस.बी.,12, पृ. 105
180	1233	1176	लालराई, जोधपुर	केल्हणदेव	इ.आई., 11, पृ.49
181	1233	1176	पीण्डवारा	धारावर्ष	एस.आर.के.आई. पृ. 26
182	1234	1177	ओसियां		ए.एस.आई,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
					1908-09,
			जोधपुर		पृ. 109
183	1234	1177	अनवलदा, उदयपुर	सोमेश्वर	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1922-23, पृ. 2, आई.ए., 55, पृ. 49
184	1234	1177	बाडले		अ.चौ.डा., पृ. 107
185	1235	1178	किराडू, जोधपुर	भीमदेव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1906-07, पृ. 42
186	1236	1179	औसियाँ, जोधपुर	केल्हणदेव	जै.ले.सं.,1, पृ.198
187	1236	1179	साण्डेराव, जोधपुर	केल्हणदेव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू सी.,1908-09,पृ.50; इ.आई., 11, पृ. 52
188	1236	1179	फलौदी, जोधपुर	पृथ्वीदेव	जे.पी.ए.एस.बी., 12 पृ. 93
189	1236	1179	लोहारी, उदयपुर	तृतीय पृथ्वीराज	आई.ए., 56, पृ.49
190	1236	1179	सोलज, डूंगरपुर	सामन्तसिंह देव	ए. आर. आर. एम. अजमेर 1914-15, पृ. 3
191	1237	1180	हाथल, सिरोही	धारावर्ष	आई.ए.,43, पृ.194
192	1237	1180	उस्त्रा, जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी 1911-12,पृ.53
193	1237	1180	नाणा, जोधपुर		पी.आर.ए एस.डब्ल्यू. सी.,1907-08,पृ.49
194	1239	1182	भीनमाल, जोधपुर	जयन्तसिंह देव	जे.बी.जी.,1, पृ.474; पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
					सी.,0907-08, पृ. 38
195	1239	1183	जालौर, जोधपुर	समरसिंह देव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.,1908-09, पृ. 55; इ.आई., 11, पृ. 53
196	1239	1183	मदनपुर		अ. चौ. डा., पृ.109
197	1240	1184	अजारी, सिरोही	धारावर्ष	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.,1910-11, पृ. 38
198	1241	1184	पाल, जोधपुर		जे.पी.ए.एस.बी., 10 पृ.407, प्रा.जै.ले.सं. सं. 429
199	1242	1185	पाल, जोधपुर		जे.पी.ए.एस.बी., 12, पृ. 105
200	1242	1185	सांचोर, जोधपुर	भीमदेव	एनुअल रिपोर्ट ऑफ सुमेर पब्लिक, लाई-ब्रेरी, 1936, पृ. 7
201	1242	1185	जालोर, जोधपुर	समरसिंह देव	इ. आई., 11,पृ. 55 जै.ले. सं., 1,पृ.239
202	1243	1186	रेवासा	तृतीय पृथ्वीराज	अ.चौ.डा.,पृ.107
203	1244	1187	थानगढ़ करौली		ए. एस. आई., 20, पृ. 90
204	1244	1187	बीशलपुर, जयपुर	तृतीय पृथ्वीराज देव	ए. एस.आई., 6, पृ. 156, पी.आर.ए. एस. डब्ल्यू. सी. 1920-21, पृ. 56
205	1244	1187	पाल, जोधपुर		जे पी.ए.एस.बी ,12, पृ.106
206	1244	1187	पाल, जोधपुर		जे.पी.ए.एस.बी.,10 पृ. 410

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
207	1245	1188	मूंगथला, सिरोही	धारावर्ष	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी. 1906-07,पृ.26
208	1245	1188	बाजट	तृतीय पृथ्वीराज	ए. आर. आर. एम. अजमेर, 1911·12, पृ. 2
209	1246	1189	जसोल, जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.,1911-12,पृ.54
210	1247	1190	अजारी, सिरोही	धारावर्ष	एस आर. के. आई., पृ. 28
211	1248	1191	पाल, जोधपुर		जे.पी.ए.एस.बी., 10 पृ. 410
212	1248	1191	उस्त्रा, जोधपुर		पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.1911-12,पृ.53
213	1249	1192	पालड़ी, सिरोही	केल्हणदैव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी., 1916-17, पृ. 64; जै.ले.सं.,1, पृ. 265
214	1249	1192	आगापुर, भरतपुर	सहणपाल देव	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1916-17, पृ. 3
225	1249	1192	बामणवारजी सिरोही	धारावर्ष	पी.आर.ए.एस डब्ल्यू. सी. 1916-17,पृ.63
216	1250	1193	पाल, जोधपुर	सोधलदेव	जे.पी.ए.एस.बी.,10, पृ. 409
217	1251	1194	सादड़ी, जोधपुर	जयन्तसिंह देव	पी.आर.ए.एस.डब्ल्यू. सी.1907-08,पृ.38, इ.आई., 11,पृ.73
218	1251	1194	सादड़ी जोधपुर	जयन्तसिंह	एनुअल रिपोर्ट ऑफ सुमेर पब्लिक लाइ-ब्रेरी, 1938, पृ. 7

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

1	2	3	4	5	6
219	1251	1194	टन्टोटी	हरिराज	ए.आर.आर.एम अजमेर, 1911-12, पृ.2
220	1252	1195	झाण्डोली सिरोही		प्रा. जै.ले.स., 2, सं. 430
221	1253	1196	दीवड़ा, डूंगरपुर	द्वितीय भीमदेव	ए.आर.आर.एम. अजमेर, 1914-15, पृ.2
222	1255	1198	झाण्डोली सिरोही	धारावर्ष	पी. आर.ए. एस. डब्ल्यू. सी., 1905-06, पृ. 48; प्रा. जै.ले.सं, पृ. 262
223	1256	1199	जालौर, जोधपुर		इ.आई., 11, पृ., 55; जै.ले सं., 1, पृ. 239
224	1257	1200	उथमा, सिरोहो	सावंतसिंह	पी. आर.ए. एस. डब्ल्यू. सी., 1916-17, पृ.66
225	1257	1200	नाणा, जोधपुर		पी. आर. ए. एस.डब्ल्यू. सी., 1907-08पृ. 49

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सदर्भ ग्रंथ-सूची

अभिलेख

कोनो, स्टैन : कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम, 2 कलकत्ता ।

वल्लभजी गिरजाशंकर : हिस्टोरिकल इन्स्क्रिप्शन्स् ऑफ गुजरात, 1-3, बम्बई ।

गोयल, श्रीराम : भारतीय अभिलेख संग्रह, 1, जयपुर, 1980.

नाहर, पूर्णचन्द्र : जैन लेख संग्रह, 1-3 कलकत्ता, 1918.

नोली, आर. : नेपालीज इन्स्क्रिप्शन्स् इन दि गुप्त : कैरेक्टर्स, रोम, 1956.

विजयमूर्ति : जैन शिलालेख संग्रह, 3

पाण्डूरंग दुर्गाप्रसाद काशीनाथ : प्राचीन लेख माला, 1. बम्बई 1982.

फ्लीट, एफ.जे : कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम, 3 वाराणसी, 1963.

मिराशी, वी.वी. : कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम, दो : भाग, वाराणसी, 1964.

मुनिजयन्तविजय : अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह सौराष्ट्र, 1948

सरकार, डी.सी. : सलेक्ट इन्क्रिप्शनन्स् बीयरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, 1965

साहित्य

अपभ्रंशकाव्यत्रयी : जी. ओ. एस., 1927

अर्थशास्त्र : ले. कौटिल्य [कांगले द्वारा सम्पादित और अनुदित] बम्बई, 1960.

उदयसुन्दरीकथा : जी. ओ. एस. बडौदा, 1920

उपमितिभवप्रपंचकथा : ले. सिद्धर्षि, सम्पा. एच. जेकोबी, कलकत्ता, 1899-1914.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कर्पूरमंजरी : ले.राजशेखर, अनु. लेनमान, केम्ब्रिज, 1901

कान्हडदेप्रबन्ध : ले. पद्मनाथ, सम्पा. के. बी. व्यास, जयपुर, 1953.

काव्यमीमांसा : ले. राजशेखर

कीर्तिकौमुदी : ले. सोमेश्वर, बम्बई, 1883.

कुमारपालचरित : ले. हेमचन्द्र, पूना 1936.

कुमारपालदेवचरित : ले. सोमतिलक, एस. जे. जी

कुवलयमालाकहा : ले. उद्योतनसूरि, एस. जे. जी., बम्बई

खरतरगच्छपट्टावली : ले. जिनपाल, सम्पा. मुनिजिनविजय, कलकत्ता, 1932.

तिलकमन्जरी : ले. धनपाल, काव्यमान सिरीज, बम्बई, 1938.

द्वयाश्रयमहाकाव्य : ले. हेमचन्द्र, बम्बई, 1915.

द्रव्यपरीक्षा : ठक्कर फैरू

नवसाहसांकचरित : ले.पद्मगुप्त, बी. एस. एस., 1895

पृथ्वीराजविजय : ले. जयानकभट्ट सम्पा. जी. एच. ओझा और जी एस. गुलेरी, अजमेर, 1941

प्रबन्धकोष : ले. राजशेखर, एस.जे.जी 1935

प्रबन्धचिन्तामिणि : ले.मेरूतुंग, एस.जे.जी. 1933

प्रशस्तिसंग्रह : अमृतलाल शाह, अहमदाबाद, वि.सं. 1993

पुरातनप्रबन्धसंग्रह : एस.जे.जी., 1936.

मनुस्मृति : एन.एस.पी. 1935.

मानसोल्लास : ले.सोमेश्वर, जी. के. गोडेकर, जी. ओ. : एस.,बडोदा, 1925, 1939

रघुवंश : कालिदास ग्रन्थावली, सम्पा.सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ़, 1962.

राजतरंगिणी : ले.कल्हण, सम्पा. रामतेज शास्त्री, वाराणसी, 1960

लेखपद्धति : जी. ओ. एस., 1925

विक्रमांकदेवचरित : ले. विल्हण, वी. एस.एस,, 1835

विविधतीर्थकल्प : ले. जिनपालसूरि, एस. जे. जी., 1934

समराइच्चकहा : ले. हरिभद्र, बम्बई, 1938

सुरथोत्सव : ले. सोमेश्वर. बम्बई, 1902

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्मृतिचन्द्रिका : ले. देवभट्ट, सम्पा. जे. आर, घरपूरे, बम्बई, 1918

शिशुपालवध : ले. माघ, एन. एस. पी. 1923

हर्षचरित : ले. बाण, सम्पा, पी. वी.काणे,दिल्ली 1965

आधुनिक ग्रन्थ (अंग्रेजी)

अल्तेकर, ए. एस. : पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, बनारस, 1938

: एज्यूकेशन इन इन्श्येण्ट इण्डिया, बनारस. 1948

: स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्श्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1955.

अरोड़ा, राजकुमार : हिस्टोरिकल एण्ड कल्चरल डेटा फ्राम दि भविष्य पुराण, दिल्ली, 1972

आयंगर, के. वी. आर. : आस्पेक्ट्स् ऑफ इन्श्येण्ट इण्डियन इकानामिक थाट, बनारस, 1934.

इलियट एण्ड डाउसन : दि हिस्टरी ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स. 1-3, लन्दन, 1966-67.

गांगूली, डी. सी. : हिस्टरी ऑफ द परमारज, ढाका, 1933.

गोपाल, लल्लनजी : दि इकोनामिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, दिल्ली, 1965

गोयल, एस. आर. : ए हिस्टरी ऑफ दि इम्पीरियल गुप्तज, इलाहाबाद. 1966.

गुप्त, एस. पी. एवं रामचन्द्रन के. एस. (सम्पा.) : ओरिजिन ऑफ ब्राह्मी, दिल्ली, 1980

घोषाल, यू. एन. : कण्ट्रिब्यूशन टू दि हिस्टरी ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, कलकत्ता, 1929

चौधरी, जी. सी. : ए पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ नार्थ इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, अमृतसर, 1954

जायसवाल, का. प्र. : हिन्दू पोलिटी, बंगलोर, 1943.

जैन, के. सी. : जैनिज्म इन राजस्थान, शोलापुर, 1963.

एन्श्येण्ट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, दिल्ली, 1972

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टॉड, जेम्स : एनाल्स एण्ड एन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान, 1920

दास, एस. के. : इकानामिक हिस्टरी ऑफ एन्श्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1925.

देवहूति : हर्ष, आक्सफोर्ड, 1970

नियोगी, आर : दि हिस्टरी ऑफ गहड़वाल डायनेस्टी, कलकत्ता, 1950.

प्रकाश, बुद्ध : आस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन हिस्टरी एण्ड सिविलिजेशन, आगरा, 1965.

पाठक, वी. एस. : एन्श्येण्ट हिस्टोरियन्स ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1966.

हिस्टरी ऑफ शैव कल्टस इन नार्दर्न इंडिया, वाराणसी, 1960.

प्राणनाथ : ए स्टडी इन दि इकानामिक कण्डीशन ऑफ इन्श्येण्ट इण्डिया, लन्दन, 1924.

पुरी. बी. एन. : दि हिस्टरी ऑफ गुर्जर प्रतिहारज़, बम्बई, 1957.

बैनर्जी, ए. सी. : राजपूत स्टडीज, कलकत्ता, 1944.

भाटिया, प्रतिपाल· : दि परमारज, दिल्ली, 1970.

मजूमदार, आर. सी. : कोरपोरेट लाइफ इन एन्श्येक्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1922.

: हिस्टरी ऑफ बंगाल 1, ढाका, 1943

मजूमदार, ए. के. : चौलुक्याज ऑफ गुजरात, बम्बई, 1956

मजूमदार, बी. पी. : सोशियो-इकानोमिक हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया-कलकत्ता, 1960

मजूमदार, आर. सी. एण्ड पुसालकर, ए. डी. : दि क्लासिकल एज, बम्बई, 1954

: दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, 1955

: दि स्ट्रगल फार एम्पायर, बम्बई, 1955

मिश्र, वी. बी. : दि गुर्जर प्रतिहारज एण्ड देयर टाइमन, दिल्ली, 1966

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मुकर्जी, आर. के. : एन्श्येण्ट इण्डियन एज्यूकेशन, लन्दन, 1947

मुन्शी, के. एम. : दि ग्लोरी देट वाज गुर्जर देश, बम्बई, 1954

मैती, एस. के. : इकानामिक लाइफ ऑफ नार्दर्न इण्डिया इन दि गुप्त पीरियड, दिल्ली, 1970

यादव, बी. एन. एस. : सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद, 1973

राय, एच. सी. : डायनेस्टिक हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया, 1-2 कलकत्ता, 1921, 1936

रायचौधुरी, एच. सी, : पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ इन्श्येण्ट इण्डिया, 5 वां संस्करण, कलकत्ता, 1953

वैद्य, सी. पी. : हिस्टरी ऑफ मेडीवल हिन्दू इण्डिया, 1-2, पूना

शर्मा, बी. एन. : सोशल एण्ड कल्चरल हिस्टरी ऑफ नार्दर्न इण्डिया, दिल्ली 1972

शर्मा, दशरथ : अर्ली चौहान डायनेस्ट्रीज, दिल्ली द्वितीय संस्करण, 1975

: राजस्थान थ्रू दि एजिज,बीकानेर, 1966

: लेक्चर्स आन राजपूत हिस्टरी एण्ड कल्चर, दिल्ली, 1970

शारदा, एच. बी. : स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, अजमेर, 1935

शुक्ल डी. सी. : अर्ली हिस्टरी ऑफ राजस्थान, दिल्ली, 1980

श्रीवास्तव, अशोक : इण्डिया एज डेस्क्राइब्ड बाई दि अरब ट्रेवेर्ल्स, गीरखपुर, 1967.

सरकार, डी. सी. : सक्सेसर्स ऑफ दि सातवाहनज, कलकत्ता, 1939

: स्टडीज इन ज्योग्राफी ऑफ इन्श्येण्ट इण्डिया एण्ड मेडीवल इण्डिया, दिल्ली, 1960-61

: गुहिलज ऑफ किष्किन्धा, कलकत्ता, 1965

: दि शाक्त वीटज, दिल्ली, 1973

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सरकार, गोपालचन्द्र : ए ट्रिग्टाइज ग्रान हिन्दू ला, कलकत्ता, 1927

साचउ, इ. सी. : ग्रल्बरूनीज इण्डिया, 1-2, लन्दन, 1888

सिन्हा, जी. पी. : पोस्ट गुप्त पालिटी, कलकत्ता, 1972

सिंह, आर. सी. पी. : किंगशिप इन नार्दर्न इण्डिया, यूनिवर्सिटी ग्रॉफ लन्दन, 1957

सिंह, ग्रार.बी. : हिस्टरी ग्रॉफ दि चाहमानज, वाराणसी, 1964

स्मिथ, वी. ए. : ग्रर्ली हिस्टरी ग्रॉफ इण्डिया,ग्राक्सफोर्ड,1924

सुब्बाराव, एन. एस. : इकानामिक एण्ड पालिटिकल कण्डीशन इन इन्श्येण्ट इण्डिया, मैसूर, 1911

सोमानी, रामवल्लभ : पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, जयपुर, 1981

त्रिपाठी, आर.एस. : हिस्टरी ग्रॉफ कन्नौज, बनारस, 1937.

आधुनिक ग्रन्थ (हिन्दी) :

अग्रवाल, वा. श. : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वाराणसी।

हर्षचरित: एक साँस्कृतिक ग्रध्ययन, पटना, 1953

: कादम्बरी: एक सांस्कृतिक ग्रध्ययन।

ग्रोझा, गौ. ही : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, इलाहबाद, 1928

: उदयपुर राज्य का इतिहास, ग्रजमेर,1928

: जोधपुर राज्य का इतिहास, ग्रजमेर, 1938

: सिरोही राज्य का इतिहास, ग्रजमेर, 1911

: डूंगरपुर राज्य का इतिहास।

काणे, पी. वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, 1-5, ग्रनु. ग्रर्जुन चौबे काश्यप, लखनऊ।

गोयल, एस. ग्रार. : प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1969

गोयल, एस. ग्रार. एवं गुप्त, एस. के. (सम्पा.) : मागध साम्राज्य का उदय, दिल्ली, 1980

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैन, प्रेमसुमन : कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार, 1975.

पाठक, वी. एन. : उतर भारत का राजनीतिक इतिहास, लखनऊ, 1973.

भण्डारकर, आर. जी. : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, हिन्द अनु. वाराणसी, 1970

मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना 1974

शर्मा गोपीनाथ : राजस्थान का इतिहास, आगरा, 1980

: राजस्थान के इतिहास के स्रोत पुरातत्व, 1, जयपुर, 1973

शर्मा, दशरथ : चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग. जयपुर, 1972

शर्मा, आर. एस. : भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, 1973

सोमानी, रामवल्लभ : वीर भूमि चितौड़, जयपुर, 1969 एतिहासिक शोध संग्रह, जोधपुर 1970.

आरक्योलाजिकल रिपोर्ट्स :

इण्डियन आरक्योलाजी–ए रिव्यु

एन्वल रिपोर्ट आन इण्डियन एपिग्राफी

एन्वल रिपोर्ट आरक्योलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न इण्डिया

एन्वल रिपोर्ट ऑफ दि आरक्योलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया

एन्वल रिपोर्ट ऑफ दि राजपूताना म्यूजियम

प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आरक्योलाजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न सर्कल

शोध पत्रिकाएं :

इण्डियन एण्टिक्वेरी, बम्बई

इण्डियन कल्चर, कलकत्ता

इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता

जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल, कलकत्ता

जर्नल ऑफ ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा

जर्नल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास

जर्नल ऑफ गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टिट्यूट, इलाहाबाद

जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जर्नल ऑफ बोम्बे ब्रांच ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई
जर्नल ऑफ बोम्बे यूनिवर्सटी, बम्बई
जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी, बनारस
एन्श्येण्ट इण्डिया, दिल्ली
एनाल्स ऑफ भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना
एपिग्राफिया इण्डिका
दि क्वारटली रिव्यू ऑफ हिस्टोरिकल स्टडीज, कलकत्ता
न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी, बम्बई
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, बनारस
भारती, उज्जैन
भारतीय विद्या, बम्बई
मरूभारती, पिलानी
प्रोसीडिग्ज ऑफ इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस
प्रोसीडिग्ज ऑफ राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस
राजस्थान भारती, बीकानेर
रिसर्चर, जयपुर
वरदा, बिसाऊ
विश्वम्भरा, बीकानेर
शोध पत्रिका, उदयपुर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुक्रमणिका

अजमेर पृ. 64, 66, 70, 145, 147, 180
अजयदेव ,, 166
अजयपाल ,, 128, 187
अजयराज ,, 21, 22, 67, 93, 142, 145
अजयसिंह ,, 109
अर्जुनवर्मा ,, 27, 44
अणहिल्लदेव ,, 34
अर्णोराज ,, 16, 19, 21, 77, 93, 123, 128, 145, 152
अथूर्णा ,, 19
अनंगपाल ,, 68, 152
अनन्त वर्मा ,, 173
अपराजित ,, 45, 79
अभयपाल ,, 182
अम्बाप्रसाद ,, 18, 21
अमृतपालदेव ,, 11, 57, 103, 106, 107
अल्ल ,, 48
अल्लट ,, 76. 95, 112 165
अल्हण ,, 82, 182
अलाउद्दीन ख़लजी ,, 57
अवन्तिसुन्दरी ,, 122, 124
अश्वराज ,, 94, 184
अशोक ,, 18, 151
आनलदेवी ,, 125
आबानेरी ,, 90
आबू ,, 145, 147, 181
आल्हण (पारिग्रही) ,, 31
आल्हणदेव ,, 15, 22, 26, 38, 41, 67, 70, 94, 106
आहड़ ,, 78, 145, 147
आशाराज ,, 67

इन्द्रगढ़ ,, 73
इन्द्र तृतीय ,, 14

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन्द्रराज	पृ.	15, 87, 178
इशानभट्ट	,,	66
उदयसिंह	,,	67, 70, 116
उदयादित्य	,,	68, 69, 122, 123
उन्दभट्ट	,,	29, 178
उप्पलराज	,	184
उप्पेन्द्रराज	,,	122
ओसियाँ	,,	64, 67, 78, 79, 80, 83, 84, 88, 91, 101, 103, 115, 132, 147, 169
ऋषभदत्त	,,	132
कक्क	,,	47
कक्कुक	,,	15, 18
कटुकदेव	,,	116
कटुकराज	,,	16, 69
कदछी	,,	69
कदम्बवास	,,	26, 184
कनिष्क	,,	113
कर्णदेव	,,	33
कृष्णराज	,,	59, 95
कर्पुरदेवी	,,	23 124, 127, 128
कलावती	,,	123
कान्यकुब्ज	,,	176
कान्हड़देव	,,	12, 57
कामा	,,	79, 85
किराड़	,,	11, 64, 79, 83, 147, 181
किरातकूप	,,	115
कीर्तिपाल	,,	67, 82, 94, 182
कुमारपाल चौलुक्य	,,	11, 17, 18, 26, 34, 38, 46, 49, 68, 69, 96, 117, 123, 129, 133, 188
कुमारसिंह	,,	109

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

केल्हणदेव पृ. 20, 22, 23, 26, 34, 42, 94, 131, 142, 162, 182
कैलच्चदेवी ,, 67, 127
कोक्कट ,, 47, 178
कोटा ,, 78, 79
कोसलादेवी ,, 181
कौटिल्य ,, 18, 25 29, 41, 120, 140

क्षमापाल ,, 55
क्षेमराज ,, 106, 139

खण्डेला ,, 147
खारवेल ,, 151
खुम्माण ,, 21, 81
खेलादित्य ,, 27

गण्डराज ,, 181
गर्जसिंह ,, 22
गियक वैद्य ,, 30
गीगादेवी ,, 124
गुणराज ,, 48
गूवक I ,, 66
गूवक II ,, 123
गोडवाड ,, 109
गोविन्दराज ,, 181

घटियाला ,, 15
घोटार्सी ,, 132

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चण्डमहासेन पृ. 81
चण्डियन ,, 48
चन्दनराज ,, 23
चन्द्रगुप्त मौर्य ,, 151
चन्द्रावती ,, 109, 111, 153
चामुण्डराज ,, 17, 68, 72
चित्तौड़ ,, 74, 92, 97, 117, 145, 147

जगत ,, 86
जज्जक ,, 10
जयनराज ,, 181
जयसिंह सिद्धराज ,, 96
जयावली ,, 10, 125
जाल्हणदेवी ,, 23, 125, 168
जालौर ,, 23, 24, 67, 68, 109, 111, 116, 145, 147, 150
जूना ,, 153
जेता देवड़ा ,, 26
जैसलमेर ,, 96, 145, 147, 150
जोज्जलदेव ,, 17
जौजल ,, 183

झालरापाटन ,, 90
झालावाड़ ,, 73

डीडवाना ,, 78

तत्तक ,, 47
तात ,, 21
तेजपाल ,, 116
त्रिलोचनपाल ,, 185

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh

दहीक पृ. 55
दुर्गराज ,, 82, 139
दुर्लभराज(मंत्री) ,, 27
दुर्लभराज I ,, 14
दुर्लभराज II ,, 87
दुर्लभराज चौलुक्य ,, 124, 139, 142
दुर्लभादेवी ,, 124
देवदत्त ,, 99
देवपाल ,, 45, 107
देवराज ,, 68, 139
देवशक्ति ,, 63, 76

धंधुक ,, 183
धनिक ,, 68
धर्मघोषसूरि ,, 17
धवल ,, 21, 116
धारावर्ष ,, 16, 20, 21, 23, 68, 77, 109, 129
धालोप , 50, 58, 108, 156
ध्रुव ,, 33
ध्रुवसेन ,, 175

नगर ,, 84
नरभट्ट ,, 132
नरवर्मा ,, 98
नरवाहन ,, 15, 29, 155
नरहड़ ,, 147
नाग (बन्दी पुत्र) ,, 30
नागदा ,, 147
नागभट I ,, 10, 11, 12
नागभट II ,, 45, 52, 176
नाणा ,, 132
नाडोल ,, 67, 80, 109, 147, 180, 182, 183
नारापणा ,, 147

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नितोरा पृ. 81
नीमाज ,, 90

पत्तरा ,, 56
पदद्र ,, 69
पद्मसिंह ,, 66
प्रतापसिंह ,, 34, 37, 77
प्रभुदामा महादेवी ,, 112
प्रहलाद ,, 21
पृथ्वीपाल , 25
पृथ्वीराज (I) ,, 93, 132
पृथ्वीराज (II) ,, 12, 16, 54, 79, 93
पृथ्वीराज (III) ,, 12, 23, 24, 26, 27, 28, 33, 44, 52, 54, 66, 79, 87, 93, 108, 116, 129, 184
पालड़ी ,, 72
पाली ,, 11, 67, 83, 147
पिण्डवाडा ,, 81
पुष्कर ,, 65, 66, 77, 32
पूर्णपाल ,, 19, 106
पोकरण ,, 83

फिरिश्ता ,, 44

बघेरा ,, 70, 78, 83
बप्पारावल ,, 21, 66, 111
बप्पुक ,, 10
बयाना ,, 90
बर्माण ,, 81
बलप्रसाद ,, 21
बलभद्र , 34
बलवर्मा ,, 40, 41
बसद ,, 80
बाड़मेर ,, 22, 73

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बाड़ोली पृ. 64, 74
बालण ,, 26
बालादित्य ,, 14, 76, 79, 124
बाहड़देव ,, 26
बिजोलिया ,, 80, 133, 147
बिलण ,, 27
बिल्हण ,, 107
बीठू ,, 83
बुचकला ,, 10, 90
बुधगुप्त ,, 174
बेड़ा ,, 83
बेदला ,, 65

भड़ौच ,, 180
भट्ट ,, 14
भट्ट विष्णु ,, 177
भटार्क ,, 45
भर्तृपट (II) ,, 16, 42, 81
भद्रा ,, 124
भावल ,, 64
भिल्लादित्य ,, 21
भीनमाल ,, 147, 171, 181
भीमदेव (II) ,, 11, 106, 142, 187
भोज (प्रतिहार) ,, 12, 16
भोज (परमार) ,, 15, 19, 45, 68, 131, 152

मकराना ,, 150
मण्डोर ,, 22, 145, 147
मत्तट ,, 25, 29
मथनदेव ,, 13, 31, 33, 40, 66, 141, 177
मदनपुर ,, 67
मदन ब्रह्मदेव ,, 11
मयूर ,, 25, 29

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाराणा कुम्भा पृ. 112
महालक्ष्मी ,, 23
महिन्दक ,, 27
महेन्द्रपाल I ,, 53, 63
महेन्द्रपाल II ,, 13, 38, 46, 63, 64, 66, 178
महिपाल ,, 12, 14, 27, 56
महेश्वरसूरि ,, 24
माण्डलगढ़ ,, 147, 150
माण्डलिक ,, 68
मातृ विष्णु ,, 174
माधव ,, 46, 55, 64, 178
मान ,, 15, 19, 151
मालवा ,, 181
मिनाल ,, 72, 132, 147
मिहिरकुल ,, 113
मेलरदेवी ,, 23, 68
मूलराज ,, 61, 142
मोटक ,, 30

यशकर्ण चेदि ,, 112
यशोदेव ,, 47, 57, 116
यशोधवल ,, 22
यशोधर्मा ,, 173
यशोमती ,, 125, 126
यशोवर्धन ,, 125
यशोवर्मा ,, 27
यशोवीर ,, 26
योगेश्वर ,, 27
योगेश्वरी ,, 122

रंगमहल ,, 85
रणथम्भोर ,, 147, 180
रणपुर ,, 64

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रत्नपाल पृ. 101, 143
राजदेव ,, 41, 56
राजमति ,, 123
राज्यश्री ,, 126
राजसलक्षण ,, 27
राणक ,, 187, 188
रामदेव ,, 26
रामभद्र ,, 14, 45, 63, 176
रायपाल ,, 41, 57, 58, 94, 125, 149, 156, 167
रुद्रदामा ,, 112, 113, 118, 151
रुद्रपाल ,, 57
रुद्राणी ,, 23, 66, 122, 125
रुद्रभूति ,, 118
रुद्रादित्य
भिषगाधिराज ,, 30
रुदलदेवी ,, 67
रिवासा ,, 132
रैठ ,, 84
रोहरा ,, 81

लक्ष्मण ,, 29, 115, 121, 156
लक्ष्मीधर ,, 26
लखणपाल ,, 182
लच्चुका ,, 66
लवणप्रसाद ,, 187
लाहणी ,, 19, 82, 124, 128, 144, 152

वत्सराज ,, 19, 63, 65, 66, 177, 181, 184
वरसिंह ,, 45
बसन्तगढ़ ,, 85
वस्तुपाल ,, 116
वाक्पतिराज
चाहमान ,, 55, 56

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाक्पतिराज मुञ्ज पृ. 22
वामन ,, 27
वाहड़देव ,, 11
विग्रहराज (II) ,, 55, 87
विग्रहराज (IV) ,, 12, 16, 19, 26, 28, 67, 93, 110
विजयराज ,, 27, 120
विजयसिंह गुहिल ,, 113, 123
विजाक ,, 46
विधग्ध ,, 17, 34, 95
विनायकपाल ,, 12, 63
विमल ,, 46
विश्वरूप ,, 30
विसरा ,, 57
वीरपुर ,, 11
वीसल ,, 23
वीसलदेव ,, 152
वैजलदेव ,, 46, 187
वैन्यपुप्त ,, 173
वैरिसिंह ,, 144
वैलभट्टस्वामी ,, 48
व्यास सोमचन्द्र ,, 30

शक्तिकुमार ,, 16, 18, 20, 29, 82, 165
शाकम्भरी ,, 180
शान्तिवर्मा ,, 173
शिलूक ,, 66
शीलादित्य ,, 13; 56, 153
शीलाभट्टारिका ,, 122
शेरगढ ,, 147
शूरादित्य ,, 185
शुचिवर्मा ,, 15, 18, 21
श्यामलदेवी ,, 123

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रीतिहुणक पृ. 181
श्रीधर ,, 19, 26
श्रीपति ,, 25, 29
श्रीमहाइक ,, 185
श्रीमाल ,, 115
श्रीशर्मन ,, 47
श्रृंगार देवी ,, 23, 95, 124

सज्जन ,, 46, 69, 117
सन्तोष ,, 55
संम्पल्लदेवी ,, 126
समरसिंह ,, 95, 111, 144, 183
समुद्र ,, 29
समुद्रगुप्त ,, 12, 112
संयोगिता ,, 124
सलक्षणपाल ,, 26
सहजपाल ,, 77
सांचोर ,, 67, 147
सादड़ी ,, 79, 86
सामन्तसिंह ,, 57
साम्भर ,, 84, 145, 147
सावट ,, 66
सीकर ,, 70
सीता ,, 122
सीयक ,, 22
सिन्धुराज ,, 185
सिरोद ,, 80
सिंहबल ,, 28
सिंहराज ,, 66, 181
सुखादेवी ,, 165
सुरश्मिचन्द्र ,, 174
सुहवादेवी ,, 67, 125
सूर्यपालदेव ,, 107

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूरतगढ़ पृ. 85
सेवाड़ी ,, 80
सोढ़ ,, 27, 108
सोजत ,, 150
सोमनाथ (पाली) ,, 11
सोमराजदेव ,, 187
सोमलादेवी ,, 22, 124, 166
सोमेश्वर (चाहमान) ,, 23, 70, 87, 93
सोमेश्वर (परमार) ,, 43
सोलण ,, 46
सोमसिंह ,, 101
स्कन्द ,, 28, 108
स्कन्दगुप्त ,, 151, 174

हनादर ,, 81
हनुमानगढ़ ,, 85
हमीर ,, 30
हरिचन्द्र ,, 111, 124, 128, 135, 144
हरियादेवी ,, 23, 112, 124
हरिराज ,, 54
हर्षनाथ ,, 78, 83, 132, 147
हर्षराज ,, 14, 45
हस्तिकुण्डी ,, 17
हाथल ,, 81
हेलियोडोरस ,, 113

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh